भूमिका

तीन गुण, तीन दोष, तीन मूर्ति, तीन लोक आदिकी कल्पना भारतीय समाजने प्राचीनकालसे कर रखी है। वर्तमान इतिहासमें तीन दुनियाकी कल्पना की गयी है। दुनियाका जो भाग अमेरिका अथवा रूसके प्रभाव या 'गुट' में नहीं है, उसे थर्ड वर्ल्ड, तीसरी दुनिया, कहते हैं। इसी प्रकार तीसरी शक्ति, थर्ड फोर्स, की भी एक धुंधली कल्पना इन दिनों है, जो (विश्व) शान्ति की शक्ति मानी जाती है। परन्तु इस शक्तिकी रूपरेखा काफी अस्पष्ट है।

विनोबाजीने तीसरी शक्तिकी एक नयी कल्पना की है, जिसका सैद्धान्तिक प्रतिपादन तथा व्यावहारिक व्याख्या इस पुस्तकमें संकलित उनके भाषणोंमें पायी जायगी। वर्तमान सर्वोदय-विचार तथा आन्दोलनको समझनेके लिए इस पुस्तकका अध्ययन अनिवार्य होगा। पुस्तकमें जितने अध्याय हैं, उनमेंसे केवल एकका शीर्षक 'तीसरी शक्ति' है, परन्तु हर अध्यायमें जो कुछ है, वह इसी तीसरी शक्तिकी अनेकमुखी व्याख्या है तथा उसको पैदा और पुष्ट करनेकी रीतियोंका उसमें वर्णन है।

सर्वोदय अथवा गांधी-विनोबाकी यह 'तीसरी शक्ति' है क्या? मानव-समाजके परिवर्तन, पुनर्निर्माण तथा धारणके लिए इतिहासमें केवल दो शक्तियोंका जिक्र आता है: हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति। प्रेमकी शक्तिका भी जिक्र है, परन्तु

वह परिवारके सीमित दायरेके बाहर काम करती नहीं दीखती। ईसाने अवश्य उसके दायरेको पड़ोसीतक फैलानेकी कल्पना की और वैसा उपदेश किया। पड़ोसीका अर्थ व्यापक रूपमें लिया जा सकता है और पूरे सामाजिक जीवनसे उसका अभिप्राय माना जा सकता है। परन्तु प्रेमधर्मको सामाजिक जीवनमें उतारनेका ईसाके अनुयायियों द्वारा कोई प्रयत्न किया गया, ऐसा विदित तो नहीं है। हाँ, ईसाई-धर्मके प्रारम्भिक कालमें तद्धर्मावलम्बियोंने प्रेमाधारित बस्तियोंकी अवश्य स्थापना की थी। ये बस्तियाँ ईसाई-धर्मके आदर्शोंपर अपना जीवन-व्यवहार चलानेमें काफी सफल रहीं। बादमें जब ईसाई-धर्मका प्रसार हुआ और वह रोमन-साम्राज्यका राज्य-धर्म बन गया तो उसके प्रेम-तत्त्वका सामाजिक प्रभाव क्षीण होता गया। वर्तमान ईसाई-समाजके लिए यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि वह किसी मानेमें ईसाके प्रेम या अहिंसाके उपदेशोंपर कायम है।

जबतक ईसाई-धर्म राज्य-धर्म नहीं बना था, तबतक ईसाइयोंने रोमन-साम्राज्यके अत्याचारोंका ईसाके उपदेशोंके अनुसार पूर्ण अहिंसक रीतिसे बड़े साहस और वीरताके साथ सामना किया था। परन्तु राज्य-धर्म बननेके बाद सामाजिक जीवनके भिन्न-भिन्न पहलुओं (राजनीतिक, आर्थिक) आदिको अहिंसक रूप देनेका प्रयत्न लगभग समाप्त हो गया—जो कुछ बचा या आगे जाकर प्रकट हुआ, वह छोटे-छोटे समूहोंतक सीमित रहा—जैसे सोसाइटी ऑफ़ फ्रेण्ड्स (क्वेकर जमात) में।

पाश्चात्य समाजमें समय-समयपर आदर्शवादियोंने आदर्श बस्तियाँ कायम कीं, परन्तु न वे स्थायी ही रह सकीं, न सामान्य समाजपर उनका विशेष प्रभाव ही पड़ा।

भारतमें महावीर तथा बुद्धने अहिंसा तथा करुणाको धर्म-का आधार बनाया। परन्तु यह धर्म व्यक्ति अथवा भिक्षु-संघके

आन्तरिक जीवनतक सीमित रहा। सम्राट् अशोक जगत्‌के एकमात्र ऐसे शासक हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्मको स्वीकार करनेके बाद तथा कलिंग-विजयके रक्तपातसे संतप्त होकर आगे युद्ध न करनेका संकल्प किया। फिर भी अशोककालीन भारतीय समाज अहिंसा अथवा करुणामय बना, ऐसा तो नहीं लगता। प्रत्यक्ष हिंसा जहाँ नहीं है वहाँ अहिंसा है, ऐसा मानना बड़ी भूल है। शोषण, उत्पीड़न, विषमता तथा अन्य प्रकारके सामाजिक-आर्थिक अन्याय, जो राज्यकी दण्ड-शक्तिके बलपर चलते हैं, हिंसा ही तो हैं, यद्यपि सब प्रच्छन्न अथवा अप्रत्यक्ष हैं।

प्रेम-अहिंसा-करुणाकी आधार-शिलापर स्थापित इन तीनों धर्मोंके माननेवाले अपने-अपने समाजकी रचना इस आधार-शिलापर नहीं कर सके। उनकी यह प्रकट विफलता गूढ़ शोध-का एक विषय है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि महावीर, बुद्ध अथवा ईसाने समाजमें छिपी हुई, परन्तु निरंतर चलती हुई, हिंसाको पहचाना नहीं। उन सबने गरीबी-अमीरीके सम्बन्धमें, संग्रह, तृष्णा आदिके सम्बन्धमें जो गूढ़ उपदेश दिये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि समाजकी अप्रत्यक्ष हिंसाके प्रति वे पूर्ण जाग्रत थे।

समाजके अन्तस्से हिंसाको निकालनेके विषयमें इन धर्मोंकी जो विफलता हुई, उसके दो मुख्य कारण मुझे प्रतीत होते हैं। एक यह कि संयम, अपरिग्रह, त्याग, तृष्णा-क्षय, करुणा आदि गुण व्यक्तिके आध्यात्मिक उत्थान अथवा निर्वाणके साधन-मात्र मान लिये गये। इस लोकका परिवर्तन तथा परिष्कार इनके द्वारा करना है, ऐसा उन आदि महात्माओंका उद्देश्य होते हुए भी, इन धर्मोंकी संगठित संस्थाओंने नहीं माना; क्योंकि ऐसा करनेसे समाजके शासक तथा शोषक-वर्गकी अप्रसन्नता और सम्भाव्य विरोधका सामना करना पड़ता, जिससे धर्म

(संप्रदाय) का 'प्रसार' नहीं हो पाता। दूसरा कारण जो धर्म-प्रसारकी इसी मनोवृत्तिसे उत्पन्न हुआ, वह यह था कि ये तीनों धर्म राज्य-धर्म बने और राज्यकी संगठित हिंसा तथा दण्ड-शक्तिके पोषक बन गये। और तब तो यह असम्भव हो गया कि वे समाजमें अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सकें।

हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति (जो स्वयं भी प्रच्छन्न हिंसा-शक्ति ही है, यद्यपि लोकतंत्रमें उतनी हिंसा लोकसम्मत होती है) आज तक मानव-समाजको शासित करती रही हैं। उनके कारण जहाँ एक ओर मानव-समाज आणविक युद्धकी सम्भावना-के कगारपर खड़ा है, वहाँ दूसरी ओर—चाहे लोकतंत्र हो, एकतंत्र हो अथवा और कोई अन्य तंत्र हो—मानव एक अति-केन्द्रित, अति-यांत्रिक राजनीतिक-आर्थिक संगठनके नीचे दबकर अपना व्यक्तित्व तथा स्वायत्तता (औटोनोमी) खो चुका है। सबसे धनी देश अमेरिकामें भी १५ प्रतिशत गरीब हैं, अपार विषमता है, रंग (जाति)-भेद है, तरुण तथा बुद्धिजीवी वर्गोंमें विद्रोह है। उधर रूसमें ५२ वर्षोंके साम्यवादी शासनके बाद भी आज न मजदूरोंके हाथमें कारखाने हैं, न किसानोंके हाथमें खेत, न विद्यार्थियोंके हाथमें विश्वविद्यालय, न विचार-स्वातंत्र्य, न श्रमिकोंका अपना राज्य, जिसमें सत्ता (आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक) श्रमजीवियोंकी सोवियतों अथवा पंचायतोंके हाथोंमें हो। सत्ता आज भी साम्यवादी पक्षके हाथमें है, जिसमें लोकतांत्रिक आचार-व्यवहारका अब भी पूर्ण अभाव है। अमेरिकाके 'मनरो डॉक्ट्रिन' की भाँति रूसमें 'ब्रेशनियेफ डॉक्ट्रिन' का हालमें उद्घोष हुआ है, जिसके अनुसार सोवियत रूसने अपने इस जन्मजात अधिकारकी घोषणा की है कि वह यूरोपके अपने प्रभाव-क्षेत्रमें, यानी जहाँ-जहाँ साम्यवादी पक्षोंका राज्य है वहाँ, जैसा भी चाहे हस्तक्षेप—यहाँतक कि सामरिक हस्तक्षेप भी, जैसा चेकोस्लोवाकियामें उसने पिछले साल किया—

कर सकता है। चीनके माओने तो बन्दूककी नलीको सत्ताकी जननी बताकर वर्तमान मानव-सभ्यताके एक अत्यन्त कटु सत्यको नग्न रूप दे दिया है।

जो लोकतांत्रिक समाजवादी हैं, उनकी दौड़ तो राष्ट्रीय-करणतक ही है। परन्तु जहाँ-जहाँ समाजवादी शासनोंके तत्त्वा-वधानमें भी राष्ट्रीयकरण हुआ है, वहाँ-वहाँ विषमता, शोषण आदिका अन्त हो गया है, अथवा सत्ता श्रमजीवियोंके हाथोंमें आ गयी है; अथवा इतना भी हो गया है कि राष्ट्रीयकृत (नेशनलाइज्ड) आर्थिक क्षेत्रोंमें मजदूर प्रबन्धकोंके समकक्ष आ बैठे हैं और निर्णायिक (डिसीशन-मेकिंग) अधिकारोंमें उन्हें उचित भाग प्राप्त हो चुका है; अथवा उन क्षेत्रोंमें कोई नवीन भावना (स्पिरिट) पैदा हुई है, जो प्रबन्धक तथा श्रमजीवी दोनोंको प्रेरित कर रही है और उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके अपने-अपने कार्योंके प्रति उनके दृष्टिकोणको परि-वर्तित कर पायी है, ऐसा तो कुछ भी लक्षित नहीं होता। तकनीकी और औद्योगिक विकासके चलते मजदूरोंकी आर्थिक स्थितिमें उन्नति अवश्य हुई है; मजदूर यूनियनोंकी शक्तिमें बड़ी वृद्धि हुई है; मंगलकारी राज्यका उदय हुआ है। परन्तु इन सबको मिलाकर भी समाजवाद नहीं बनता। उसकी कसौटी तो वे ही परिवर्तन हैं, जिनकी ओर ऊपर इशारा किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषणसे निष्कर्ष यही निकलता है कि हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति दोनों ही मानव-समाजकी मूल समस्याओंको हल करनेमें विफल हुई हैं। किसी तीसरी शक्तिकी आवश्यकता स्पष्ट दीखती है। यह शक्ति तो वही है, जिसका महावीर, बुद्ध, ईसाने इतनी कुशलतासे प्रतिपादन किया था——यानी प्रेम-अहिंसा-करुणाकी शक्ति। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब यह शक्ति उनके समयमें, अथवा उनके मतावलम्बियोंके समाजमें, सामाजिक समस्याओंको हल न कर सकी——चाहे

(संप्रदाय) का 'प्रसार' नहीं हो पाता। दूसरा कारण जो धर्म-प्रसारकी इसी मनोवृत्तिसे उत्पन्न हुआ, वह यह था कि ये तीनों धर्म राज्य-धर्म बने और राज्यकी संगठित हिंसा तथा दण्ड-शक्तिके पोषक बन गये। और तब तो यह असम्भव हो गया कि वे समाजमें अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सकें।

हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति (जो स्वयं भी प्रच्छन्न हिंसा-शक्ति ही है, यद्यपि लोकतंत्रमें उतनी हिंसा लोकसम्मत होती है) आज तक मानव-समाजको शासित करती रही हैं। उनके कारण जहाँ एक ओर मानव-समाज आणविक युद्धकी सम्भावना-के कगारपर खड़ा है, वहाँ दूसरी ओर——चाहे लोकतंत्र हो, एकतंत्र हो अथवा और कोई अन्य तंत्र हो——मानव एक अति-केन्द्रित, अति-यांत्रिक राजनीतिक-आर्थिक संगठनके नीचे दबकर अपना व्यक्तित्व तथा स्वायत्तता (औटोनोमी) खो चुका है। सबसे धनी देश अमेरिकामें भी १५ प्रतिशत गरीब हैं, अपार विषमता है, रंग(जाति)-भेद है, तरुण तथा बुद्धिजीवी वर्गोंमें विद्रोह है। उधर रूसमें ५२ वर्षोंके साम्यवादी शासनके बाद भी आज न मजदूरोंके हाथमें कारखाने हैं, न किसानोंके हाथमें खेत, न विद्यार्थियोंके हाथमें विश्वविद्यालय, न विचार-स्वातंत्र्य, न श्रमिकोंका अपना राज्य, जिसमें सत्ता (आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक) श्रमजीवियोंकी सोवियतों अथवा पंचायतोंके हाथोंमें हो। सत्ता आज भी साम्यवादी पक्षके हाथमें है, जिसमें लोकतांत्रिक आचार-व्यवहारका अब भी पूर्ण अभाव है। अमेरिकाके 'मनरो डॉक्ट्रिन' की भाँति रूसमें 'ब्रेशनियेफ डॉक्ट्रिन' का हालमें उद्घोष हुआ है, जिसके अनुसार सोवियत रूसने अपने इस जन्मजात अधिकारकी घोषणा की है कि वह यूरोपके अपने प्रभाव-क्षेत्रमें, यानी जहाँ-जहाँ साम्यवादी पक्षोंका राज्य है वहाँ, जैसा भी चाहे हस्तक्षेप——यहाँतक कि सामरिक हस्तक्षेप भी, जैसा चेकोस्लोवाकियामें उसने पिछले साल किया——

कर सकता है । चीनके माओने तो बन्दूककी नलीको सत्ताकी जननी बताकर वर्तमान मानव-सभ्यताके एक अत्यन्त कटु सत्यको नग्न रूप दे दिया है ।

जो लोकतांत्रिक समाजवादी हैं, उनकी दौड़ तो राष्ट्रीयकरणतक ही है । परन्तु जहाँ-जहाँ समाजवादी शासनोंके तत्त्वावधानमें भी राष्ट्रीयकरण हुआ है, वहाँ-वहाँ विषमता, शोषण आदिका अन्त हो गया है, अथवा सत्ता श्रमजीवियोंके हाथोंमें आ गयी है; अथवा इतना भी हो गया है कि राष्ट्रीयकृत (नेशनलाइज्ड) आर्थिक क्षेत्रोंमें मजदूर प्रबन्धकोंके समकक्ष आ बैठे हैं और निर्णायिक (डिसीशन-मेकिंग) अधिकारोंमें उन्हें उचित भाग प्राप्त हो चुका है; अथवा उन क्षेत्रोंमें कोई नवीन भावना (स्पिरिट) पैदा हुई है, जो प्रबन्धक तथा श्रमजीवी दोनोंको प्रेरित कर रही है और उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके अपने-अपने कार्योंके प्रति उनके दृष्टिकोणको परिवर्तित कर पायी है, ऐसा तो कुछ भी लक्षित नहीं होता । तकनीकी और औद्योगिक विकासके चलते मजदूरोंकी आर्थिक स्थितिमें उन्नति अवश्य हुई है; मजदूर यूनियनोंकी शक्तिमें बड़ी वृद्धि हुई है; मंगलकारी राज्यका उदय हुआ है । परन्तु इन सबको मिलाकर भी समाजवाद नहीं बनता । उसकी कसौटी तो वे ही परिवर्तन हैं, जिनकी ओर ऊपर इशारा किया गया है ।

उपर्युक्त विश्लेषणसे निष्कर्ष यही निकलता है कि हिंसा-शक्ति तथा दण्ड-शक्ति दोनों ही मानव-समाजकी मूल समस्याओंको हल करनेमें विफल हुई हैं । किसी तीसरी शक्तिकी आवश्यकता स्पष्ट दीखती है । यह शक्ति तो वही है, जिसका महावीर, बुद्ध, ईसाने इतनी कुशलतासे प्रतिपादन किया था—यानी प्रेम-अहिंसा-करुणाकी शक्ति । परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब यह शक्ति उनके समयमें, अथवा उनके मतावलम्बियोंके समाजमें, सामाजिक समस्याओंको हल न कर सकी—चाहे

व्यक्तिके स्तरपर वह चाहे कितनी ही सफल हुई हों—तो इस युगमें उनकी सफलताकी क्या सम्भावना है ? यह एक सर्वथा समीचीन प्रश्न है। पूर्ण रूपसे इसका उत्तर तो आज किसीके पास नहीं है। फिर भी परिस्थिति, अनुभव तथा विचारसे इतना और ऐसा उत्तर आज प्राप्त है कि उपर्युक्त सम्भावना पहलेसे कहीं अधिक सबला हुई है, ऐसा मान सकते हैं।

एक तो यह परिस्थिति है कि पूर्व-कालकी अपेक्षा सर्व-साधारण इस समय अधिक चेतनाशील (कॉन्शस) हैं। उनकी इस चेतनाशीलताका एक लक्षण यह है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि हिंसा-शक्ति अथवा दण्ड-शक्तिसे जैसी भी समाज-रचना अबतक हुई है या जैसी भी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था उनके द्वारा कायम की गयी है, उससे उन्हें संतोष नहीं है। पाश्चात्य देशोंके तरुण विशेष रूपसे वर्तमान सामाजिक व्यवस्थासे असंतुष्ट दीखते हैं। साम्यवादी देशोंके तरुणोंमें भी यह असंतोष व्याप्त है, ऐसा लगता है। इसलिए वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितिकी यह माँग है कि इन दोनों शक्तियोंसे भिन्न किसी तीसरी शक्तिका आश्रय लिया जाय।

दूसरी बात, पुराने प्रयोगोंके अनुभवोंपरसे आजकी पीढ़ीके लिए यह सम्भव हो गया है कि पहलेकी गलतियोंको न दुहराया जाय। प्रेम आदिकी शक्तिने पूर्वकालमें यह एक बड़ी गलती यह की थी कि राज्यका आश्रय लेकर अपना प्रसार करना चाहा। परिणाम उल्टा हुआ। प्रेम-शक्तिपर दण्ड-शक्ति, अहिंसा-शक्तिपर हिंसा-शक्ति तथा करुणा-शक्तिपर कानून-शक्ति हावी हो गयी और विनायकका वानर बन गया। इस अनुभवका लाभ उठाकर हमें राज्य-सत्तासे अलग रहकर तीसरी शक्तिका विकास करना है। इसीलिए गांधीजीने कहा था कि अहिंसामें विश्वास करनेवालोंको राज्य-सत्तामें नहीं जाना चाहिए। और इसीलिए विनोबाजीने लोक-सेवकोंको राजनीतिक पक्षोंमें जानेकी

सलाह नहीं दी और राजनीतिके बदलेमें लोकनीतिकी कल्पना की।

पुराने अनुभवसे एक सबक और सीखा जा सकता है। जहाँ पुराने प्रयोगकर्ताओंने व्यक्तिगत जीवन तथा धर्म-संघों (रेलिजस ऑर्डर्स) तक प्रेम आदि शक्तिको सीमित रखा, वहाँ हमें संकलपपूर्वक समाजके सभी व्यवहारों तथा संस्थानोंमें उस शक्तिको प्रतिष्ठित करना है और तदनुसार प्रेमाधारित अहिंसक समाजका निर्माण करना है। इसके लिए समाजके अन्दर जो अप्रत्यक्ष हिंसा निहित है, उसे उन्मूलित करना प्रत्यक्ष हिंसाको रोकने या शांत करनेसे अधिक महत्त्व रखता है, यह सदा ध्यानमें रखना होगा।

तीसरी बात, जब पिछले अनुभवोंको ध्यानमें रखते हुए हम विचार करते हैं तो इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि यदि पिछली गलतियोंकी पुनरावृत्ति नहीं करनी है तो अपने सारे कार्योंका आधार विचार-शासनको बनाना है और कर्तृत्वशक्ति-का पूर्ण विभाजन करना है। लोगोंको विचार समझाना,

व्यक्तिके स्तरपर वह चाहे कितनी ही सफल हुई हों—तो इस युगमें उनकी सफलताकी क्या सम्भावना है ? यह एक सर्वथा समीचीन प्रश्न है। पूर्ण रूपसे इसका उत्तर तो आज किसीके पास नहीं है। फिर भी परिस्थिति, अनुभव तथा विचारसे इतना और ऐसा उत्तर आज प्राप्त है कि उपर्युक्त सम्भावना पहलेसे कहीं अधिक सबला हुई है, ऐसा मान सकते हैं।

एक तो यह परिस्थिति है कि पूर्व-कालकी अपेक्षा सर्व-साधारण इस समय अधिक चेतनाशील (कॉन्शस) हैं। उनकी इस चेतनाशीलताका एक लक्षण यह है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि हिंसा-शक्ति अथवा दण्ड-शक्तिसे जैसी भी समाज-रचना अबतक हुई है या जैसी भी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था उनके द्वारा कायम की गयी है, उससे उन्हें संतोष नहीं है। पाश्चात्य देशोंके तरुण विशेष रूपसे वर्तमान सामाजिक व्यवस्थासे असंतुष्ट दीखते हैं। साम्यवादी देशोंके तरुणोंमें भी यह असंतोष व्याप्त है, ऐसा लगता है। इसलिए वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितिकी यह माँग है कि इन दोनों शक्तियोंसे भिन्न किसी तीसरी शक्तिका आश्रय लिया जाय।

दूसरी बात, पुराने प्रयोगोंके अनुभवोंपरसे आजकी पीढ़ीके लिए यह सम्भव हो गया है कि पहलेकी गलतियोंको न दुहराया जाय। प्रेम आदिकी शक्तिने पूर्वकालमें यह एक बड़ी गलती यह की थी कि राज्यका आश्रय लेकर अपना प्रसार करना चाहा। परिणाम उल्टा हुआ। प्रेम-शक्तिपर दण्ड-शक्ति, अहिंसा-शक्तिपर हिंसा-शक्ति तथा करुणा-शक्तिपर कानून-शक्ति हावी हो गयी और विनायकका वानर बन गया। इस अनुभवका लाभ उठाकर हमें राज्य-सत्तासे अलग रहकर तीसरी शक्तिका विकास करना है। इसीलिए गांधीजीने कहा था कि अहिंसामें विश्वास करनेवालोंको राज्य-सत्तामें नहीं जाना चाहिए। और इसीलिए विनोबाजीने लोक-सेवकोंको राजनीतिक पक्षोंमें जानेकी

सलाह नहीं दी और राजनीतिके बदलेमें लोकनीतिकी कल्पना की।

पुराने अनुभवसे एक सबक और सीखा जा सकता है। जहाँ पुराने प्रयोगकर्ताओंने व्यक्तिगत जीवन तथा धर्म-संघों (रेलिजस ऑर्डर्स) तक प्रेम आदि शक्तिको सीमित रखा, वहाँ हमें संकल्पपूर्वक समाजके सभी व्यवहारों तथा संस्थानोंमें उस शक्तिको प्रतिष्ठित करना है और तदनुसार प्रेमाधारित अहिंसक समाजका निर्माण करना है। इसके लिए समाजके अन्दर जो अप्रत्यक्ष हिंसा निहित है, उसे उन्मूलित करना प्रत्यक्ष हिंसाको रोकने या शांत करनेसे अधिक महत्त्व रखता है, यह सदा ध्यानमें रखना होगा।

तीसरी बात, जब पिछले अनुभवोंको ध्यानमें रखते हुए हम विचार करते हैं तो इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि यदि पिछली गलतियोंकी पुनरावृत्ति नहीं करनी है तो अपने सारे कार्योंका आधार विचार-शासनको बनाना है और कर्तृत्वशक्तिका पूर्ण विभाजन करना है। लोगोंको विचार समझाना, समझाकर उनके पूर्वाग्रहोंको बदलना तथा उनकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक कर्तृत्वशक्तिको जाग्रत करना, यही हमारा सही मार्ग हो सकता है। और विचार करनेसे ऐसी प्रतीति बनती है कि इस पद्धतिसे सामाजिक क्रान्तिका प्रयास किया जाय तो जहाँ पहलेके प्रयोग विफल हुए, वहाँ नये प्रयोग सफल हो सकते हैं। वैसे आदर्श तथा व्यवहारमें जो अनिवार्य अन्तर रह जाता है उतना तो रहेगा ही, जैसे रेखाकी परिभाषा और पतली-से-पतली रेखामें।

चौथी बात, आधुनिक कालमें गांधीजीने इस तीसरी शक्तिका समाजके स्तरपर जो व्यापक प्रयोग दक्षिण अफ्रीका तथा भारतमें किया, उसने भी हमें महत्त्वपूर्ण पाठ सिखाये हैं। ये सब पाठ हमारे लिए नये हैं, जो पहलेके प्रयोगोंसे उपलब्ध नहीं

थे। वर्तमानकालमें विनोबाजी ने भी जो व्यापक प्रयोग किये हैं, उनमें भी हमें कई नये सबक मिले हैं, जिनसे आगेके प्रयोग-कर्ताओंको बड़ी सहायता मिलेगी।

ये कुछ कारण हैं जिनसे मैं मानता हूँ कि जिस कार्यमें महा-वीर, बुद्ध, ईसा नहीं सफल हो पाये, उसमें आज हम जैसे सामान्य जन सफल हो सकते हैं, यदि हम विचार तथा श्रद्धापूर्वक प्रयास करें। विनोबाजीके प्रस्तुत प्रवचन, जो पिछले १८ वर्षोंमें (सन् १९५०–१९६८) दिये गये थे इस प्रयासमें लगे सभी साधकोंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे। इस संग्रहको प्रकाशित कर सर्व सेवा संघ प्रकाशनने हमारा बहुत उपकार किया है।

सर्वोदय आश्रम,
सोखोदेवरा (गया)
१ सितम्बर, १९६९

–जयप्रकाश नारायण

अनुक्रम

०

तीसरी शक्ति

१. गांधीजी और साम्यवाद

आखिर सृष्टि तो अनादि ही कही गयी है, किन्तु जिस पृथ्वीपर हम रहते हैं, उसे भी कुछ नहीं तो दो सौ करोड़ वर्ष जरूर हो ही गये हैं, ऐसा पौराणिकों और आधुनिकोंका मत है। कहते हैं, पृथ्वी पहले निर्जन्तुक या बिना जीव-सृष्टिकी थी। वह सूर्यकी तरह एक जलता हुआ गोला ही थी। आगे चलकर ठंडी होते-होते जब वह जीवोंके निवास-योग्य बनी, तब उसमें जीव-सृष्टि हुई। सूक्ष्म जीवोंसे आगे बढ़ते-बढ़ते उसमें मानवका आविर्भाव हुआ। उसे भी दस-पाँच लाख वर्ष तो हो ही गये होंगे, ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। मानवके इतने बड़े जीवन-प्रवाहमें सौ-दो सौ वर्षोंका हिसाब ही क्या ? फिर भी पिछले सौ-दो सौ वर्ष हमारे लिए इतने महत्त्वपूर्ण बन बैठे हैं कि हमें लगता है कि मानवका आधेसे अधिक इतिहास इन्हीं सौ-दो सौ वर्षोंमें समाया हुआ है।

वर्तमानकी महिमा

वर्तमान कालका महत्त्व तो हमेशा ही होता है। वह भूतकालका फल और भविष्यका बीज होता है। दोनों ओरसे उसका महत्त्व अद्वितीय ही है। भूत और भविष्यके सन्धिस्थानपर होनेके कारण स्वभावतः वह क्रांतिका काल सिद्ध होता है—फिर वह क्रांति जन्मदात्री हो या मरणदात्री, वृद्धिकारिणी हो या क्षय-कारिणी। वर्तमान क्षण हमेशा क्रांतिका क्षण होता है। इतना ही नहीं, वह **'न भूतो न भविष्यति'** होता है।

वर्तमान काल निःसन्देह क्रांतिका ही नहीं, बल्कि अपूर्व क्रांतिका काल होता है। उस दिन एक सज्जन बोले : "हमें आपका वह पुराना 'शांतिः शांतिः शांतिः' का घोष (नारा) नहीं चाहिए। अब हम 'क्रांतिः क्रांतिः क्रांतिः' का तीन बार उद्घोष करनेवाले हैं।" मैंने कहा : "एक ही बार 'क्रांति' कहेंगे, तो ठीक होगा। तीन बार घोष करनेसे आप मूलस्थानसे भी पीछे हट जायँगे। शांतिको ऐसा कोई डर नहीं। वह तो सदाके लिए पुरानी है। क्रांति पुरानी हो जानेसे बासी पड़ जाती है। इसलिए तीन बार कहनेमें कोई सार नहीं। एक ही बार 'क्रांति' कहना चाहिए और फिर उसका नाम भी न लेना चाहिए।"

वर्तमान कालका महत्त्व प्राचीन कालको कैसे मिल सकता है ? यह दूसरी बात है कि वह प्राचीन काल जब वर्तमान रहा होगा, तब उसका भी अपूर्व महत्त्व रहा हो। फिर यदि यह वर्तमान काल या वर्तमान क्षण दुःखका हो, तब तो उसकी

कोई कीमत ही नही रहती। दुःखका काल सदैव लम्बा होता है। दुःखका एक प्रसंग सुखके अनेक प्रसगोंको हजम करके शेखी बघारता है। सुखके बहुतसे प्रसंग विस्मृतिके उदरमे चुपचाप खो जाते हैं। दुःखके किसी प्रसंगका विस्मरण तभी होता है, जब उसमे ज्यादा बड़े दुःखका प्रसंग आये। दुःखको मिटा देनेकी ताकत सुखमें नही, उलटे सुखके कारण उसकी याद और ज्यादा निखरने लगती है। दुःखको मिटानेका काम तीव्र दुःख ही कर सकता है। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षोंका समय हमारा वर्तमान काल है और वह दुःखका काल है। तब हमारी दृष्टिसे वह मानवके सारे इतिहासको ग्रस ले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

रुलानेवाली विनोद-कथा

आखिर आजके जमानेमें कौन-सी ऐसी घटना घटी, जिससे इसे 'दुःखका जमाना' कहना पड़े? सुखके साधन बढ़े, आराम और मौज-शौककी ढरों चीजें बनीं—यही वह घटना है, जिसने इतने बड़े दुःखको जन्म दिया है। सुख और दुःख परस्पर विरोधी कहलाते हैं, परन्तु वे एक-दूसरेके जनक हैं। सुख दुःखको जन्म देता है और दुःख सुखको। सुखका जन्म जब होगा तब होगा, पर इस समय तो हम दुःखका ही जन्मोत्सव मना रहे हैं। अकेले सुखके पीछे कितनी मुसीबतें और कितनी अड़चनें होती हैं! सुखका नाम लेते ही उसके बँटवारेका कितना बड़ा प्रश्न खड़ा हो जाता है? हाँ, दुःख इन झंझटोंसे बिलकुल मुक्त है। चाहे कोई उसका सारा हिस्सा मजेमें हड़प ले, उसे अकेला भुगत ले, उसकी तरफ किसीकी नजर नहीं जाती। किसी महात्मा या महामूर्खकी नजर उधर जाय, तो उसे अपवाद ही समझिये। **'स महात्मा सुदुर्लभः'**—वैसा महात्मा बड़ा ही दुर्लभ होता है। हमारे इस जमानेने सुखकी राशियाँ निर्माण करके उनके बोझके नीचे सारी दुनियाकी आम जनताको कुचल डाला है। शक्करके बोरे बैलकी पीठपर चढ़े और मालिकके पेटमें गये। मालिकका पेट खा-खाकर बिगड़ा और बैलकी पीठ ढो-ढोकर टूटी। जो बेशक मीठी ही मीठी है, उस शक्करने ऐसा चमत्कार कर दिखाया! सुखके बँटवारेमें किसीने सिंहका हिस्सा माँगा, तो किसीने सियारका। मेमनेके हिस्सेमें कुछ भी नहीं आया। उलटे, वह मेमना ही उन दोनोंमें बँट गया! असंख्य लोगोंको रुलानेवाली यह आजके जमानेकी विनोद-कथा है! इससे छुटकारा कैसे मिले? आज सबके सामने यही प्रश्न है। उसीके लिए सारी हलचल, सारी खलबली और सारी हाय-हाय मची है।

जेलके विद्यापीठ

सन् १९३०–३२ की सत्याग्रही कैदियोंसे ठसाठस भरी वे जेलें! लोगोंके आवेशभरे झुंडने एक चोरको छुड़ाकर ईसाको सूलीपर चढ़ानेका हठ किया,

ऐसी कथा बाइबिलमें है। उसी प्रकार उस समयकी सरकारने कितने ही चोर-कैदियोंको रिहा करके सत्याग्रही लोगोंको जेलमें डाल दिया था। लोगोंसे ठसाठस भरे उन बड़े-बड़े घरोंमें क्या-क्या हुआ होगा और क्या-क्या नहीं, यह बात सारी ध्वनियाँ अपने पेटमें संचित करनेवाले उस आकाशसे ही पूछनी चाहिए। कई लोगोंपर फलित-ज्योतिषकी धुन सवार हो गयी। वे भविष्यवाणियाँ करने लगे कि सब लोग कब छूटेंगे। एकके बाद एक भविष्यवाणी झूठी निकलनेपर भी निराश न होकर वे अपने इस विषयके अध्ययनको और भी पक्का करने लगे। लेकिन निराशा न दिखलानेपर भी छिपनेवाली नहीं थी। हमने इतिहासमें सौ सालके युद्ध (हंड्रेड इयर्स वार) का वर्णन पढ़ा जरूर था, लेकिन जेलका एक-एक महीना हमारे लिए भारी होने लगा। आखिर कुछ लोग धर्मानुष्ठानमें लग गये। कुछने पाक-शास्त्रके प्रयोग शुरू किये। कितनोंने दोनों उद्योगोंका समन्वय साध लिया। इसी तरहके और भी उद्योग लोगोंने खोज निकाले। किन्तु इतना सब करनेपर भी सब लोगोंको काम नहीं मिला। कुछ निठल्ले ही रहे। तब उन्होंने बुद्धदेवके उत्साहसे इस विषयका चिन्तन शुरू किया कि भारत और संसारके दुःख कैसे दूर किये जा सकते हैं।

जिनकी श्रद्धाने निर्णय दिया कि "गांधीजीके बताये हुए मार्गसे ही यह प्रश्न हल होगा", वे अपने भीतरके दोषोंकी जाँच करने लगे। उन्होंने कहा : "मार्ग यही सच्चा है, पर हमारे कदम ही ठीक नहीं पड़ते। यहीं देखिये न! हम जेलमें आये तो सत्याग्रही बनकर, लेकिन चोरीसे बाहर खबरें भेजते हैं। इतना ही नहीं, जरूरतकी चीजें भी चोरीसे प्राप्त करते हैं। यह हमारा 'सत्य' है? और आग्रह-शक्ति हमारी इतनी बड़ी है कि दो-चार महीने भी हमें भारी मालूम पड़ते हैं! ऐसे हम नामके 'सत्याग्रही' हैं! ऐसे टूटे-फूटे साधनोंसे सिद्धि कैसे मिलेगी? इसलिए हमें आज जो एकांतमें रहनेका अवसर मिला है, उससे लाभ उठाकर आवश्यक गुणोंका विकास करना चाहिए।" ऐसा कहकर ये लोग संयमावलंबी होकर जेलका 'टास्क' (अधिकारियों द्वारा दिया गया काम) पूरा करनेके बाद जेलमें ही कातने, धुनने, बुनने लगे और भंगी-काम भी करने लगे।

दूसरे कितनोंको यह अंतरवृत्ति नहीं जँची। "सत्य और अहिंसाके नपे-तुले आचरणकी बात आप राजनीतिक लड़ाईमें करते हैं। संसारके इतिहासमें इतने राजनीतिक संघर्ष हुए, आप ही बताइये कि इनमेंसे एकआध भी ऐसा उदाहरण है, जिसमें आज हम जितना संयम पालते हैं, उससे अधिक संयमका पालन किया गया हो? अहिंसक लड़ाईकी सफलताके लिए अगर मनुष्यका सर्वसाधारण स्वभाव ही पलट देनेकी जरूरत हो, तो अहिंसक लड़ाई मृगजल ही सिद्ध होगी। सद्गुण-संवर्धन करते-करते आप सारी जनताको त्यागके पाठ कबतक पढ़ायेंगे? दुर्जनोंका हृदय-परिवर्तन कब होगा और जनताके दुःख कब दूर होंगे? क्या

निकट भविष्यमें ये बातें हो पायेंगी ? दूसरा मार्ग दिखायी नही देता था, इसलिए हमने गांधीजीका मार्ग पकड़ा । मार्ग अच्छा तो है, लेकिन हमारे ध्येयतक पहुँ-चानेवाला न हो, तो भी क्या इसीलिए उसपर चलते रहें कि वह अच्छा है ?

"उधर रूसकी तरफ देखिये । देखते-देखते वहाँ कितनी बड़ी क्रान्ति हो गयी ? देशकी काया ही उसने पलट दी और अब रूसवाले सारे संसारको आत्म-सात् करनेकी उम्मीद रखते हैं । और हम ? यहाँ सत्य-अहिंसा और जेलके अनुशासनके घेरेमें फँसे पड़े हैं ! इस तरह क्या होगा ? आप कहते हैं कि चार महीने भी धीरज नहीं रख सकते ? परन्तु देशके सभी कार्यकर्ताओंका महीनों जेलमें बन्द रहना क्या कोई छोटी बात है ? इसपर भी बाहर कुछ हलचल जारी रहती, तो बात अलग थी । लेकिन बाहर तो बिलकुल सन्नाटा है और हम यहाँ संयम पाल रहे हैं ! क्या बाहरका सन्नाटा और हमारा संयम, मिलकर स्वराज्य मिल जायगा ? इसलिए हमारा मार्ग गलत है, यह समझकर, आत्म-संशोधनके बदले हमें मार्ग-संशोधन ही करना चाहिए । हमारी आत्मा तो जैसी चाहिए वैसी ही है ।" ऐसा कहकर इन लोगोंने सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट-साहित्यका अध्य-यन शुरू किया । प्रलय-कालमें पृथ्वीके जलमग्न हो जानेपर जिस तरह मार्कण्डेय उस अगाध समुद्रमें एकाकी तैरता रहा, उसी तरह जेलके उस एकान्तवासमें तरुण लोग समाजवादी और साम्यवादी साहित्य-सागरमें तैरने लगे ।

वास्तवमें यह साहित्य कहीं गहरा, तो कहीं छिछला होते हुए भी समुद्रकी तरह अपार है । कुछ थोड़े लोगोंने मार्क्सकृत 'कैपिटल' के अगाध सागरमें अवगाहन किया । बहुतसे लोग रूससे प्रकाशित नपी-तुली गहराईके प्रचार-साहित्यमें मज्जन करने लगे । प्राचीन पुराण-कालके बाद अधिक-से-अधिक पुनरुक्तिकी भी परवाह किये बिना साहित्यका सतत प्रचार करते रहनेका अदम्य उत्साह आज तक कम्युनिस्टोंके सिवा किसीने नहीं दिखाया होगा । सुनने या पढ़नेवाला कितना ही क्यों न भूले, फिर भी उसकी बुद्धिमें कुछ-न-कुछ संस्कार शेष रह ही जायगा, ऐसी श्रद्धा उन प्राचीन ऋषियोंकी और इन आधुनिक ऋषिकों (रशियनों=रीछ-सुतों) की है । मरनेके बाद स्वर्ग मिलता है, इस कल्पनाके सहारे पुराणके वाचक उड़ते रहते और रूसमें कोई स्वर्ग उतर आया है, इस कल्पनाके बलपर हमारे ये साथी इस विशाल समाजवादी साहित्यके पठनकी वेदना सहते थे । सन् १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रहके समय जेलमें एक कम्युनिस्ट मित्र मुझसे बोले : "मालूम होता है, आपने अबतक कम्युनिस्ट-साहित्य नहीं पढ़ा । वह पढ़ने जैसा है ।" मैंने कहा : "जब मैं कातता रहता हूँ, उस वक्त आप ही मुझे पढ़कर सुनाइये ।" तब उन्होंने अपनी दृष्टिसे चुना हुआ साहित्य मुझे पढ़ सुनाया । उससे पहले मार्क्सकी 'कैपिटल', जो नवीन विचारकी मूल संहिता है, मैंने बाहर फुरसतमें पढ़ ली थी । इसलिए उन्होंने पढ़कर जो सुनाया,

उसे समझनेमें मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। रोज घण्टा-डेढ़ घण्टा श्रवण होता था। कुछ महीने यह क्रम जारी रहा। उनका पढ़कर सुनाया हुआ साहित्य चुना हुआ था, फिर भी उसकी पुनरुक्तियोंकी मेरे मनपर जबरदस्त छाप पड़ी। तब अगर हमारे तरुणोंके मन इस पुनरुक्ति-दोषसे उकताये नहीं, उलटे मन्त्र-मुग्ध हो गये, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

दो निष्ठाएँ : गुण-विकास और समाज-रचना

गुण-विकास और समाज-रचना, ये दो एकान्तिक निष्ठाएँ आदिकालसे लेकर अबतक चलती आयी हैं। गुण-विकासवादी कहते हैं : "गुणोंकी बदौलत ही यह जगत् चल रहा है। मनुष्यका जीवन भी इसी तरह गुणप्रेरित है। ज्यों-ज्यों गुणोंका विकास होता जाता है, त्यों-त्यों समाजकी रचना सहज ही बदलती जाती है। इसलिए सज्जनोंको अपना सारा ध्यान गुण-विकासपर केन्द्रित करना चाहिए। समाज-रचनाके फेरमें पड़ना व्यर्थ ही अहंकार ओढ़ना है। 'जगद्व्यापारवर्ज्यम्' यह भक्तोंकी मर्यादा है। याने जगत्के सर्जन, पालन और संहारकी शक्तिको छोड़कर भगवान्की दूसरी शक्तियाँ भक्तको प्राप्त हो सकती हैं। अहिंसा, सत्य, संयम, सन्तोष, सहयोग आदि यम-नियमोंके प्रति निष्ठा दृढ़ करना, ये गुण हमारे नित्यके व्यवहारमें उत्तरोत्तर प्रकट हों, ऐसी कोशिश करना ही हमारा काम है। इतना करनेपर शेष सब अपने-आप हो जायगा। 'बच्चेको दूध पिलाओ', यह मातासे कहना नहीं पड़ता। दुःखके समय रोना चाहिए, यह छोटे बालकको सिखाना नहीं पड़ता। वात्सल्य होगा, तो दूध अपने-आप पिलाया जायगा। दुःख होगा, तो सहज ही रोया जायगा।"

इस प्रकारकी यह एक निष्ठा है, जो सभी सन्तोंके हृदयमें सहज स्फूर्त होती है। गीता में दैवी सम्पत्तिके गुण और ज्ञानके लक्षणोंकी जो तालिका आयी है, उसके एक-एक गुण और लक्षणपर ज्ञानदेवने जो इतना सुन्दर विवेचन किया है, उसके मूलमें यही निष्ठा है।

इसके ठीक विपरीत कम्युनिस्टोंका तत्त्वज्ञान है। वे कहते हैं : "जिसे आप गुण-विकास कहते हैं, वह यद्यपि चित्तमें होता है, पर चित्तद्वारा किया हुआ नहीं होता, परिस्थितिद्वारा किया होता है। चित्त स्वयं ही परिस्थितिके अनुसार बना रहता है। 'भौतिकं चित्तम्'—चित्त पंचभूतात्मक है। छोटे बालक को दाढ़ी-मूँछवाले बाबाका डर लगता है, इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि उसकी माँके दाढ़ी-मूँछ नहीं होती? माँको अगर दाढ़ी-मूँछ होती, तो बगैर दाढ़ी-मूँछवालोंको देखकर ही बालक घबराता। आप कहते हैं कि दुःख होनेपर रोना सहज ही आता है। लेकिन सूई चुभानेसे दुःख भी सहज ही होता है। क्या चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है? वस्तुतः वह सृष्टिका

निकट भविष्यमें ये बातें हो पायेंगी ? दूसरा मार्ग दिखायी नहीं देता था, इसलिए हमने गांधीजीका मार्ग पकड़ा। मार्ग अच्छा तो है, लेकिन हमारे ध्येयतक पहुँचानेवाला न हो, तो भी क्या इसीलिए उसपर चलते रहें कि वह अच्छा है ?

"उधर रूसकी तरफ देखिये। देखते-देखते वहाँ कितनी बड़ी क्रान्ति हो गयी ? देशकी काया ही उसने पलट दी और अब रूसवाले सारे संसारको आत्मसात् करनेकी उम्मीद रखते हैं। और हम ? यहाँ सत्य-अहिंसा और जेलके अनुशासनके घेरेमें फँसे पड़े हैं ! इस तरह क्या होगा ? आप कहते हैं कि चार महीने भी धीरज नहीं रख सकते ? परन्तु देशके सभी कार्यकर्ताओंका महीनों जेलमें बन्द रहना क्या कोई छोटी बात है ? इसपर भी बाहर कुछ हलचल जारी रहती, तो बात अलग थी। लेकिन बाहर तो बिलकुल सन्नाटा है और हम यहाँ संयम पाल रहे हैं ! क्या बाहरका सन्नाटा और हमारा संयम, मिलकर स्वराज्य मिल जायगा ? इसलिए हमारा मार्ग गलत है, यह समझकर, आत्म-संशोधनके बदले हमें मार्ग-संशोधन ही करना चाहिए। हमारी आत्मा तो जैसी चाहिए वैसी ही है।" ऐसा कहकर इन लोगोंने सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट-साहित्यका अध्ययन शुरू किया। प्रलय-कालमें पृथ्वीके जलमग्न हो जानेपर जिस तरह मार्कण्डेय उस अगाध समुद्रमें एकाकी तैरता रहा, उसी तरह जेलके उस एकान्तवासमें तरुण लोग समाजवादी और साम्यवादी साहित्य-सागरमें तैरने लगे।

वास्तवमें यह साहित्य कहीं गहरा, तो कहीं छिछला होते हुए भी समुद्रकी तरह अपार है। कुछ थोड़े लोगोंने मार्क्सकृत 'कैपिटल' के अगाध सागरमें अवगाहन किया। बहुतसे लोग रूससे प्रकाशित नपी-तुली गहराईके प्रचार-साहित्यमें मज्जन करने लगे। प्राचीन पुराण-कालके बाद अधिक-से-अधिक पुनरुक्तिकी भी परवाह किये बिना साहित्यका सतत प्रचार करते रहनेका अदम्य उत्साह आज तक कम्युनिस्टोंके सिवा किसीने नहीं दिखाया होगा। सुनने या पढ़नेवाला कितना ही क्यों न भूले, फिर भी उसकी बुद्धिमें कुछ-न-कुछ संस्कार शेष रह ही जायगा, ऐसी श्रद्धा उन प्राचीन ऋषियोंकी और इन आधुनिक ऋषिकों (रशियनों=रीछ-सुतों) की है। मरनेके बाद स्वर्ग मिलता है, इस कल्पनाके सहारे पुराणके वाचक उड़ते रहते और रूसमें कोई स्वर्ग उतर आया है, इस कल्पनाके बलपर हमारे ये साथी इस विशाल समाजवादी साहित्यके पठनकी वेदना सहते थे। सन् १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रहके समय जेलमें एक कम्युनिस्ट मित्र मुझसे बोले : "मालूम होता है, आपने अबतक कम्युनिस्ट-साहित्य नहीं पढ़ा। वह पढ़ने जैसा है।" मैंने कहा : "जब मैं कातता रहता हूँ, उस वक्त आप ही मुझे पढ़कर सुनाइये।" तब उन्होंने अपनी दृष्टिसे चुना हुआ साहित्य मुझे पढ़ सुनाया। उससे पहले मार्क्सकी 'कैपिटल', जो नवीन विचारकी मूल संहिता है, मैंने बाहर फुरसतमें पढ़ ली थी। इसलिए उन्होंने पढ़कर जो सुनाया,

उसे समझनेमें मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। रोज घण्टा-डेढ़ घण्टा श्रवण होता था। कुछ महीने यह क्रम जारी रहा। उनका पढ़कर सुनाया हुआ साहित्य चुना हुआ था, फिर भी उसकी पुनरुक्तियोंकी मेरे मनपर जबरदस्त छाप पड़ी। तब अगर हमारे तरुणोंके मन इस पुनरुक्ति-दोषसे उकताये नहीं, उलटे मन्त्र-मुग्ध हो गये, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

दो निष्ठाएँ : गुण-विकास और समाज-रचना

गुण-विकास और समाज-रचना, ये दो एकान्तिक निष्ठाएँ आदिकालसे लेकर अबतक चलती आयी हैं। गुण-विकासवादी कहते हैं : "गुणोंकी बदौलत ही यह जगत् चल रहा है। मनुष्यका जीवन भी इसी तरह गुणप्रेरित है। ज्यों-ज्यों गुणोंका विकास होता जाता है, त्यों-त्यों समाजकी रचना सहज ही बदलती जाती है। इसलिए सज्जनोंको अपना सारा ध्यान गुण-विकासपर केन्द्रित करना चाहिए। समाज-रचनाके फेरमें पड़ना व्यर्थ ही अहंकार ओढ़ना है। 'जगद्व्यापारवर्ज्यम्' यह भक्तोंकी मर्यादा है। याने जगत्‌के सर्जन, पालन और संहारकी शक्तिको छोड़कर भगवान्‌की दूसरी शक्तियाँ भक्तको प्राप्त हो सकती हैं। अहिंसा, सत्य, संयम, सन्तोष, सहयोग आदि यम-नियमोंके प्रति निष्ठा दृढ़ करना, ये गुण हमारे नित्यके व्यवहारमें उत्तरोत्तर प्रकट हों, ऐसी कोशिश करना ही हमारा काम है। इतना करनेपर शेष सब अपने-आप हो जायगा। 'बच्चेको दूध पिलाओ', यह मातासे कहना नहीं पड़ता। दुःखके समय रोना चाहिए, यह छोटे बालकको सिखाना नहीं पड़ता। वात्सल्य होगा, तो दूध अपने-आप पिलाया जायगा। दुःख होगा, तो सहज ही रोया जायगा।"

इस प्रकारकी यह एक निष्ठा है, जो सभी सन्तोंके हृदयमें सहज स्फूर्त होती है। गीता में दैवी सम्पत्तिके गुण और ज्ञानके लक्षणोंकी जो तालिका आयी है, उसके एक-एक गुण और लक्षणपर ज्ञानदेवने जो इतना सुन्दर विवेचन किया है, उसके मूलमें यही निष्ठा है।

इसके ठीक विपरीत कम्युनिस्टोंका तत्त्वज्ञान है। वे कहते हैं : "जिसे आप गुण-विकास कहते हैं, वह यद्यपि चित्तमें होता है, पर चित्तद्वारा किया हुआ नहीं होता, परिस्थितिद्वारा किया होता है। चित्त स्वयं ही परिस्थितिके अनुसार बना रहता है। 'भौतिकं चित्तम्'—चित्त पंचभूतात्मक है। छोटे बालक को दाढ़ी-मूंछवाले बाबाका डर लगता है, इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि उसकी माँके दाढ़ी-मूंछ नहीं होती? माँको अगर दाढ़ी-मूंछ होती, तो बगैर दाढ़ी-मूंछवालोंको देखकर ही बालक घबराता। आप कहते हैं कि दुःख होनेपर रोना सहज ही आता है। लेकिन सूई चुभानेसे दुःख भी सहज ही होता है। क्या चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है? वस्तुतः वह सृष्टिका

एक प्रतिबिंबमात्र है, छायारूप ही है। छायाके नियमनसे वस्तुका नियमन होगा या वस्तुके नियमनसे छायाका ? रातको गहरी नींद आनेसे चित्त प्रसन्न होता है। सत्त्व-गुण प्रकट होता है। फिर थोड़ी देरके बाद भूख लगनेपर रजो-गुण जोर पकड़ता है और भोजन करते ही तमोगुण बढ़ जाता है। फिर आप गुणोंकी महिमा क्यों गाते हैं ? योग्य परिस्थिति निर्माण कर देनेपर योग्य गुणोंका उदय होगा ही। इसलिए परिस्थितिको पलटिये, जल्द-से-जल्द पलटिये और चाहे जिस तरहसे पलटिये। मनोवृत्तियोंके जाल बुनते न बैठिये। मनुष्यका मन जैसा है, वैसा ही रहेगा। वह किसी तरह पशुका मन नहीं बन सकता और न काल्पनिक देवताके समान ही बन सकता है। वह अपनी मर्यादामें ही रहता है। परिस्थिति सुधरनेपर वह थोड़ा-बहुत सुधरता है और बिगड़नेपर थोड़ा-बहुत बिगड़ता है। उसकी चिन्ता न कीजिये। समाज-रचना बदलनेके लिए हिंसा करनी पड़े, तो भी 'सद्गुण मर गया' कहकर चिल्लाते मत रहिये। बुरी रचना नष्ट हुई, इतना ही समझिये। उसके लिए जो हिंसा करनी पड़ी, वह साधारण हिंसा नही थी। वह ऊँचे स्तरकी हिंसा थी। वह भी एक सद्गुण ही थी। यह समझेंगे, तो आपका भलीभाँति गुण-विकास होगा।"

ये दो छोर हुए। इन दोनोंके बीच बाकी सबको बैठना है। हरएक अपने-अपने सुभीतेकी जगह देखकर बैठता है।

कोई कहते हैं: "समाज-रचना बदलनेका भी महत्त्व है, इस बातसे इन्कार नहीं। लेकिन यह परिवर्तन विशिष्ट गुणोंके विकासके साथ ही होना चाहिए। समाजमें कुछ 'स्थिर मूल्य' होते हैं। उन्हें गँवाकर एक खास तरहकी समाज-रचना चाहे जिस तरह सिद्ध करनेकी जल्दीमें ब्याजके लोभमें मूल भी गँवाने जैसी बात होगी। समाज-रचना कोई शाश्वत वस्तु नहीं। देश-कालके अनुसार वह बदलेगी और बदलनी ही चाहिए। सदाके लिए एक समाज-रचना बना डालें और बादमें सुखकी नींद लें, यह हो नहीं सकता। समाज-रचनाको देवता बनाकर बैठानेमें कोई सार नहीं। आखिर समाज-रचना करेगा भी कौन ? मनुष्य ही न ? तो जैसा मनुष्य होगा, वैसी ही वह बनेगी। इसलिए सौजन्यकी मर्यादा पालकर, बल्कि उत्तम सौजन्य रखकर, सौजन्यको बढ़ाकर, सौजन्यके बलसे ही समाज-रचनामें परिवर्तन करना चाहिए। इस तरहका परिवर्तन धीरे-धीरे हो, तो भी चिन्ता करनेका कारण नहीं। धीरे-धीरे चबाकर खाया हुआ हजम भी अच्छा होता है। यह धीमी गति ही अन्तमें शीघ्रतम कार्यसाधक सिद्ध होगी। जब हम सौजन्य बढ़ानेकी बात कहते हैं, तब हम देवता नहीं बनना चाहते। वह अहंकार हमें नहीं चाहिए। जब हम मनुष्य ही हैं, तो सौजन्यका कितना भी विकास क्यों न करें, हमें देवता बननेका खतरा है ही नहीं। इसलिए हम जितना अधिक-से-अधिक गुणोत्कर्ष कर सकें, उतना बेधड़क साध लें। यह गलत नहीं

कि समाज-रचना अच्छी होनेपर सद्‌गुणोंकी वृद्धिमें मदद पहुँचती है, किन्तु सद्‌गुणोंकी उचित वृद्धि होनेपर ही समाज-रचना अच्छी होती है, यह उसकी अपेक्षा अधिक मूलभूत बात है। सद्‌गुण-निष्ठा बुनियाद है और समाज-रचना इमारत। बुनियादको उखाड़कर इमारत कैसे मजबूत बनायी जा सकती है?"

इसपर दूसरे कुछ कहते हैं: "यह हमें भी मंजूर है कि समाज-रचना बदलनेका काम शाश्वत मूल्योंको सुरक्षित रखकर ही किया जाय और सद्‌गुणनिष्ठा डिगने न दी जाय। किन्तु नैमित्तिक कर्मके लिए नित्य-कर्म छोड़ना पड़ता है, इसे भी नहीं भूलना चाहिए। आप प्रार्थनाको नित्यकार्य समझते हैं। लेकिन आपकी प्रार्थनाके ही समय यदि कहीं आग लग जाय, तो आप प्रार्थना छोड़कर आग बुझाने जायँगे या नहीं? आग बुझानेके बाद आरामसे प्रार्थना कर लेंगे। इसे नित्य-नैमित्तिक-विवेक कहना चाहिए। इसी तरहका विवेक सर्वत्र करना पड़ता है।

"कम्युनिस्टोंकी तरह हम यह नहीं मानते कि 'क्रान्तिके लिए हिंसाके साधनोंसे काम लेना ही चाहिए, हिंसाके सिवा क्रान्ति हो ही नहीं सकती।' हमारा विश्वास है कि भारत जैसे देश और जनतन्त्रात्मक राज्यमें हिंसक साधनोंका अवलम्बन किये बिना केवल बैलट-बॉक्सके बलपर राज्य-क्रान्ति की जा सकेगी। उसके लिए लोकमत तयार करनेमें २०-२५ साल लग जायँ, तो भी कोई हर्ज नहीं। हम धैर्यके साथ लोकमत तैयार करते रहेंगे। लेकिन मान लीजिये कि सत्ताधारी पक्षने चुनावकी पवित्रता कायम नहीं रखी और सत्ताका दुरुपयोग करके चुनाव लड़ गये, तो ऐसे अवसरपर साधन-शुद्धिका आग्रह रखनेका अर्थ निरन्तर मार खाते रहना ही होगा। इसलिए निरुपाय होकर केवल विशेष प्रसंगके लिए ही अन्य साधनोंका उपयोग करना हमें अनुचित नहीं मालूम होता। हम उसे 'नैमित्तिक धर्म' समझते हैं। चाहे तो आप उसे 'आपद्धर्म' कह लीजिये, लेकिन 'अधर्म' न कहिये, इतना ही हमारा निवेदन है। इतनेसे ही शाश्वत मूल्य न गिरेंगे। नैमित्तिक कारणके लिए सही रास्तेसे थोड़ा अलग जाना पड़े, तो बादमें फिरसे सही रास्ता लिया जा सकता है। सत्ताकी अदला-बदली होते ही शाश्वत मूल्योंको और भी अधिक पक्का कर लेंगे।

"हिला-हिलाकर खूँटेको मजबूत गाड़नेकी नीति प्रसिद्ध है। वैसा ही इसे समझिये। अहिंसाके लाभके लिए ही हिंसाका यह अल्पकालिक आश्रय है। अन्यथा अहिंसा हमसे बहुत दूर चली जायगी। पेड़ तेजीके साथ बढ़े, इसीलिए हम उसकी काट-छाँट करते हैं न? पेड़की जड़पर कुल्हाड़ी चलाना एक बात है और उसकी शाखाओंकी काट-छाँट करना दूसरी बात। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, जातिवंशवाद—ये सारे वाद अहिंसाकी जड़पर ही प्रहार किया करते हैं। हिंसामें कम्युनिस्टोंकी श्रद्धा और उसके अन्धाधुन्ध अमलके कारण उनका प्रहार भी अहिंसाकी जड़पर होता है। यद्यपि उनका उद्देश्य वैसा नहीं होता, तथापि

उसका परिणाम वही निकलता है। इसीलिए हम साम्यवादका समर्थन नहीं कर सकते। परन्तु विशिष्ट गुणकी निष्ठाके नामपर समूचे समाजकी प्रगति रोक रखने और गरीबोंका उत्पीड़न दीर्घकालतक चलने देनेमें हमें गुणनिष्ठाका अतिरेक मालूम पड़ता है। इसके अलावा, हमारा यह कथन है कि दूसरे राज्यका हमला रोकने और भीतरी विद्रोह खतम करनेके लिए यदि शस्त्र-बलका प्रयोग करना पड़े, तो उसकी गणना हिंसामें न कर उसे 'दण्डधर्म' समझना चाहिए। इतने अपवाद छोड़कर शेष सारे प्रसंगोंमें अहिंसक साधनोंका आग्रह रखना अत्यन्त जरूरी है, ऐसा हम मानते हैं।"

सन्तों और कम्युनिस्टोंकी भूमिकाएँ नैष्ठिक भूमिकाएँ हैं और इन दो बिचली भूमिकाओंको हम नैतिक भूमिकाएँ कह लें। इनमेंसे पहली नैतिक भूमिकाका प्रतिपादन इस देशमें गौतम बुद्ध और गांधीने प्रभावशाली ढंगसे किया है। दूसरे भी कुछ धर्मसंस्थापकोंने उसका आश्रय लिया है। थोड़े ही स्मृति-वचनोंने उसे मान्य किया है। दूसरी नैतिक भूमिकाका प्रतिपादन अनेक नैतिक स्मृतिकारोंने किया है। आज भारतमें बहुतसे कांग्रेसवाले, कांग्रेसके उपपक्षोंवाले और राष्ट्रीयताका अभिमान रखनेवाले लगभग सारे समाजवादी इसी भूमिका-पर खड़े मालूम होते हैं। बहुतसे गांधीवादी कहलानेवाले भी घूम-फिरकर इसी भूमिकाके नजदीक आ जाते हैं।

गांधी और मार्क्स

महात्मा गांधी और मार्क्स महामुनि---दोनोंके विचारोंकी तुलनासे अधिक आकर्षक विषय आजके जमानेमें और कौन-सा हो सकता है? पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षोंके मनुष्य-समाजके जीवनको यदि छाना जाय, तो बहुतकर ये दो ही नाम हाथमें रह जायँगे। मार्क्सके पेटमें लेनिन आ ही जाता है। गांधीजीके पीछे टॉल्स्टॉयकी छाया गृहीत ही है। ये दोनों विचार-प्रवाह एक-दूसरेको आत्मसात् करनेके लिए आमने-सामने खड़े हैं। आज ऊपरसे तो संसारके आँगनमें रूसके नेतृत्वमें साम्यवादी और अमेरिकाके नेतृत्वमें जनतंत्रके आवरणमें छिपे पूँजीवादी खम ठोंककर खड़े दिखायी देते हैं, किन्तु गहराईसे विचार करें, तो इस दूसरे नकली दलमें कोई सत्त्व नहीं रह गया है। इसलिए फौजी शक्तिके बलपर वह कितनी ही शेखी क्यों न बघारे, मैं तो मानता हूँ कि कम्युनिस्ट पक्षकी प्रतिस्पर्धामें वह खड़ा नहीं रह सकता। इसके विपरीत, गांधी-विचार यद्यपि आज कहीं संगठित रूपमें खड़ा नहीं दिखायी देता, फिर भी उसमें विचारका सत्त्व होनेके कारण कम्यु-निज्मको उसीका सामना करना पड़ेगा।

संसारकी बात हम छोड़ दें, तो भी कम-से-कम भारतमें आज गांधी-विचार और साम्यवादकी तुलना एक नित्य-चर्चाका विषय बन गया है। हर व्यक्ति

अपने-अपने ढंगसे दोनोंका तुलनात्मक मूल्यांकन किया करता है। गांधी-विचारके चारों तरफ आध्यात्मिक तेजपुंज दिखायी देता है, तो साम्यवादके पीछे शास्त्रीय परिभाषाका जबरदस्त पृष्ठबल। गांधी-विचारने भारतके स्वराज्य-संपादनका श्रेय प्राप्त कर अव्यवहार्यताके आक्षेपसे छुटकारा पा लिया है। साम्यवादने चीनके पुराणपुरुषको तारुण्य प्रदान कर अपनी तात्कालिक शक्ति दिखा दी है। इसलिए संभव हो, तो दोनों विचारोंका समन्वय किया जाय, ऐसी लालसा कुछ प्रचारकोंके मनमें उठती रहती है। फिर 'गांधीवाद यानी हिंसावर्जित साम्यवाद', इस तरहके कुछ स्थूल सूत्र बना लिये जाते हैं। वस्तुतः इन दो विचारोंका मेल नहीं हो सकता। इनका विरोध अत्यन्त मूलगामी है। ये दोनों एक-दूसरेकी जान लेनेपर तुले हैं।

एक बार इस तरहकी चर्चा हो रही थी कि "गांधीवाद और साम्यवादमें केवल अहिंसाका ही फर्क है।" मैंने कहा : "दो आदमी नाक, कान, आँखकी दृष्टिसे बिलकुल एक-से थे। इतने मिलते-जुलते कि राजनीतिक छलके लिए एकको जगह दूसरेको बैठाया जा सकता था। फर्क इतना ही था कि एककी नाकसे साँस चल रही थी, तो दूसरेकी साँस बन्द हो गयी थी। परिणाम यह हुआ कि एकके लिए भोजनकी तैयारी हो रही थी, जब कि दूसरेके लिए शव-यात्राकी।" अहिंसाका होना या न होना, यह 'छोटा-सा' फर्क छोड़ देनेपर बची हुई समानता इसी तरहकी है। पर यहाँ तो नाक, कान, आँखमें भी फर्क है। जिसकी साँस चल रही है, और जिसकी नहीं चलती, ऐसे दो व्यक्तियोंकी नाक, कान, आँखमें भी फर्क हुए बिना कैसे रहेगा? भले ही ऊपर-ऊपरसे वे कितनी ही समान क्यों न दिखायी देती हों।

साम्यवाद खुल्लमखुल्ला एक आसक्तिका (राग-द्वेषात्मक) विचार होनेके कारण उसके तात्त्विक परीक्षणकी मुझे कभी जरूरत नहीं महसूस हुई। यद्यपि साम्यवादियोंने उसके चारों तरफ एक लम्बी-चौड़ी तत्त्वज्ञानकी इमारत खड़ी कर दी है, तथापि तत्त्वज्ञानके नाते उसमें कोई सार नहीं; क्योंकि वह कारीगरी नहीं, बाजीगरी है। वह पीलियावालेकी दृष्टि है। उदाहरणार्थ, 'संघर्ष' नामके एक परम तत्त्वको ये लोग मानते हैं। संघर्षके सिवा इस दुनियामें और कुछ है ही नहीं। 'नान्यद् अस्ति', यह इन साम्यवादियोंकी टेक ही है। जिस प्रकार वह परमाणुवादी कणाद मरते समय 'पीलवः पीलवः पीलवः' (परमाणु, परमाणु, परमाणु) जपता मरा, वैसा ही हाल इन संघर्षवादियोंका है। छोटे बालकको माताके स्तनसे दूध मिलता है; यह चमत्कार कैसे होता है? इनकी दृष्टिमें तो वह एक महान् संघर्ष ही होता है—माताके स्तनका और बच्चेके मुखका! मैंने तो यह दृष्टान्त विनोदमें दिया, लेकिन ये लोग उसे गम्भीरतासे स्वीकार कर लेंगे। सारांश यह कि जिसे हम सहकार समझते हैं, उसे भी जहाँ संघर्ष समझा

जाता है, वहाँ सचमुचका प्रतिकार कितना बड़ा संघर्ष होगा ? डॉ० रघुवीर-की भाषामें कहें, तो वह एक 'प्रसंघर्ष' ही होगा। ऐसे मंत्रमुग्ध लोगोंसे वाद-विवाद क्या किया जाय ? उनके बारेमें तो हमें कुतूहल ही हो सकता है। उन्हें तत्त्वज्ञानके अनुरूप आचारकी नहीं, निश्चित आचारके अनुरूप तत्त्वज्ञानकी रचना करनी है।

सृष्टिका मन बना है या मनकी सृष्टि, ऐसी बहस भी ये लोग किया करते हैं। सृष्टिका मन बना है, इस विषयमें भ्रांत मनुष्यको छोड़कर किसीको कोई सन्देह नहीं। यदि मनकी ही सृष्टि बनी होती, तो सृष्टिकर्ता ईश्वरकी किसे जरूरत पड़ती ? परन्तु सृष्टिका मन भले ही बना हो, फिर भी सृष्टि और मन दोनोंसे भिन्न आत्मा शेष रहती है। लेकिन उसका तो इनके बादमें पता ही नहीं और कोई पता भी दे, तो ये लोग सहज ही उससे इनकार कर देंगे। शंकराचार्य ऐसे आदमीसे कहते हैं: "भाई, तुझसे मेरा विवाद ही नहीं है, क्योंकि आत्माको अस्वीकार करनेवाला तू स्वयं ही आत्मा है। तू उसका स्वीकार करेगा, तो तेरे स्वीकार करनेसे वह सिद्ध होगी। तू उसे अस्वीकार करेगा, तो तेरे अस्वीकार करनेसे भी वह सिद्ध होगी।" 'मैं जागता हूँ' कहनेवालेकी जाग्रति जितनी सहज रीतिसे सिद्ध होती है, उतनी ही 'मुझे नींद लगी है' कहनेवालेकी भी वह सिद्ध होती है। सृष्टि और मन, इन दोनोंको आकार देनेवाली इस तीसरी वस्तु आत्माका विचार ही न करके समाज-रचनाके फेरमें पड़नेके कारण सद्गुणोंका स्वतन्त्र महत्त्व ही नहीं रह जाता। जिन्हें हम आध्यात्मिक सद्गुण कहते हैं, वे इन लोगोंकी दृष्टिसे केवल अर्थशास्त्र (भौतिक परिस्थिति) की उपज हैं।

आत्मशून्य विचारमें व्यक्ति-स्वातंत्र्यका सवाल ही नहीं खड़ा होता। हजामतमें कितने बाल कटते हैं, इसकी गिनती कोई क्यों करे ? व्यक्ति आते और जाते हैं, समाज नित्य चलता है। इसलिए समाजका ही अस्तित्व है, व्यक्ति शून्य है, इतना ही जान लेना है।

सगरपुत्रने जिस प्रकार गंगाजीका मूल प्रवाह खोज निकाला, उसी प्रकार इन तत्त्ववेत्ताओंने समूचे मानवीय इतिहासका मूल प्रवाह खोज निकाला है। निर्णय यह हुआ है कि जिस प्रकार बाणके छूट जानेके बाद उसकी दिशा बदली नहीं जा सकती, निश्चित दिशामें जानेके लिए वह बाध्य हो जाता है, उसी प्रकारकी हमारी स्थिति है। पूर्व-इतिहासके प्रवाहने हमारे कार्यकी दिशा निर्धारित कर दी है। हमारे लिए क्रिया-स्वातंत्र्य रह नहीं गया है। पहले खूनकी नदियाँ बहेंगी, बादमें दूध और शहदकी और अंतमें सबकी तृष्णा बुझानेवाले शीतल जलकी नदियाँ हरएकके घरके आगेसे बहेंगी——यह सब पहलेसे ही तय हो चुका है। 'युक्लिड' की 'भूमिति' की तरह क्रांतिका एक सुव्यवस्थित शास्त्र इतिहासके निरीक्षण और गवेषणासे इन्हें प्राप्त हुआ है। क्रांति पहले कहाँ-कहाँ होगी, इसकी

भविष्यवाणी भी मार्क्सने कर दी थी, यद्यपि वह सच साबित नहीं हुई। लेकिन वह तो ज्योतिषके भविष्य-कथनकी तरह थोड़ी-सी नजर-चूक ही हो गयी है। उतनेसे फलित-ज्योतिषका शास्त्र निष्फल नहीं माना जाता। यमराजका आमंत्रण जिस प्रकार टाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार क्रांतिका भविष्य भी टाला नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिमें उसमें भाग लेना, उसमें हाथ बँटाना ही हमारे हाथमें है और इतना ही हमारा काम है।

ऐसी इस आत्यंतिक निष्ठाके साथ गांधी-विचारका मेल नहीं बैठ सकता।

बद्ध शास्त्र और मुक्त विचार

कहते हैं, वाल्मीकिने रामचरित्र पहलेसे ही लिख रखा था और बादमें रामचन्द्रजी अक्षरशः उसके अनुसार चले। इस कारण उन्हें रत्तीभर भी अड़चन नहीं हुई। पुस्तकमें देखते चले और कार्य करते चले। परिणाम भी लिखा-लिखाया था। इसलिए उसकी चिन्ता करनेका भी कारण नहीं रहा। ऐसी ही साम्यवादियोंकी स्थिति है। मार्क्सने जो लिखा, वह लेनिनने किया। हमें भी उसके पीछे चलते-चलते मुकामपर पहुँचना है। मार्क्सके लिखने और लेनिनके करनेमें कहीं-कहीं भेदका आभास होता है, कभी-कभी उतनी एकवाक्यता करके दिखानेका प्रयास करना पड़ता है। वह भी अधिक कठिन काम नहीं होता; क्योंकि यह निश्चित है कि श्रुति-वचनके अनुसार ही स्मृति होनी चाहिए। इसलिए अगर स्मृति-वचन अधिक स्पष्ट हो, तो उसके अनुसार श्रुतिका अर्थ कर लेनेसे काम हो जाता है। इतना किया कि सब तरफसे 'लाइन क्लीअर'—रास्ता साफ!

गांधी-विचारकी दशा ठीक इससे उलटी है। साम्यवाद अगर पक्की संगीन इमारत है, तो गांधीवाद सारा खोखला तहखाना! गांधीजीके वचनोंको देखें, तो उनका भी विकास हुआ है। बादके वचनके विरुद्ध पहलेका कोई वचन मिल जाय, तो उन दोनोंका मेल बैठानेकी कोशिश न करते बैठो; बादका वचन ग्रहण करके पिछला छोड़ दो—यह कहकर गांधीजी छुट्टी पा जाते हैं। उनकी बड़ी-से-बड़ी लड़ाईमें न तो कोई पूर्वयोजना होती थी, न तन्त्र और न कोई रचना ही। 'एक कदम काफी है' कहनेवालेको भगवान् दो कदम बतलाये किसलिए? खैर, 'बादके वचन भी क्या प्रमाण माने जायँ?' इसपर गांधीजीका जवाब है: "वचनोंको प्रमाण मानो ही मत। अपनी अक्लसे काम लो। जबतक मैं हूँ, मुझसे पूछो। मेरे बाद तुम सब लोग सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो।" इसलिए उनके अनुयायियोंमें भी किसीका किसीके साथ मेल नहीं बैठता। एक बार एक सज्जनने विनोदमें मुझसे कहा था: "गांधीजी गीता-भक्त थे और उनके निकटके सहकारी भी गीता-भक्त हैं। सभीने गीतापर कुछ-न-कुछ लिखा है। लेकिन किसी एकका भी गीतार्थ दूसरेके गीतार्थसे मेल नहीं खाता।" इस विनोदको

हम भूल जायँ, क्योंकि उससे गीताके शब्दोंकी व्यापकता प्रकट होनेके सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होता। परन्तु यह बात तो सच है कि जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी प्रश्नपर, यहाँतक कि खादी जैसे सर्वोदय-विचारके मूलभूत विषय-पर भी, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गांधीजीके सारे निकटके साथी एक ही नीति दरसायेंगे। इसीलिए जब किसीने सुझाया कि गांधीजीको अपने विचार शास्त्रीय परिभाषामें रख देने चाहिए, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि "एक तो मुझे वैसा करनेके लिए फुरसत नहीं। दूसरे, मेरे प्रयोग अभी चल रहे हैं। उनमें-से शास्त्र धीरे-धीरे जब बनेगा, तब बनेगा।" उनके दिये हुए कारण बिलकुल ठीक थे। परन्तु और भी एक कारणसे मुझे उनका जवाब ठीक जँचा। शास्त्रीय परिभाषा बनानेसे क्या होगा? इतना ही कि उसकी विरोधी शास्त्रीय परिभाषा-को जवाब मिलेगा। लेकिन जिस प्रकार शस्त्र-बलसे शस्त्र-बल क्षीण नहीं होता, बल्कि बढ़ता है और एक ही समस्यामेंसे अनेक समस्याओंको जन्म देता है, उसी प्रकार एक परिभाषासे दूसरी परिभाषाको लड़ा देनेसे स्पष्टीकरण होनेके बदले उलझनें ही ज्यादा बढ़ती हैं। इसलिए विचारको परिभाषाके चौखटेमें ठोंक-पीटकर बैठानेके बदले उसे उन्मुक्त रहने देना ही अधिक लाभकारी होता है। परन्तु उसमेंसे विसंवादी स्वर निकलते हैं और बुद्धके अनुयायियों जैसी गति होती है। उसमें जिस तरह चार शिष्योंने चार रास्ते लिये, उसी तरह इसमें दस आदमी दस दिशाओंमें चले जाते हैं। ऐसी स्थितिमें, जैसा कि गांधीजीने कहा है, "हरएकको अपनी अक्ल चलानी चाहिए", यही सच्चा उपाय है।

तीन गांधी-सिद्धान्त

गांधी-विचारका खुला और लचीलापन कायम रखकर उसे कुछ व्यवस्थित रूप देनेका श्री किशोरलालभाईने प्रयत्न किया है : १. वर्णव्यवस्था, २. विश्वस्त-वृत्ति (ट्रस्टीशिप) और ३. विकेन्द्रीकरण—इन तीन विषयोंको मिलाकर उन्होंने एक ढाँचा बनाया है। आइये, उसपर थोड़ी निगाह डालें।

१. वर्ण-व्यवस्थाकी पुरानी कल्पनामें नया अर्थ भरकर अथवा उस कल्पनामें निहित मूलभूत विचारको ध्यानमें रखकर गांधीजीने उसे स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ कि यह उनका एक अहिंसाका प्रयोग है। किसी समाजमें आदरणीय बने शब्दों और कल्पनाओंको अमान्य करनेके बदले उन्हें मान्य रखकर उनके अर्थका विकास करना, उन्हें विकसित रूप देना और उनमें नवजीवन डालना अहिंसाकी प्रक्रिया है। भारतीय परम्परामें उतरा हुआ समन्वयका सारा विचार इसी अहिंसाकी प्रक्रियासे निकला है। इस प्रक्रियामें पुराने शब्दोंमें नया अर्थ भरनेका भान भी नहीं होता। पुराने शब्दोंके मूल अर्थको सिर्फ चमका देनेका आभास होता है। गीताने 'यज्ञ' आदि शब्दोंके अर्थोंमें विकास कर इस पद्धतिका उदाहरण

हमारे समक्ष रखा है। इस प्रक्रियामें शब्दोंकी खींचतान होनेका बहुत डर रहता है। ऐसा होनेपर वह अहिंसाके प्रयोगके बदले असत्यका प्रयोग बन जाता है। शब्दोंकी खींचतान किये बिना मुक्त आदरसे शब्दार्थका स्वल्पमात्र दोहन किया जाय, तो वह अहिंसाकी प्रक्रिया होगी। गांधीजी भारतीय संस्कृतिमें जनमे और पल-पुसकर बड़े हुए। वे मुख्यतः उसी संस्कृतिमें रमी हुई जनताके लिए बोलते थे। मैं समझता हूँ कि इसीलिए उन्होंने वर्ण-समाजकी कल्पनाको स्वीकार किया। दूसरी भाषामें कहा जाय, तो यदि वे दूसरे किसी समाजमें पैदा हुए होते और उसी समाजके लिए बोले होते, तो अहिंसक समाज-रचनाके अनिवार्य अंगके रूपमें 'वर्ण-व्यवस्था' शब्द और उसकी कल्पना उनके मनमें स्वतंत्र रीतिसे आती ही, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना कह सकते हैं कि इस कल्पनाका उन्होंने जो सार ग्रहण किया, वह उस हालतमें भी दूसरे किसी शब्दके द्वारा उन्हें ग्रहण करना ही पड़ता। मेरा आशय यह है कि जिन्हें 'वर्ण' और 'वर्ण-व्यवस्था' शब्द ही पसन्द नहीं है, उन्हें गांधीजीके इन शब्दोंका प्रयोग करनेपर चौंकनेकी जरूरत नहीं। यहाँ शब्दोंका आग्रह नहीं, उनके सारसे मतलब है।

१. मजदूरी (पारिश्रमिक) की समानता; २. होड़ (प्रतियोगिता) का अभाव और ३. आनुवंशिक संस्कारोंसे लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजना—यही वर्ण-व्यवस्थाका सार है। हमारी दृष्टिसे अहिंसक समाज-रचनामें इतना ही अभिप्रेत है।

२. वर्ण-व्यवस्थाकी तरह ही 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्तकी बात है। यह शब्द भी बहुतेरोंको अच्छा नहीं लगता। 'वर्ण-धर्म' शब्द मूलमें निःसन्देह एक सद्-विचार और सुयोजनाका द्योतक है। ट्रस्टीशिपके सिद्धान्तके बारेमें कदाचित् निश्चयपूर्वक वैसा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् यह शब्द जबसे पैदा हुआ, तभीसे इसका दुरुपयोग भी शुरू हुआ है। किन्तु कानूनकी भाषामें उसका अच्छे अर्थमें प्रयोग हुआ है। गांधीजी कानूनके अच्छे अभ्यासी थे, इसलिए उस शब्दको उन्होंने पकड़ लिया; और चूँकि वे सत्योपासक थे, इसलिए उन्होंने उसका मूल शुद्ध अर्थ अपने हृदयमें रख लिया। मैं कानूनका अभ्यासी नहीं। इसलिए गांधीजीके इस शब्दका प्रयोग करनेपर भी उसे पकड़ नहीं सका और न मुझे वह आकृष्ट ही कर सका। फिर भी गांधीजीने जिस अर्थमें उस शब्दका प्रयोग किया, उस अर्थके विषयमें मुझे गलतफहमी नहीं हुई। गीताके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दोंने गांधीजीके मनको मजबूतीसे पकड़ लिया। जब वे इसका चिन्तन करने लगे कि इस वृत्तिका व्यवहारमें आचरण किस तरह किया जाय, तो उन्हें कानूनके 'ट्रस्टी' शब्दकी मदद मिली। गांधीजीने 'आत्मकथा' में कहा है कि "गीताके अध्ययनसे 'ट्रस्टी' शब्दके अर्थपर विशेष प्रकाश पड़ा और उस शब्दसे अपरिग्रहकी समस्या हल हुई।" सारांश, गांधीजीकी दृष्टिसे समाजकी आजकी ही नहीं, किसी भी

परिस्थितिमें देहधारी मनुष्यके लिए अपनी शक्तियोंका ट्रस्टीके नाते उपयोग करना ही अपरिग्रह सिद्ध करनेका व्यावहारिक उपाय है।

संपत्तिकी विषमता कृत्रिम व्यवस्थाके कारण पैदा हुई है, ऐसा मानकर उसे छोड़ दें, तो भी मनुष्योंकी बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियोंकी विषमता पूरी तरह दूर नहीं हो सकती। शिक्षण और नियमनसे यह विषमता भी कुछ अंश-तक कम की जा सकती है, ऐसा हम मान लें। किन्तु आदर्श स्थितिमें भी इस विषमताके सर्वथा अभावकी कल्पना नही की जा सकती। इसलिए बुद्धि, शरीर और सम्पत्ति, इन तीनोमेंसे जिसे जो प्राप्त हो, उसे यही समझना चाहिए कि वह सबके हितके लिए ही उसे मिली है। इसीको अच्छे अर्थमें 'ट्रस्टीशिप' कहेंगे। लेकिन यह शब्द दुर्जनोंके हाथमें पड़कर इतना पतित हो गया है कि उसका उद्धार अब असम्भव-सा है। इसलिए उसकी जगह मैंने 'विश्वस्त-वृत्ति' जैसे भाववाचक संज्ञापदकी योजना की है। कोई किसीके भरोसे न जीये, इस तत्त्वको हम सामान्यतः स्वावलम्बनके तत्त्वके नाते मान्य करेंगे। किन्तु कोई किसीका भरोसा न करे, ऐसी स्थिति पैदा हो जाय, तो वह एक नरककी योजना होगी। माँ-बापको सन्तानपर, सन्तानको माँ-बापपर, पड़ोसियोंको पड़ोसियोंपर-- इतना ही नहीं, भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंको भी एक-दूसरेपर विश्वास करना चाहिए। ऐसा विश्वास करनेमें हमें यदि भयकी आशंका हो, तो उसका अर्थ यह होगा कि हम मानवतासे नीचेकी सतहपर विचार करते हैं। ऐसी 'विश्वस्त-वृत्ति' शिक्षणसे परिपुष्ट की जा सकती है। यह सब करनेके बदले सारे समाजको एक ही साँचेमे ढालकर यन्त्रवत् बना देनेमें विश्वास रखना, जिससे किसीपर विश्वास करनेका झंझट ही न रहे, बौद्धिक आलस्य होगा।

परस्पर विश्वासपर आधृत समाज-रचनाका अर्थ है, सबकी विविध शक्तियों-का सुसंवादी संयोजन। 'लोकसंग्रह' शब्दसे हम यही अर्थ दरसाते हैं। 'व्यक्ति-गत अपरिग्रह' का अर्थ है, विश्वस्त-वृत्तिसे अपनी शक्तिका सबके भलेके लिए उपयोग करना। यह लोकसंग्रहका एक मूलभूत तत्त्व है। हमारा इतना ही कहना है कि 'ट्रस्टीशिप' शब्द पसन्द न हो, तो भले ही उसे छोड़ दीजिये, लेकिन यह मूलभूत तत्त्व न छोड़िये।

३. विकेन्द्रीकरणकी बात बिलकुल ही अलग है। वह शब्द नया होनेके कारण उसके साथ भले-बुरे कुछ भाव अथवा संस्कार लगे नहीं हैं। जिस प्रकार यह शब्द नया है, उसी प्रकार उसका अर्थ यानी उसके पीछेकी कल्पना भी नयी है। कोई पूछेंगे कि यंत्र-युगके आनेसे पहले जब सारा विकेन्द्रीकरण ही था, तो फिर उसमें नया क्या है? लेकिन यंत्र-युगसे पहले विकेन्द्रीकरण नहीं था, बल्कि सब विकेन्द्रित था। गाँवोंमें सारे उद्योग विकेन्द्रित रूपमें चलते रहे, तो उतनेसे ही विकेन्द्रीकरण हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विकेन्द्रीकरणमें विकेन्द्रित

उद्योगोंके साथ-साथ समग्र दृष्टिकी एक व्यापक योजना गृहीत है। वैसी योजनाके अभावमें विकेन्द्रित उद्योगोंका अर्थ 'बिखरे हुए उद्योग' होगा। ऐसे बिखरे हुए उद्योग यंत्र-युगके पहले थे। स्वाभाविक रूपमें यंत्र-युगकी पहली चोट लगते ही वे छिन्न-भिन्न होने लगे। इसके विपरीत विकेन्द्रीकरणकी व्यवस्था छिन्न-भिन्न होनेवाली नहीं, बल्कि यंत्र-युगको छिन्न-भिन्न करनेवाली है। आजका यंत्र-युग नामसे तो 'यंत्र-युग' है, किन्तु वस्तुतः वह अत्यन्त अयंत्रित है। उसके बदले, साम्यवादी 'सुयंत्रित यंत्र-युग' चाहते हैं। किन्तु शस्त्रोंकी तरह यंत्र भी मनुष्यके खोजे हुए ही क्यों न हों, किन्तु अपने-आपमें वे अमानवीय ही हैं। इसलिए उनका मानवीयकरण एक हदसे आगे नहीं हो सकता। उलटे वे मानवको अपना खिलौना बना लेते हैं। यहाँ 'शस्त्र' शब्दका अर्थ 'संहारक शस्त्र' ही समझना चाहिए, किसी 'सर्जन' के हाथमें रहनेवाला उपकारक शस्त्र नहीं। इसी प्रकार 'यंत्र' शब्दका अर्थ 'मनुष्य को बेकार, आलसी या जड़ बनानेवाला लुटेरा यंत्र' ही समझना चाहिए। उसका अर्थ मनुष्यकी मददके लिए दौड़कर आनेवाले उपकरणके रूपमें उसके हाथमें शोभा देनेवाला तथा मानव-स्वभावकी भावना (स्पर्श) पाया हुआ 'भावित औजार' नहीं समझना है। एक ही उदाहरण देना हो, तो 'ह्वील बेरो' (एक चक्रवाली हाथ-गाड़ी) का दे सकते हैं। हम जो कुआँ खोद रहे हैं, उसका मलवा ढोनेके लिए वह हमारी कितनी मदद करता है, इसका मैं हर रोज अनुभव करता हूँ। उसे देखकर सेनापति बापटके गीतकी कड़ी मैं गुनगुनाया करता हूँ: **'धन्य, धन्य यह औजार।'** वह भी यंत्र-युगका दिया हुआ है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि विकेन्द्रीकरण यंत्र-युगको तोड़ देगा, तब हमारा मतलब यह होता है कि यंत्र-युगसे इस तरह लाभ उठाकर हम उसे तोड़ देंगे। इस तरहका लाभ उठाये बिना यंत्र-युग तोड़ा भी नहीं जा सकता। लेकिन इस तरहकी शक्ति, यंत्र-युगको हजम कर लेनेकी ताकत, पुराने विकेन्द्रित उद्योगोंमें नहीं थी। 'विकेन्द्रित' उद्योगों और 'विकेन्द्रीकृत' उद्योगोंमें यह एक बड़ा मूलभूत शक्ति-भेद है। इसलिए 'विकेन्द्रीकरण' शब्द और उसके द्वारा सूचित कल्पना दोनों नये ही हैं। अगर इस विश्लेषणपर ध्यान दिया जाय, तो विकेन्द्रीकरणके विरुद्ध किये जानेवाले बहुत-से आक्षेप चट्टानपर चलायी गयी तलवारकी धारकी तरह भोंथरे हुए बिना रहेंगे।

किंतु विकेन्द्रीकरण केवल उद्योगतक ही सीमित नहीं रहता। विकेन्द्रीकरण-की प्रक्रिया राज्यसत्ताके लिए भी लागू होती है। अहिंसक समाज-रचनाकी घोषणा करनेवाले विचारकोंको भी कभी-कभी इस बातका ध्यान नहीं रहता। वे औद्योगिक विकेन्द्रीकरणका समर्थन कर उसीके रक्षणके लिए मजबूत केन्द्रीय सत्ताकी (अवसर बीचके समयके लिए) कभी-कभी माँग करते हैं। साम्य-वादियोंकी कल्पनामें भी राज्यसत्ता आखिर कड़ी गर्मीमें रखे हुए घीकी तरह

पिघल जानेवाली है। पर उससे पहले उन्हें वह जमे हुए घीकी तरह ही नही, वल्कि ट्रॉटस्कीके सिरमें मारे हुए लोहेके हथौड़े जैसी ठोस और मजबूत चाहिए। 'वीचके समय' के लिए मजबूत केन्द्रीय सत्ताकी परस्पर-विरोधी दलीलोंकी यह कसरत ठेठ पुराने जमानेसे लेकर आजतकके प्रायः सभी 'जिम्मेदार' महाजन करते आये हैं। किन्तु केवल गांधीजीने ही आदि, मध्य और अन्त--तीनों कालोंके लिए सत्ताके विकेन्द्रीकरणकी योजनाकी कल्पना की है। लेकिन हमारे ये मित्र कहते हैं: "उसे आप चाहे 'रामराज्य' की कल्पना मानकर पुराने त्रेतायुगमे ढकेल दें या भावी 'सर्वोदय' की योजना समझकर भविष्यकालको सौंपें, परन्तु फिलहाल यह भाषा न वोलें।"

गरीवी मिटानेकी उत्कटता

गांधीवाद और साम्यवादमें अनेक वातोंपर विरोध होते हुए भी कुछ समान अंश हैं और वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। राम-रावणमें भी कविको 'रकार साम्य' दिखायी दिया। फिर ये तो प्रकट रूपमें सद्भावनासे प्रवृत्त लोककल्याण चाहनेवाले 'वाद' हैं। भला इनमें समान अंश कैसे न होगा? गरीबोंका पक्ष लेना, दोनोंका स्थायी भाव है। 'अनेक गुणोंमें एकआध दोष सहज ही विलीन हो जाता है; वल्कि उसके कारण गुणसमूह और भी सुशोभित हो उठता है', इस आशयका कालिदासका एक श्लोक है: **एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः**। (कुमारसम्भवम् १-३)। परन्तु इसके विपरीत एक-आध उत्कृष्ट गुणमें भी सारा दोष-समूह छिप सकता है। उत्कट गुणकी इतनी बड़ी महत्ता है। आज संसारभरमें गरीबोंकी ऐसी दीन दशा है कि माताके जैसी उत्कट तल्लीनतासे उन्हें सँभालनेकी ही नही, वल्कि उनकी सर्वांगीण उन्नति करनेकी हिम्मत और उत्साह-उमंग जो रखेगा, उसने मानो "सर्व दोषोंका नाश करनेवाले हरि-नामके टक्करका गुण संपादित कर लिया", ऐसा ही कहना होगा।

गांधी-विचार और साम्यवाद माताकी उत्कट ममतासे गरीबोंका उद्धार करना चाहते हैं। किन्तु कई बार माताकी पगली ममता त्वरित परिणामके चक्करमें पड़कर स्थायी परिणामकी तरफ ध्यान नहीं देती। वही हालत साम्यवादकी हुई है। केवल माताकी उत्कट ममतासे कठिनाई दूर नहीं हो सकती। उत्कटतामेंसे केवल कठिनाई दूर करनेकी उत्कंठा पैदा होती है; लेकिन कठिनाई दूर करनेके लिए गुरुकी कुशलताकी जरूरत पड़ती है।

हिंसाका परिणाम

एक उत्कट किन्तु विचार-शून्य न वने हुए साम्यवादीसे मेरी चर्चा हो रही थी। मैंने पूछा: "क्या हिंसा आम जनताकी शक्ति कही जायगी?" वे बोले:

"आमतौरपर नहीं कही जायगी, पर विशेष प्रसंगमें और विशेष उपायोंसे हिंसाके लिए जनताको तैयार किया जा सकता है।"

मैंने कहा : "मान लीजिये, प्रसंग-विशेषके लिए वह तैयार की जा सके, तो भी उसका उपयोग क्या है? एक बार कमायेंगे और हमेशा खायेंगे, ऐसा तो होगा ही नहीं। जो शक्ति हमारे स्वभावमें नहीं, उसका बरबस स्वांग रचें, तो भी आखिर जिनके स्वभावमें ही वह शक्ति है, उन्हीं लोगोंके हाथमें सत्ता रहेगी। अच्छा, जनताका स्वभाव ही बदलनेकी बात कहें, तो एक तो वह बात अशक्य है। फिर मान लीजिये कि शक्य हुई, यानी सारा समाज क्रूर स्वभावका बन गया, तो वह एक अत्यन्त भयानक घटना होगी। एसी घटना, जिसके परिणाम आपकी अपेक्षा या कल्पनासे भी कहीं ज्यादा भयानक होंगे।"

उन्होंने कहा : "होने दीजिये। परन्तु आजकी स्थिति तो बदले। आगेका आगे देख लेंगे।"

मैंने कहा : "यह वैज्ञानिक बुद्धिकी भाषा नहीं, व्याकुल बुद्धिकी भाषा है, जब कि साम्यवादी वैज्ञानिक बुद्धिका दावा किया करते हैं।"

वे बोले : "जी हाँ, करते हैं; क्योंकि वे ऐसी घोषणा करते हैं कि 'एक बार सत्ता हाथमें आनेपर हमेशाके लिए व्यवस्था कर डालेंगे।' 'हमेशाकी व्यवस्था' की भाषा मुझे नहीं जँचती, क्योंकि संसारमें कुछ भी हमेशाके लिए नहीं ठहर सकता। फिर भी श्रीमानोंको एक बार श्रीहत तो करना ही चाहिए। आगेका प्रश्न आगेकी पीढ़ियाँ हल करती रहेंगी।"

साम्यवादी लोग इस भाईको कच्चा साम्यवादी समझेंगे। मैं उसे 'भ्रांतिकी स्थितिमें भी होशवाला आदमी' समझता हूँ। हमेशाकी अव्यवस्थाका पुख्ता बन्दोबस्त साम्यवादी तत्त्वज्ञानने किया हो, तो भी उसने वह एक 'अफीमकी गोली' ही खोज निकाली है। सर्वसामान्य साम्यवादियोंकी भूमिका 'तुरत दान महाकल्याण' की ही होती है। माताकी व्याकुलता उसमें अवश्य दिखायी पड़ती है, लेकिन गुरु-माताकी कूर्मदृष्टि नहीं दीखती।

दो साधन : कांचनमुक्ति और श्रम

जो भी हो, भारतवर्षकी अज्ञ जनता आज स्वराज्य-प्राप्तिके बाद भी अत्यन्त दयनीय दशामें है। वह किसी भी तरह उससे छुटकारा पाना चाहती है। भिन्न-भिन्न वादोंका विचार करनेकी उसमें शक्ति नहीं और न उसे इतनी फुरसत ही है। जो उसकी मिन्नत पूरी करे, वही उसका देव, ऐसी स्थिति है। यह न भूलना चाहिए कि साम्यवादका विरोध करने, उसका तात्त्विक उत्तर देने या सत्ताके बलपर उसका दमन करनेसे काम नहीं चलेगा। जिस तरह बरसातमें नदी-नाले सब तरफसे उमड़कर समुद्रकी तरफ दौड़ते हैं, उसी तरह स्वराज्य-

कालमें सभी सेवकोंकी सेवा ग्रामीण और आपद्ग्रस्त जनताकी तरफ दौड़ जानी चाहिए।

सुदैवसे इतनी आपत्तिमें भी जनताका हृदय अभी दूषित नहीं हुआ है। देहातके लोगोमें आज भी ऐसी श्रद्धा है कि अगर कभी हमारा उद्धार होगा, तो गांधीजीके मार्गसे ही होगा। आजकी सरकार गांधीजीके सहयोगियोंकी सरकार है। देशकी सबसे बड़ी संस्था 'कांग्रेस' है। वह भी गांधीजीकी बढ़ायी हुई है। सर्वोदयवाले रचनात्मक कार्यकर्ता तो मानो गांधी-विचारका ध्वज ही फहराते हैं। भारतके समाजवादी भी गांधीजीकी ही प्रजा (संतान) हैं, जिन्होंने इस देशमें 'सत्याग्रही समाजवाद' स्थापित करनेकी घोषणा की है। ये दोनों, तीनों या चारों—मिलकर अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार, अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुरूप, किन्तु सहविचारसे जनताकी सेवामें जुट जायँ, तो दैन्य, दारिद्र्य और दुःख कहाँ टिकेंगे? लेकिन इन चारोंने आज चार रास्ते पकड़ लिये हैं और वह पाँचवाँ दौड़कर आ रहा है। पाँचवाँ कौन? उपनिषदोंकी भाषामें 'मृत्युर्धावति पञ्चमः'—पाँचवाँ दौड़नेवाला मृत्यु है।

एक कहता है: "आदमी सचमुच भूखों मर रहे हैं।" दूसरा जवाब देता है: "भूखों नहीं मर रहे हैं। किसी-न-किसी बीमारीसे मर रहे हैं।" भूखोंको भी मरनेसे पहले कोई-न-कोई बीमारी पकड़ ही लेती है! जैसा कि स्वामी रामदासने कहा है:

> "कांहीं मिळेना मिळेना मिळेना खायाला;
> ठाव नाहीं रे नाहीं रे नाहीं रे जायाला।
> हौस कैंची रे कैंची रे कैंची रे गायाला;
> कोठें जावें रे जावें रे जावें मागायाला?"

—'कुछ खानेके लिए नहीं मिलता, नहीं मिलता, नहीं मिलता। जानेके लिए कोई ठौर नहीं है, नहीं है, नहीं है। गानेकी तमन्ना कहाँसे हो, कहाँसे हो, कहाँसे हो? माँगनेके लिए कहाँ जायँ, कहाँ जायँ, कहाँ जायँ?'

ऐसी हालत हो रही है।

किन्तु इसके लिए मैं किसीको दोष नहीं देता और न निराश ही होता हूँ। दोष इसलिए नहीं देता कि देश बड़ा तो है ही, उसके प्रश्न भी बड़े हैं। फिर मतभेद भी बड़े हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। निराश भी नहीं होता। जबतक मेरे हाथमें कुदाली है, मैं निराश क्यों होऊँ? हमारे आश्रममें चर्चा चली कि "जगह-जगह कुएँ खोदेंगे, तो अधिक पैदावार हो सकेगी, भुखमरी टलेगी। सरकारको इस दिशामें विचार करना चाहिए।" मैंने कहा: "हम ही तो सरकार हैं। सरकार और कौन है? आओ, हम ही खोदने लगें।" कुआँ खोदना

शुरू किया। खोदनेवालोंको रत्तीभर भी अनुभव नहीं था। लेकिन कुदाली अपना काम करती रही। खोदनेवालोंको पानीका पता नहीं था, कुदालीको था। वह खोदती चली। देखते-देखते पानीने दर्शन दिये। आसपासके लोग तीर्थ-जल मानकर उसका प्राशन करने लगे। तब उस गाँवका पटेल बोला: "बूढ़े कोटीबाबा (पवनार के लगभग ८० वर्षके एक कार्यकर्ता और भक्त) भी कुएँपर काम करने लगे, तो फिर हम भी कुआँ क्यों न खोदें ?" उसने अपने गाँवमें कुआँ खोदना शुरू किया और सुरगाँवके युवक लड़कोंने तो कमाल ही कर दिखाया। वे बोले: "दीवालीके दिन हैं। हम लोग बाबाजीके कुएँ-पर काम करने चलें।" हमें बगैर सूचना दिये दस-पन्द्रह युवक हमारे कुएँपर आकर उपस्थित हुए और चार घंटेका श्रम-दान देकर बगैर किसी दिखावे या विज्ञापनके लौट गये। जनताके हृदयमें जब ईश्वर इतनी दिव्य प्रेरणा जगा रहा है, तो कोई निराश क्यों हो ? रामदास पूछते हैं: "माँगनेके लिए कहाँ जायँ, कहाँ जायँ, कहाँ जायँ?" माँगनेके लिए जायँ कहाँ ? अमेरिकाके पास ? दूसरे देशोंके सामने क्या स्वराज्य भोगनेवाले लोग हाथ पसारें ? आओ, हम श्रमदेवताकी उपासना करें और उसीसे माँगें। वह कह रहा है: "माँगो तो मिलेगा, खोजो तो हासिल होगा।"

कम-से-कम मुझे तो आज 'कांचन-मोह-मुक्ति' और 'शरीर-परिश्रम' में ही भारतका उद्धार दिखाई देता है। इसीमें गांधी-विचारका सार दिखायी देता है। साम्यवादसे उसका मेल दिखायी देता है। उसीमें साम्यवादका हल दिखायी देता है और उसीमें पूंजीवादका भी।*

---

* श्री किशोरलालभाईकी 'गांधीजी अने साम्यवाद' नामक पुस्तककी मूल मराठी प्रस्तावनाका हिन्दी रूपान्तर।

परंधाम, पवनार, २५-११-'५०.

२. तीसरी शक्ति

दण्ड-शक्तिसे भिन्न अहिंसक शक्ति

यह कार्यकर्ताओंकी जमात है। सर्वोदय-सम्मेलनमें हम लोग इसलिए एकत्र होते हैं कि सालभर जो कुछ काम किये हों, नारायणको समर्पित कर दें और अगले वर्षके कामके लिए कुछ पाथेय साथ ले जायँ। ऐसे मौकोंपर हमें 'कार्य-पद्धति', 'कार्यक्रम' और 'कार्य-रचना', तीनोंपर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

विश्वकी स्थिति और हम

हम दुनियाके किसी भी भागमें क्यों न काम करते हों, आज दुनियाकी ऐसी हालत नहीं कि सारी दुनियापर नजर डाले बगैर हमारा काम चल जाय। दुनियामें जो ताकतें काम कर रही हैं, जो नये प्रवाह शुरू हैं, कल्पनाओं और भावनाओंका जो संस्पर्श और संघर्ष हो रहा है, उनपर सतत दृष्टि रखकर ही जो भी छोटा-सा कदम हम उठाना चाहें, उठा सकते हैं। आज हम देख रहे हैं कि दुनियाकी हालत बहुत अस्थिर है। इतना ही नहीं, बहुत कुछ स्फोटक भी है। कहा नहीं जा सकता कि दुनियामें किस क्षण क्या होगा। ऐसी अस्थिर मन:स्थिति और परिस्थिति आज दुनियामें है।

एक-दो महीने पहलेकी बात है। दिल्लीमें कुछ ज्ञानी, विद्वान् एकत्र हुए थे और उन्होंने अहिंसा-दर्शनके बारेमें कुछ चिन्तन-मनन और विचार किया। उसमें हमारे पू० राजेन्द्रबाबूने कहा था कि "आज कोई भी देश यह हिम्मत नहीं कर रहा है कि हम सैन्यके बगैर राज्य चलायेंगे।" उन्होंने इस बातपर दु:ख भी प्रकट किया कि "बावजूद इसके कि गांधीजीकी शिक्षा हमने सीधे उनके श्रीमुखसे सुनी और बावजूद इसके कि हमने उनके साथ कुछ काम किया है, हिन्दुस्तान भी आज ऐसी हिम्मत नहीं कर सकता।" हमारे महान् नेता पण्डित नेहरू कई बार कह चुके हैं कि "दुनियाका कोई भी मसला शस्त्र-बलसे हल नहीं हो सकता।" हमारे ये भाई, जो देशका नेतृत्व कर रहे हैं और जिनपर यह जिम्मेदारी देशने डाली है, अहिंसाको दिलसे मानते हैं, उनका हिंसापर विश्वास नहीं है। फिर भी हालत यह है कि सेना बनाने, बढ़ाने और उसे मजबूत करनेकी जिम्मेदारी उन्हें उठानी पड़ रही है। इस तरह हम लोग बड़ी विचित्र स्थितिमें पड़ गये हैं।

बुद्धि और हृदय का द्वन्द्व

स्थिति यह है कि श्रद्धा एक वस्तुपर मालूम पड़ती है और क्रिया दूसरी ही करनी पड़ती है। हम चाहते तो यह हैं कि सारे हिन्दुस्तान और दुनियामें अहिंसा चले। हम एक-दूसरेसे न डरें, बल्कि एक-दूसरेको प्यारसे जीतें। प्यार ही कामयाब हो सकता और सबको जीत सकता है, ऐसा विश्वास दिलमें भरा है। फिर भी एक दूसरी चीज हममें है, जिसे 'बुद्धि' नाम दिया जाता है। वैसे वह भी हृदयका एक हिस्सा है और हृदय भी उसका एक हिस्सा है, यों दोनों मिले-जुले हैं; फिर भी हृदय कहता है कि हिंसासे कोई भी मसला हल नहीं होता। एक मसला हल होता-सा दीखेगा, तो उसमेंसे दूसरे दसों नये मसले पैदा होंगे। लेकिन बुद्धि तो तीनों गुणोंसे भरी है। उसमें कुछ विचारकी शक्ति है, कुछ आवरण भी है—कुछ दर्शन है, तो कुछ अदर्शन। ऐसी हमारी सम्मिश्र बुद्धि हमें कहती है कि "हम सेनाको हटा नहीं सकते। जिस जनता-के हम प्रतिनिधि हैं, वह जनता उतनी मजबूत नहीं और न उसमें वह योग्यता ही है। इसलिए उसके प्रतिनिधिके नाते हमपर यह जिम्मेदारी आती है कि हम सेना बनायें, बढ़ायें और उसे मजबूत करें।" ऐसी आज हालत है।

इच्छा होती है कि रचनात्मक कार्य करें, पर वह सिर्फ हृदयकी इच्छा है। बुद्धि कहती है कि "सेना बनानी होगी, इसलिए जिससे सेना-यन्त्र मजबूत बन सकेगा, ऐसे यन्त्रोंको भी स्थान देना होगा।" जिनकी चरखेपर श्रद्धा कम है, उनकी बात छोड़ देता हूँ; लेकिन जिनकी श्रद्धा चरखेपर है, उनसे यह सवाल पूछा जाता है कि क्या चरखा और ग्रामोद्योगके जरिये आप युद्ध-यन्त्र मजबूत बना सकते या खड़ा कर सकते हैं? तो उनकी बुद्धि—अर्थात् हमारी भी बुद्धि, क्योंकि उनमें हम भी सम्मिलित हैं—कहती है कि "नहीं, इन छोटे-छोटे उद्योगोंके जरिये हम युद्ध-यन्त्र सज्ज नहीं कर सकते।"

'कम्युनिटी प्रोजेक्ट'—सामुदायिक विकास—अभी तो थोड़े-से देहातोंमें आरम्भ हुआ है। लेकिन सरकार यही चाहती है कि वह पाँच लाख देहातोंमें चले। वह अधिक व्यापक बने और उसके जरिये राष्ट्र समृद्ध तथा लक्ष्मीवान् हो, देशकी गरीबी मिटे। पर कल अगर दुनियामें महायुद्ध छिड़ जाय, तो मैं कह नहीं सकता कि एक भी 'कम्युनिटी प्रोजेक्ट' जारी रहेगा। जिन्होंने इस योजनाका उपक्रम किया, वे भी नहीं कह सकते कि वह जारी रहेगा। तब फौरन् बुद्धि जोर करेगी और हृदय छिप जायगा। हृदयपर बुद्धि सवार हो जायगी और कहेगी कि "अब तो राष्ट्र-रक्षण ही मुख्य वस्तु है।"

जादूकी कुर्सी

यह मैं आत्म-निरीक्षणके तौरपर बोल रहा हूँ। जो आज जिम्मेदारीके

स्थानपर बैठे हैं, उनकी जगहपर अगर हम बैठते, तो अभी वे जो कर रहे हैं, उससे बहुत कुछ भिन्न हम करते, ऐसा नही है। वह स्थान ही वैसा है! वह जादूकी कुर्सी है! उसपर जो आरूढ़ होगा, उसपर एक संकुचित, सीमित, बने-बनाये और अस्वाधीन दायरेमें सोचनेकी जिम्मेदारी आ जाती है। लाचारी-से दुनियाका प्रवाह जिस दिशामें बहता दीख पड़ता है, उसी दिशामें सोचने-की जिम्मेदारी आती है। अमेरिका, रूस जैसे बड़े-बड़े राष्ट्र भी डरते है। पाकि-स्तान और हिन्दुस्तान जैसे कम ताकतवर राष्ट्र भी ऐसा ही डर रखते हैं। इस तरह एक-दूसरोंका डर रखकर शस्त्र-बल या सैन्य-बलसे कोई मसला हल नही हो सकता, यह विश्वास रखते हुए भी हम शस्त्र-बल और सैन्य-बलपर आधार रखते हैं। उसका आधार नहीं छोड़ सकते, ऐसी विचित्र स्थितिमें हम पड़े है। लाचारीसे कोई बात करनी पड़ती है, तो वह दाम्भिकता तो नहीं, बल्कि दयनीय स्थिति ही है। ऐसी दयनीय स्थितिमें हम लोग हैं।

हमारा सच्चा काम

अभी राजेन्द्रबाबूने बताया कि "सर्वोदय-समाजपर यह जिम्मेदारी है, क्योंकि लोगोंको उससे अपेक्षा है कि वह अपने मूल विचारपर कायम रहे और आजकी हालतमें उसे अमलमें लानेके लिए वातावरण तैयार करे। अगर सर्वोदय-समाज यह करेगा, तो आजकी सरकारको, जो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार है, उसकी सर्वोत्तम मदद होगी।" मान लीजिये, आज हममेंसे कोई मन्त्री बन जाय और कुछ मन्त्र-तन्त्र करने लगे, तो उसका वह मन्त्र और वह तन्त्र, दोनों आजकी सरकारको उतनी मदद न देंगे, जितनी मदद बिना सैन्य-बलका समाज बननेके काममें यत्न करनेवाला देगा।

कभी-कभी लोग मुझसे पूछते हैं कि आप बाहर क्यों रहते है? देशकी जिम्मेदारी आप ही क्यों नहीं उठाते? मैं कहता हूँ कि दो बैल जब गाड़ीमें लग चुके हैं, वहाँ मैं और एक तीसरा गाड़ीका बैल बनूं, तो उतनेसे गाड़ीको क्या मदद मिलेगी? अगर मैं यह रास्ता जरा ठीक बना सकूं, ताकि गाड़ी उचित दिशामें जाय, तो वह उस गाड़ीको मेरी अधिक-से-अधिक मदद होगी। हम 'स्वतन्त्र लोक-शक्ति' के निर्माण-कार्यमें लग जाना चाहिए। तभी हम आज सरकारकी सच्ची मदद और अपने देशकी समुचित सेवा कर सकेंगे।

दण्ड-शक्ति और लोक-शक्तिका स्वरूप

हमें 'स्वतन्त्र लोक-शक्ति' का निर्माण करना चाहिए--ऐसा कहनेसे मेरा मतलब यह है कि हिंसा-शक्तिकी विरोधी और दण्ड-शक्तिसे भिन्न, ऐसी लोक-शक्ति हमें प्रकट करनी चाहिए। हमने आजकी अपनी सरकारके हाथ

दण्ड-शक्ति सौंप दी है। उसमें हिंसाका एक अंश जरूर है, फिर भी हम उसे 'हिंसा' कहना नहीं चाहते। उसका एक अलग ही वर्ग करना चाहिए, क्योंकि वह शक्ति उसके हाथमें सारे समुदायने सौंपी है, इसलिए वह निरी हिंसा-शक्ति न होकर दण्ड-शक्ति है। उस दण्ड-शक्तिका भी उपयोग करनेका मौका न आये, ऐसी परिस्थिति देशमें निर्माण करना हमारा काम है। अगर हम ऐसा करें, तो कहा जायगा कि हमने स्वधर्म पहचानकर उसपर अमल करना जाना। अगर हम ऐसा न कर दण्ड-शक्तिके सहारे ही जन-सेवा हो सकनेका लोभ रखें, तो जिस विशेष कार्यकी हमसे अपेक्षा की जा रही है, वह पूरी न होगी। सम्भव है कि हम भाररूप भी सिद्ध हों।

दण्ड-शक्तिके आधारपर सेवाके कार्य हो सकते हैं और वैसा करनेके लिए ही हमने राज्य-शासन चाहा और हाथमें भी लिया है। जबतक समाजको वैसी जरूरत है, उस शासनकी जिम्मेवारी भी हम छोड़ना नहीं चाहते। सेवा तो उससे जरूर होगी; पर वैसी सेवा न होगी, जिससे दण्ड-शक्तिका उपयोग ही न करने-की स्थिति निर्माण हो। मान लीजिये, लड़ाई चल रही है और सिपाही जख्मी हो रहे हैं। उन सिपाहियोंकी सेवाके लिए जो लोग जाते हैं, वे भूतदयासे परिपूर्ण होते हैं। वे शत्रु-मित्रतक नहीं देखते और अपनी जान खतरेमें डालकर युद्ध-क्षेत्रमें पहुँचते हैं। वे वैसी ही सेवा करते हैं, जैसी माता अपने बच्चोंकी करती है। इसलिए वे दयालु होते हैं, इसमें कोई शक नहीं। वह सेवा कीमती है, यह हर कोई जानता है। फिर भी युद्धको रोकनका काम वे नहीं कर सकते। उनकी वह दया युद्धको मान्य करनेवाले समाजका एक हिस्सा है। एक ही युद्ध-यन्त्रका एक अंग है कि सिपाहियोंको कत्ल किया जाय और उसीका दूसरा अंग है, जख्मी सिपाहियोंकी सेवा करें। उनकी परस्पर-विरोधी दोनों गतियाँ स्पष्ट हैं। एक क्रूर कार्य है, तो दूसरा दयाका कार्य, यह हर कोई जानता है। पर उस दयालु-हृदयकी वह दया और उस क्रूर-हृदयकी वह क्रूरता, दोनों मिलकर युद्ध बनता है। दोनों युद्ध चालू रखनेवाले दो हिस्से हैं। वैज्ञानिक कठोर भाषामें कहना हो, तो युद्धको जबतक हमने कबूल किया है, तबतक चाहे हम उसमें जख्मी सिपाहीकी सेवाका पेशा लिये हों, चाहे सिपाहीका पेशा दोनों तरहसे हम युद्धके अपराधी हैं। यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि हम सिर्फ दयाका कार्य करते हैं, इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि हम दयाका राज्य बना सकेंगे। राज्य तो निष्ठुरताका ही रहेगा। उसके अन्दर दया, रोटीके अन्दर नमक जैसी रुचि पैदा करनेका काम करती है। जख्मी सिपाहियोंकी उस सेवा-से हिंसामें लज्जत, युद्धमें रुचि पैदा होती है, पर उस दयासे युद्धका अन्त नहीं हो सकता। अगर हम उस दयाका काम करें, जो निष्ठुरताके राज्यमें प्रजाके नाते रहती और निर्दयताकी हुकूमतमें चलती है, तो कहना होगा कि हमने

अपना असली काम नहीं किया। इस तरह जो काम दयाके या रचनात्मक भी दीख पड़ते हैं, उन्हें हम दया या रचनाके लोभसे व्यापक दृष्टिके बिना ही उठा लें, तो कुछ तो सेवा हमसे बनेगी; पर वह सेवा न बनेगी, जिसकी जिम्मेदारी हमपर है और जिसे हमने और दुनियाने स्वधर्म माना है।

प्रेमपर भरोसा

दूसरी मिसाल देता हूँ। मुझसे हर कोई पूछता है कि "आपका सरकार-पर भी कुछ वजन दीखता है। तो आप उसपर यह जोर क्यों नहीं डालते कि वह कानून बनाकर बिना मुआवजेके भूमि-वितरणका कोई मार्ग खोल दे ?" मैं उनसे कहता हूँ कि "भाई, कानूनके मार्गको मैं नहीं रोकता। सिवा इसके जो मार्ग मैंने अपनाया है, उसमें यदि मुझे पूरा सोलह आने यश न मिला, बारह या आठ आने भी मिला, तो भी कानूनके लिए सहूलियत ही होगी।" मतलब यह कि एक तो मैं कानूनको बाधा नहीं पहुँचा रहा हूँ और दूसरे, कानूनको सहूलियत दे रहा हूँ। उसके लिए अनुकूल वातावरण बना रहा हूँ, ताकि वह आसानीसे बनाया जा सके। पर इससे भी एक कदम आगे आपकी दिशामें मैं जाऊँ और यही रटन रटूं कि "कानूनके बिना यह काम न होगा, कानून बनना ही चाहिए", तो मैं स्वधर्महीन सिद्ध होऊँगा। मेरा वह धर्म नहीं है। मेरा धर्म तो यह माननेका है कि "बिना कानूनकी मददसे जनताके हृदयमें हम ऐसे भाव निर्माण करें, ताकि कानून कुछ भी हो, तो भी लोग भूमिका बँटवारा करें।" क्या माताएँ बच्चोंको किसी कानूनके कारण दूध पिलाती हैं ? मनुष्यके हृदयमें ऐसी एक शक्ति है, जिससे उसका जीवन समृद्ध हुआ है। मनुष्य प्रेमपर भरोसा रखता है। प्रेमसे पैदा हुआ और प्रेम-से ही पलता है। आखिर जब दुनियाको छोड़ जाता है, तब भी प्रेमीकी ही निगाहसे जरा इर्दगिर्द देख लेता है और अगर उसके प्रेमीजन उसे दिखायी पड़ते हैं, तो सुखसे देह तथा दुनियाको छोड़ चला जाता है। प्रेमकी शक्तिका इस तरह अनुभव होते हुए भी उसे अधिक सामाजिक स्वरूपमें विकसित करनेकी हिम्मत छोड़कर अगर हम 'कानून-कानून' ही रटते रहें, तो सरकार हमसे जन-शक्ति निर्माणकी जो मदद चाहती है, वह मदद मैंने दी, ऐसा न होगा। इसी-लिए हम दण्ड-शक्तिसे भिन्न जन-शक्ति निर्माण करना चाहते हैं और वह निर्माण करनी ही होगी। यह जन-शक्ति दण्ड-शक्तिकी विरोधी है, ऐसा मैं नहीं कहता। वह हिंसाकी विरोधी है, लेकिन दण्ड-शक्तिसे भिन्न है।

हमारी कार्य-पद्धति

और एक मिसाल दूं। अभी 'खादी-बोर्ड' बन रहा है। सरकार खादीको

मदद देना चाहती है। पंडित नेहरूने कहा : "मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जो काम चार साल पहले ही हो जाना चाहिए था, वह इतनी देरसे क्यों हो रहा है?" उनका दिल महान् है। वे आत्म-निरीक्षण करते हैं, इसीलिए ऐसी भाषा बोलते हैं। सरकार खादीको बढ़ावा देना चाहती है, उसका उत्पादन बढ़ाना चाहती है; इसलिए उसे इस काममें मदद देना हमारा और चरखा-संघका काम है। चरखा-संघको इस कामका अनुभव है और अनुभवियोंकी मदद ऐसे कामके लिए जरूरी होती है। फिर भी मैं सोचता हूँ कि एक जानकार नागरिकके नाते हमें सरकारको जितनी मदद अपेक्षित हो, वह देनी चाहिए। लेकिन अगर हम उसीमें खतम हो जायँ, तो हमने खादीकी वह सेवा नहीं की, जैसी कि हमसे अपेक्षा है। हमें तो खादी-विषयक अपनी दृष्टि स्पष्ट और शुद्ध रखनी चाहिए तथा उस दिशामें काम करते हुए सरकारको खादी-उत्पादन-में जितनी मदद पहुँचा सकें, वह पहुँचानी चाहिए। हमें युद्ध मिटानेके तरीके ढूँढ़ने चाहिए। फिर भी युद्ध चलते रहें और हमें जख्मी सिपाहियोंकी मददमें जाना पड़े, तो उसके लिए भी जाना चाहिए। "यह तो युद्धका ही हिस्सा है", यह कहकर हम उसका इनकार न करेंगे। पर यह अवश्य ध्यानमें रखेंगे कि वह हमारा असली काम नहीं है। सारांश, हमारा खादी-काम ग्रामराज्यकी स्थापनाके लिए है, इसे हम आँखोंसे ओझल न होने दें।

खादी-काममें सरकारी मददकी अपेक्षा

इस बार पं० नेहरू मिलने आये और बड़े प्रेमसे बोले। मैंने नम्रतासे उनका बहुत-कुछ सुन लिया। फिर जब उन्होंने कुछ सलाह-मशविरा करना चाहा, तो मैंने अपने विचार थोड़ेमें प्रकट किये। मैंने कहा : "साक्षरताके विषयमें सरकारका जो रुख है, हम चाहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योगके बारे-में वह वही रुख रखे। हरएक नागरिकको पढ़ना-लिखना आना ही चाहिए, क्योंकि वह नागरिकत्वका अनिवार्य अंश है, ऐसा हम मानते हैं। इसीलिए हमारी सरकार सबको शिक्षित बनाने, पढ़ना-लिखना सिखानेकी जिम्मेदारी मान्य करती है। भले ही वह परिस्थितिके कारण उसपर पूरा अमल न कर पाये, आंशिक ही अमल करे। लेकिन जबतक उसपर पूरा अमल नहीं होता, सभी लोग पढ़ना-लिखना नहीं जान जाते, तबतक हमने अपना काम पूरा नहीं किया, यह खटका उसके दिलमें रहेगा ही। वैसे ही हमारी सरकार यह विचार कबूल करे कि हिन्दुस्तानके हरएक ग्रामीण और हरएक नागरिकको कताई सिखाना हमारा काम है। जो ग्रामीण या नागरिक सूत कातना नहीं जानते, वे अशिक्षित हैं, सरकार इतना मान ले। बाकीका सारा काम जनता कर लेगी। हम सरकारसे पैसेकी मदद न माँगेंगे। किन्तु अगर वह यह विचार स्वीकार

कर लेती है, तो वह हमें अधिक-से-अधिक मदद देने जैसा होगा।" उन्होंने यह सब सुन लिया। मैं समझता हूँ कि उनके हृदयको तो वह जँचा ही होगा। पर सहज विनोदमें उन्होंने पूछा कि "अगर सबको सूत कातना सिखा दें, तो उसके उपयोगका सवाल आयेगा।" मैंने जवाब दिया : "पढ़ना-लिखना सिखानेपर भी तो उसके उपयोगका सवाल रहता ही है।" मैंने ऐसे कई पढ़े-लिखे भाई देखे हैं, जो थोड़ा-सा दो-चार साल पढ़े, पर जिन्दगीभर उसका उनको कोई उपयोग नहीं हुआ। उनके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' हो जाता है। 'योग' के साथ 'क्षेम' लगा है, इसलिए यह चिन्ता करनी ही पड़ती है। पर आप देखेंगे कि मैंने खादीके लिए सिर्फ इतनी ही माँग की है, जब कि जनता-की सरकार है और जनताकी तरफसे माँग होगी, तो सरकारको उसे पूरा करना चाहिए। परन्तु इसके आगे बढ़कर अगर मैंने कानून द्वारा लोगोंपर खादी लादनेकी माँग की होती, तो कहना पड़ता कि मैंने अपना काम नहीं समझा—'दण्ड-शक्तिसे भिन्न लोक-शक्ति हमें निर्माण करनी है', यह सूत्र मैं भूल गया!

अन्ततः दण्ड-निरपेक्षता ही अपेक्षित

मैंने ये दो मिसालें सहज दीं, एक खादीकी और दूसरी भूमि-दानकी। हम भूमिका मसला हल करने जायँगे, तो हमारा अलग तरीका होगा। लेकिन अगर लोकतांत्रिक सरकार उसे हल करना चाहेगी, तो दण्ड-शक्तिका उपयोग करके उसे हल करना चाहेगी और हल करेगी। उसे कोई दोष नहीं देगा, उसका दूसरा ही मार्ग है। लेकिन सरकारकी इस तरहकी मददसे जन-शक्ति निर्माण न होगी, लक्ष्मी भले ही निर्माण हो। हमारा उद्देश्य सिर्फ लक्ष्मी निर्माण करना नहीं, बल्कि जन-शक्ति निर्माण करना होगा। यही सारी दृष्टि हमारे कामके पीछे है। जब यह दृष्टि स्थिर हो जाय, तो फिर हमारी कार्य-पद्धति क्या होगी, इसका विशेष वर्णन करनेकी आवश्यकता न रहेगी। हर कोई सोचेगा कि प्रत्येक रचनात्मक काममें हमारी अपनी एक विशेष पद्धति होगी। इस पद्धतिसे काम करनेमें आखिर यही परिणाम अपेक्षित होगा कि लोगोंमें दण्ड-निरपेक्षता निर्माण हो।

विचार-शासन और कर्तृत्व-विभाजन

इस दृष्टिसे यदि सोचें, तो सहज ही आपके ध्यानमें आ जायगा कि हमारी कार्य-पद्धतिके दो अंश होंगे : एक विचार-शासन और दूसरा, कर्तृत्व-विभाजन।

'विचार-शासन' का अर्थ है, विचार समझना और समझाना; बिना विचार समझे किसी बातको कबूल न करना; बिना विचार समझे अगर कोई हमारी बात कबूल कर ले, तो दुःखी होना और अपनी इच्छा दूसरोंपर न लादते हुए

केवल विचार समझाकर ही सन्तुष्ट रहना। कुछ लोग सर्वोदय-समाजकी रचना को 'लूज आर्गनाइजेशन' याने 'शिथिल रचना' कहते हैं। अगर रचना शिथिल हो, तो कोई काम न बनेगा। इसलिए रचना शिथिल न होनी चाहिए। किन्तु सर्वोदय-समाजकी रचना 'शिथिल रचना' न होकर 'अरचना' है, याने हम केवल विचारके आधारपर ही खड़े रहना चाहते हैं। हम किसीको ऐसे आदेश न देंगे कि वे उन्हें बिना समझे-बूझे ही अमलमें लायें। हम किसीके ऐसे आदेश कबूल भी न करेंगे कि बिना सोचे और पसन्द किये ही हम उनपर अमल करते जायँ। हम तो केवल विचार-विनिमय करते हैं। कुरानमें भक्तोंका लक्षण गाया गया है कि उनका वह 'अम्र' याने काम परस्परके सलाह-मशविरे-से होता है। ऐसा विचार-विनिमय हम जरूर करेंगे। हमारी बात सामनेवाला न जँचनेके कारण न माने, तो हम बहुत खुश होंगे। अगर कोई बिना समझे-बूझे उसपर अमल करता है, तो हमें बहुत दुःख होगा। मैं ऐसी रचनामें जितनी ताकत देखता हूँ, उतनी और किसी कुशल, स्पष्ट और अनुशासनबद्ध रचनामें नहीं देखता। अनुशासनबद्ध दण्डयुक्त रचनामें शक्ति नहीं होती, सो बात नहीं। पर वह शिव-शक्ति नहीं होती। हमें शिव-शक्ति पैदा करनी है, इसलिए हम विचार-शासनको ही चाहते हैं।

विचारके साथ प्रचार

अगर इतना हमारे ध्यानमें आ जायगा, तो विचारका निरन्तर प्रचार करना हमारा एक कार्यक्रम बनेगा। इस दृष्टिसे जब मैं सोचता हूँ, तो बुद्ध भगवान्‌ने भिक्षु-संघ और शंकराचार्यने यति-संघ क्यों बनाये होंगे, इसका रहस्य खुल जाता है। यद्यपि उन संघोंके जो अनुभव आये, उनके गुण-दोषों-की तुलना कर मैंने मनमें यह निश्चय किया है कि हम ऐसे संघ न बनायेंगे, क्योंकि उनमें गुणोंसे अधिक दोष होते हैं। फिर भी उन्हें संघ क्यों बनाने पड़े, उसके पीछे क्या विचार रहा, उसपर ध्यान देना चाहिए। निरन्तर, अखंड बहते हुए झरनेकी तरह सतत घूमनेवाले और लोगोंके पास सतत विचार पहुँचानेवाले लोग हमें चाहिए। उनके बगैर सर्वोदय-समाज काम न कर पायेगा। लोगोंके पास पहुँचने और उनसे मिलने-जुलनेके जितने मौके मिलें, उतने प्राप्त करने चाहिए। लोग एक बार कहनेपर नहीं सुनते हैं, तो दुबारा कहनेका मौका मिलनेसे खुश होना चाहिए। हममें विचार-प्रचारका इतना उत्साह और विचारपर इतनी श्रद्धा तथा इतनी निष्ठा होनी चाहिए।

लेकिन आज हमारी हालत तो ऐसी है कि हममेंसे बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न संस्थाओंमें फँस गये हैं। यद्यपि ये संस्थाएँ महत्त्वकी हैं, तो भी हमें उनकी आसक्ति नहीं, भक्ति रहे। उनका काम जरूर जारी रहे, लेकिन संस्थामें कुछ मनुष्य

कर लेती है, तो वह हमें अधिक-से-अधिक मदद देने जैसा होगा।" उन्होंने यह सब सुन लिया। मैं समझता हूँ कि उनके हृदयको तो वह जँचा ही होगा। पर सहज विनोदमें उन्होंने पूछा कि "अगर सबको सूत कातना सिखा दें, तो उसके उपयोगका सवाल आयेगा।" मैंने जवाब दिया : "पढ़ना-लिखना सिखानेपर भी तो उसके उपयोगका सवाल रहता ही है।" मैंने ऐसे कई पढ़े-लिखे भाई देखे हैं, जो थोड़ा-सा दो-चार साल पढ़े, पर जिन्दगीभर उसका उनको कोई उपयोग नहीं हुआ। उनके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' हो जाता है। 'योग' के साथ 'क्षेम' लगा है, इसलिए यह चिन्ता करनी ही पड़ती है। पर आप देखेंगे कि मैंने खादीके लिए सिर्फ इतनी ही माँग की है, जब कि जनताकी सरकार है और जनताकी तरफसे माँग होगी, तो सरकारको उसे पूरा करना चाहिए। परन्तु इसके आगे बढ़कर अगर मैंने कानून द्वारा लोगोंपर खादी लादनेकी माँग की होती, तो कहना पड़ता कि मैंने अपना काम नहीं समझा—'दण्ड-शक्तिसे भिन्न लोक-शक्ति हमें निर्माण करनी है', यह सूत्र मैं भूल गया !

अन्ततः दण्ड-निरपेक्षता ही अपेक्षित

मैंने ये दो मिसालें सहज दीं, एक खादीकी और दूसरी भूमि-दानकी। हम भूमिका मसला हल करने जायँगे, तो हमारा अलग तरीका होगा। लेकिन अगर लोकतांत्रिक सरकार उसे हल करना चाहेगी, तो दण्ड-शक्तिका उपयोग करके उसे हल करना चाहेगी और हल करेगी। उसे कोई दोष नहीं देगा, उसका दूसरा ही मार्ग है। लेकिन सरकारकी इस तरहकी मददसे जन-शक्ति निर्माण न होगी, लक्ष्मी भले ही निर्माण हो। हमारा उद्देश्य सिर्फ लक्ष्मी निर्माण करना नहीं, बल्कि जन-शक्ति निर्माण करना होगा। यही सारी दृष्टि हमारे कामके पीछे है। जब यह दृष्टि स्थिर हो जाय, तो फिर हमारी कार्य-पद्धति क्या होगी, इसका विशेष वर्णन करनेकी आवश्यकता न रहेगी। हर कोई सोचेगा कि प्रत्येक रचनात्मक काममें हमारी अपनी एक विशेष पद्धति होगी। इस पद्धतिसे काम करनेमें आखिर यही परिणाम अपेक्षित होगा कि लोगोंमें दण्ड-निरपेक्षता निर्माण हो।

विचार-शासन और कर्तृत्व-विभाजन

इस दृष्टिसे यदि सोचें, तो सहज ही आपके ध्यानमें आ जायगा कि हमारी कार्य-पद्धतिके दो अंश होंगे : एक विचार-शासन और दूसरा, कर्तृत्व-विभाजन।

'विचार-शासन' का अर्थ है, विचार समझना और समझाना; बिना विचार समझे किसी बातको कबूल न करना; बिना विचार समझे अगर कोई हमारी बात कबूल कर ले, तो दुःखी होना और अपनी इच्छा दूसरोंपर न लादते हुए,

केवल विचार समझाकर ही सन्तुष्ट रहना। कुछ लोग सर्वोदय-समाजकी रचना को 'लूज आर्गनाइजेशन' याने 'शिथिल रचना' कहते हैं। अगर रचना शिथिल हो, तो कोई काम न बनेगा। इसलिए रचना शिथिल न होनी चाहिए। किन्तु सर्वोदय-समाजकी रचना 'शिथिल रचना' न होकर 'अरचना' है, याने हम केवल विचारके आधारपर ही खड़े रहना चाहते हैं। हम किसीको ऐसे आदेश न देंगे कि वे उन्हें बिना समझे-बूझे ही अमलमें लायें। हम किसीके ऐसे आदेश कबूल भी न करेंगे कि बिना सोचे और पसन्द किये ही हम उनपर अमल करते जायँ। हम तो केवल विचार-विनिमय करते हैं। कुरानमें भक्तोंका लक्षण गाया गया है कि उनका वह 'अम्र' याने काम परस्परके सलाह-मशविरे-से होता है। ऐसा विचार-विनिमय हम जरूर करेंगे। हमारी बात सामनेवाला न जँचनेके कारण न माने, तो हम बहुत खुश होंगे। अगर कोई बिना समझे-बूझे उसपर अमल करता है, तो हमें बहुत दुःख होगा। मैं ऐसी रचनामें जितनी ताकत देखता हूँ, उतनी और किसी कुशल, स्पष्ट और अनुशासनबद्ध रचनामें नहीं देखता। अनुशासनबद्ध दण्डयुक्त रचनामें शक्ति नहीं होती, सो बात नहीं। पर वह शिव-शक्ति नहीं होती। हमें शिव-शक्ति पैदा करनी है, इसलिए हम विचार-शासनको ही चाहते हैं।

विचारके साथ प्रचार

अगर इतना हमारे ध्यानमें आ जायगा, तो विचारका निरन्तर प्रचार करना हमारा एक कार्यक्रम बनेगा। इस दृष्टिसे जब मैं सोचता हूँ, तो बुद्ध भगवान्‌ने भिक्षु-संघ और शंकराचार्यने यति-संघ क्यों बनाये होंगे, इसका रहस्य खुल जाता है। यद्यपि उन संघोंके जो अनुभव आये, उनके गुण-दोषों-की तुलना कर मैंने मनमें यह निश्चय किया है कि हम ऐसे संघ न बनायेंगे, क्योंकि उनमें गुणोंसे अधिक दोष होते हैं। फिर भी उन्हें संघ क्यों बनाने पड़े, उसके पीछे क्या विचार रहा, उसपर ध्यान देना चाहिए। निरन्तर, अखंड बहते हुए झरनेकी तरह सतत घूमनेवाले और लोगोंके पास सतत विचार पहुँचानेवाले लोग हमें चाहिए। उनके बगैर सर्वोदय-समाज काम न कर पायेगा। लोगोंके पास पहुँचने और उनसे मिलने-जुलनेके जितने मौके मिलें, उतने प्राप्त करने चाहिए। लोग एक बार कहनेपर नहीं सुनते हैं, तो दुबारा कहनेका मौका मिलनेसे खुश होना चाहिए। हममें विचार-प्रचारका इतना उत्साह और विचारपर इतनी श्रद्धा तथा इतनी निष्ठा होनी चाहिए।

लेकिन आज हमारी हालत तो ऐसी है कि हममेंसे बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न संस्थाओंमें फँस गये हैं। यद्यपि ये संस्थाएँ महत्त्वकी हैं, तो भी हमें उनकी आसक्ति नहीं, भक्ति रहे। उनका काम जरूर जारी रहे, लेकिन संस्थामें कुछ मनुष्य

ऐसे हों, जो घूमते रहें। अगर हम इस तरहकी रचना और ऐसा कार्यक्रम न बनायेंगे, तो हमारा विचार क्षीण होगा और विचार-शासन न चलेगा।

नियमबद्ध संघटनका एक दोष

बिहारके लोग कुछ अभिमानसे कहते हैं और उन्हें अभिमान करनेका हक भी है कि भूदान-यज्ञका काम प्रथम बिहार-कांग्रेसने ही उठाया और उसके बाद हैदराबादमें अ० भा० कांग्रसने उसे स्वीकार किया। लेकिन स्वीकारका मतलब क्या है? ऊपरसे एक परिपत्र (सर्कुलर) निकलता है: "भूदानमें मदद देना कांग्रेसवालोंका कर्तव्य है।" फिर जैसे गंगा हिमालयसे गिरती और हरिद्वार आती है, वैसे ही वह परिपत्र प्रान्तिक समितिमें पहुँचता है। हरिद्वारसे आगे गंगा गढ़मुक्तेश्वर जाती है, वैसे ही यह परिपत्र भी प्रान्तिक समितिसे जिला-ऑफिसमें आता है। गंगा कहींसे कहीं भी जाय, गंगा ही रहती है, वह पानी ही रहता है। इसी तरह परिपत्रसे परिपत्र ही पैदा होते हैं। एक बार मैंने विनोदके तौरपर कहा था कि हर जाति अपनी ही जाति बढ़ाती है। वैसे ही परिपत्र भी परिपत्र ही पैदा कर सकता है। फिर काम कौन करेगा? काम तो करना होगा गाँववालोंको ही। पर गाँवके लोगोंतक वह पहुँचता कहाँ है? वह तो एक ऑफिससे दूसरे ऑफिसमें और वहाँसे तीसरे ऑफिसमें जाता है। सिर्फ इतना ही होता है।

घर-घर पहुँचनेकी जरूरत

इसलिए यह भूदान-यज्ञका कार्यक्रम तबतक सफल नहीं हो सकता, जबतक कि हम घर-घर न पहुँचें। पाँच लाख देहातसे पचीस लाख एकड़ जमीन हम हासिल करना चाहते हैं। यों काम तो आसान दीखता है। प्रति गाँव पाँच एकड़ कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन उतने गाँवोंतक पहुँचे कौन? इसलिए हमारे पास मुख्य साधन विचार-प्रचारका ही हो सकता है, उसकी योजना हमें करनी चाहिए, यही हमारा कार्यक्रम होगा।

लेकिन अगर उतनी हमारी हिम्मत न हो, इतने गाँवोंमें हम कैसे पहुँचेंगे, कैसे घूमेंगे, यह सब लगता हो और जिसे अंग्रेजीमें 'शार्ट कट' कहते हैं, उसे मंजूर कर आप कहने लग जायँ कि "कानून बना डालिये", तो वैसा कानून बनाना और वैसी इच्छा रखना हमारा काम नहीं। कानून जरूर बने, जल्द बने और अच्छा बने; पर उस काममें हम लगेंगे, तो वह परधर्मका आचरण सिद्ध होगा, स्वधर्मका आचरण नहीं। हमारा स्वधर्म तो यह होगा कि गाँव-गाँव घूमना शुरू करें और विचारपर विश्वास रखें। यह न कहें कि "विचार सुनने-सुनानेसे कब काम होगा?" कारण विचारसे ही काम होगा, हमारा

काम विचारसे ही हो सकता है। इसलिए यह विचारकी सत्ता, विचार-शासन हमारा एक औजार है।

दूसरा साधन : कर्तृत्व-विभाजन

दूसरा औजार है, कर्तृत्व-विभाजन। याने सारी कर्मशक्ति, कर्मसत्ता एक केन्द्रमें केन्द्रित न होकर गाँव-गाँवमें निर्माण होनी चाहिए। इसलिए हम चाहते हैं कि हरएक गाँवको यह हक हो कि उस गाँवमें कौन-सी चीज आये और कौन-सी चीज न आये, इसका निर्णय वह खुद कर सके। अगर कोई गाँव चाहता हो कि उस गाँव में कोल्हू ही चले और मिलका तेल न आये, तो उसे उस गाँवमें मिलका तेल आनेसे रोकनेका हक होना चाहिए। जब हम यह बात कहते हैं, तो सरकार कहती है कि "इस तरह एक बड़े राज्यके अन्दर छोटा राज्य नहीं चल सकता।" मैं कहता हूँ कि अगर हम इस तरह सत्ता-विभाजन, कर्तृत्वका विभाजन न करेंगे, तो सैन्य-बल अनिवार्य है, यह समझ लीजिये। आज तो सेनाके बगैर चलता ही नहीं और आगे भी कभी न चलेगा। फिर कायमके लिए यह तय करिये कि सैन्य-बलसे काम लेना है और उसके लिए सेना सुसज्ज रखनी है। फिर यह न बोलिये कि हम कभी-न-कभी सेना-से छुटकारा चाहते हैं।

भगवान्‌का कर्तृत्व-विभाजन

पर अगर कभी-न-कभी सेनासे छुटकारा चाहते हों, तो जैसा परमेश्वरने किया, वैसा ही हमें भी करना चाहिए। परमेश्वरने सभीकी अक्लका विभाजन कर दिया। हरएकको अक्ल दे दी—विच्छू, साँप, शेर और मनुष्यको भी। कम-वेशी सही, लेकिन हरएकको अक्ल दे दी और कहा कि अपने जीवनका काम अपनी अक्लके आधारपर करो। फिर सारी दुनिया इतनी उत्तम चलने लगी कि अब वह सुखसे विश्रान्ति ले सका। यहाँतक लोगोंको शंका होने लगी कि सचमुच दुनियामें परमेश्वर है या नहीं? हमें भी राज्य एसा ही चलाना होगा कि लोगोंको शंका हो जाय कि कोई राज्य-सत्ता है या नहीं! 'हिन्दुस्तान-में शायद राज्य-सत्ता नहीं है'—ऐसा लोग कहने लगें, तभी वह हमारा अहिंसक राज्य-शासन होगा।

सैन्य-बलका उच्छेद कैसे हो?

इसलिए हम ग्राम-राज्यका उद्घोष करते हैं और चाहते हैं कि ग्राममें नियन्त्रणकी सत्ता हो अर्थात् ग्रामवाले नियन्त्रणकी सत्ता अपने हाथमें लें। यह भी जन-शक्तिका एक उदाहरण है कि गाँववाले अपने पैरोंपर खड़े हो जायँ

और निर्णय करें कि फलानी चीज हमें खुद पैदा करनी है और सरकारसे माँग करें कि फलाना माल यहाँ न आना चाहिए, उसे रोकिये। अगर वह नहीं रोकती या रोकना चाहती हुई भी रोक नहीं सकती, तो गाँववालोंको उसके विरोधमें खड़े होनेकी हिम्मत करनी होगी। यदि ऐसी जन-शक्ति निर्माण हुई, तो उससे सरकारको बहुत बड़ी मदद पहुँचाने जैसा काम होगा, क्योंकि उसीसे सैन्य-बलका उच्छेद होगा। उसके बगैर सैन्य-बलका कभी उच्छेद नहीं हो सकता। मान लीजिये, दिल्लीमें कोई ऐसी अक्ल पैदा हो जाय, बिलकुल ब्रह्मदेव-की अक्ल ही कहिये, जिसे चार दिमाग हैं और जो चारों दिशाओंमें देख सकती है! कितनी ही बड़ी अक्ल हो, फिर भी यह हो नहीं सकता कि हरएक गाँवके सारे कारोबारका नियन्त्रण और नियोजन वह वहींसे करे और सारा-का-सारा सबके लिए लाभदायक हो।

योजना राष्ट्रीय नहीं, ग्रामीण हो

इसलिए 'नेशनल प्लानिंग' (राष्ट्रीय नियोजन) के बजाय 'विलेज प्लानिंग' (ग्रामीण नियोजन) होना चाहिए। 'बजाय' मैंने कह दिया। बेहतर तो यह होगा कि 'नेशनल प्लानिंग' का ही अर्थ 'विलेज प्लानिंग' हो और उस 'विलेज प्लानिंग' की मददके लिए जो कुछ करना पड़े, दिल्लीमें किया जाय। इस तरह यह हमारे कार्यक्रमका एक दूसरा अंश है। हम जो कुछ करते हैं, सारा कर्तृत्व-विभाजनकी दिशामें ही करते हैं। इसीलिए हम गाँवोंमें जमीनका बँटवारा करना चाहते हैं।

हमारी सच्ची पूँजी : मजदूरोंकी अक्ल

जमीनके बारेमें जब कभी सवाल पैदा होता है, तो कुछ लोग कहते हैं कि 'सीलिंग' बनाओ याने अधिक-से-अधिक जमीन कितनी रखी जाय, यह तय करो। जबसे भूदान-यज्ञ-आन्दोलन जोर पकड़ने लगा और जनतामें एक भावना पैदा हो रही है, तबसे इतनी बात तो लोग बोलने लगे हैं! लेकिन मैं कहता हूँ कि "पहले तो कम-से-कम जमीन हरएकको देना है, यह तय करो।" यह मैं क्यों कह रहा हूँ? इसलिए कि मैं कर्तृत्व-विभाजन करना चाहता हूँ। आज सारे मजदूर दूसरोंके अधीन काम करते हैं। काम तो वे करते हैं; लेकिन उनके हाथोंमें कर्तृत्व नहीं है। गाड़ी ही चलती है, लेकिन उसे हम कर्ता नहीं कहते, क्योंकि वह चेतन-विहीन है। आज जो मजदूर खेतोंमें काम कर रहे हैं, वे चेतन-विहीन जैसा ही काम करते हैं। वे हाथ-पाँवोंसे काम करते हैं, लेकिन हम चाहते हैं कि उनके दिमाग और दिलसे भी यह काम हो। लोग कहते हैं कि 'हिन्दुस्तानके मज-दूरोंमें उतनी अक्ल नहीं है, इसलिए उनका दूसरोंके हाथमें रहना ही बेहतर है।'

पर यह अहिंसाका तरीका नहीं। उनमें जो अक्ल है, अगर हम उसका उपयोग कर दें, तो दूसरी कोई अक्ल, दूसरा कोई खजाना हमारे पास नहीं है।

मान लें कि किसी मजदूरकी अक्लसे किसी पूंजीवाले भाईकी अक्ल ज्यादा है। लेकिन कुल मिलाकर देशमें मजदूरोंकी जो अक्ल है, उसकी बराबरी दूसरी कोई भी अक्ल नहीं कर सकती और उस अक्लका अगर हमें उपयोग न मिले, तो हमारा देश बहुत कुछ खो देगा। इसलिए जरूरी है कि मजदूरोंकी अक्लका, जैसी भी वह आज है, पूरा उपयोग हो। इसीके साथ उनकी अक्ल बढ़े, ऐसी भी योजना होनी चाहिए और उनमें यह भी एक योजना होगी कि उन्हें जमीन दी जाय। अलावा इसके कि उन्हें और तालीम देनी चाहिए, उनके हाथमें जमीन देना उस तालीमका एक अंग होगा और उनकी अक्ल बढ़ानेका भी एक साधन बनेगा।

कार्य-रचना : (१) सर्वोदय-समाज

अब हम कार्य-रचनाकी ओर मुड़ते हैं। एक 'सर्व-सेवा-संघ' और दूसरा 'सर्वोदय-समाज', इस तरह हमने रचना की है। नाम 'सर्वोदय-समाज' का चलेगा और काम 'सर्व-सेवा-संघ' करेगा। सर्व-सेवा-संघ शिथिल नहीं, नियमबद्ध मजबूत संस्था होगी और सर्वोदय-समाज शिथिल या अशिथिल रचना न होकर एक अ-रचना होगी---विचारकी सत्ता मान्य करनेवाला वह समाज होगा। इसलिए हमें इस दिशामें सोचना चाहिए कि सर्वोदय-समाज और भी कैसे विचारपरायण बने। वह अधिक अनुशासनबद्ध किस तरह होगा, यह सोचनेकी हमें जरूरत नहीं, क्योंकि केवल अनुशासन माननेवाला समाज हम बनाना नहीं चाहते। वह अधिक विचारवान् कैसे बने और विचारकी सत्ता उसपर कैसे चले, इसी दिशामें हमें काम करना चाहिए। सर्वोदय-समाजके जितने सेवक यहाँ इकट्ठे हुए हैं, जिन्होंने अपने नाम लिखाये और जिन्होंने नहीं लिखाये और जो यहाँ नहीं आये हैं, उन सबके लिए विचारकी एक संगति निर्माण करनेका काम हमें करना चाहिए। इसके लिए एक बात तो मैंने यह बतायी कि निरन्तर प्रचार होना चाहिए और उसके लिए घूमना चाहिए। दूसरी बात यह कि साहित्यका प्रचार और उसका चिन्तन-मनन, अध्ययन होना चाहिए। ऐसे वर्ग जगह-जगह चलने चाहिए, जो हमारे विचारकी दूसरे विचारोंके साथ तुलना कर अध्ययन करें।

कार्य-रचना : (२) सर्व-सेवा-संघ

इसके लिए 'सर्व-सेवा-संघ' यह एकरस संस्था बनानी चाहिए। मुझे कबूल करना होगा कि इस दिशामें इच्छा रखते हुए भी हम अधिक नहीं कर सके।

किन्तु मेरी रायमे अगर उसे हम नही करते, तो जनता हमसे जो अपेक्षाएँ रखती है, उन्हें हम पूरा नहीं कर सकेंगे। पुरान ढाँचेके अनुसार ही विभिन्न संस्थाएँ अलग-अलग काम करती रहें, तो उनमेंसे शक्ति निर्माण नहीं होगी।

एकाध मिसाल दूँ। मिसाल देते समय किसीका नाम ले लूँ, तो कोई यह न मान ले कि मैं उसका दोष दिखा रहा हूँ। वर्धाकी हिन्दुस्तानी प्रचार-सभाको ही ले लीजिये। वहाँ क्या चलता होगा? विद्यार्थी आते होंगे। पहलेसे अब कम ही आते होंगे, क्योंकि वहाँ हिन्दी और उर्दू, दोनों भाषाएँ और नागरी और उर्दू, दोनों लिपियाँ सीखनी पड़ती हैं। उसके लिए आज उतना अनुकूल वातावरण नहीं है, फिर भी जो आते होंगे, उनमेंसे बहुत-से तो दो लिपियाँ और दो भाषाएँ सीखना अपना कर्तव्य समझते होंगे। लेकिन मैं चाहूँगा कि अगर हमें अपना समाज एकरस बनाना हो, तो हिन्दुस्तानी प्रचार-सभामें सीखनेके लिए आनेवाले विद्यार्थी चार घंटे खेतीका काम करें, उसके बाद एकआध घंटा सूत कातनेका काम करें, उसके बाद एकआध घंटा रसोई वगैरहका काम करें और फिर तीन-चार घंटा उर्दू या हिन्दी, जो कुछ सीखना हो, सीखें। आज जो वहाँ चलता है, उससे शक्ति-निर्माण होना मैं संभव नहीं मानता। कुछ लड़कोंको लेकर उन्हें सिर्फ उर्दू और नागरी सिखाते बैठनेसे देशकी ताकत न बढ़ेगी। हिन्दुस्तानी प्रचार-सभामें मुख्य चार घंटोंका जो काम होगा, वह उर्दू और नागरी लिपि सीखना होगा। पर शेष जीवनकी सारी बातें वहाँ दाखिल कर समग्रता लायी जाय, तभी उस उर्दूमें ताकत आयेगी, तभी उस नागरीमें ताकत आयेगी। ऐसी कई मिसालें मैं दे सकता हूँ।

एकांगी कामसे शक्ति नहीं बनती

हमारे लोग जो अलग-अलग काम करते हैं, उनसे ताकत क्यों नहीं पैदा होती और जिस क्रान्तिकी हम आशा रखते हैं, वह जनताके बीच क्यों निर्माण नही होती––मैं इसका यही एक मुख्य कारण मानता हूँ कि हमारे संघ अलग-अलग और एकांगी काम करते हैं। निःसन्देह काम तो वे अच्छा करते हैं, लेकिन उन्हें यह मोह है कि 'हम अलग-अलग हैं, इसलिए कोई खास विचार नहीं कर पाते हैं। अगर हम एक हो जायँ, तो हमारा विचार कम हो जायगा, हम उतने एकाग्र न हो पायेंगे, विविध वृत्तियाँ आ जायँगी, तो खास कामपर जोर कुछ कम पड़ेगा।' मैं कबूल करता हूँ कि हर योजनामें कुछ खामियाँ होती हैं, तो कुछ खूबियाँ भी। लेकिन कुल मिलाकर देखनेपर ध्यानमें आ जायगा कि सर्व-सेवा-संघको एकरस बनाये बगैर हमें शक्तिका दर्शन नहीं होगा।

यह तो हुआ कार्य-रचनाके विषयमें, अब जो दो-तीन काम हम उठा रहे हैं, उनकी थोड़ी चर्चा कर दूँ।

हमारे अंगीकृत कार्य : (१) भू-दान-यज्ञ

एक तो भूमि-दान-यज्ञका काम हमने शुरू किया है। उस सम्बन्धमें जो मेरे मनमें और मेरी जवानपर है, वह यह कि कम-से-कम पाँच करोड़ एकड़ जमीन इस हाथसे उस हाथमें जानी चाहिए। यह काम हमें १९५७ के पहले पूरा कर देना है। अगर इस काममें हम सब—याने आप और हम, जो सर्वोदय-समाजके माने जानेवाले ही नहीं, वल्कि कांग्रेसवाले, प्रजा-समाजवादी-आदि जो भी इस विचारको कबूल करते हैं, वे सब—लग जायँगे, तो जमीन-के मसलेको हल कर सकेंगे, फिर चाहे सोलह आना सफलता पाकर बिना कानूनसे हल हो जाय, चाहे बारह आना या आठ आना सफलता पाकर कानूनकी पूर्तिसे पूरा हो जाय। मैं कोई भविष्यवादी नहीं, इसलिए ठीक-ठीक वह कैसे हल होगा, यह मैं कह नहीं सकता। जिस किसी तरह वह हल हो, प्रधानतया जन-शक्तिसे होना चाहिए। अगर पूर्णतया जन-शक्तिसे हल हुआ, तो मैं आनन्दसे नाचने लगूँगा। लेकिन प्रधानतया जन-शक्तिसे हुआ, तो भी सन्तोष मानूँगा। अगर १९५७ के पहले हम इतना कर सके, तो आगेका निर्वाचन सज्जन-सज्जनोंके पक्षोंके बीच न होगा। आज तो हालत यह है कि इस पक्षमें भी सज्जन हैं और उस पक्षमें भी सज्जन। आज भीष्मार्जुन-युद्ध हो रहा है। हम राम-रावण-युद्ध चाहते हैं, भीष्मार्जुन-युद्ध नहीं। जब दोनों पक्षोंमें सज्जन हैं, तो वे एक क्यों नहीं हो सकते? अगर कोई एकाग्र होकर काम करने जैसा कार्यक्रम मिला, तो उनके बीचके अवान्तर मतभेद तत्काल मिट जायँगे।

भूदान-यज्ञ बुनियादी कार्यक्रम है। आज समाजवादी मुझसे कहते हैं कि "आपने यह कार्यक्रम तो हमारा ही उठा लिया।" मैं कहता हूँ: "मुझे कबूल है और इसीलिए मेहरबानी करके मुझे मदद दीजिये।" कांग्रेसवाले कहते हैं: "यह तो कार्यक्रम बहुत अच्छा है, हमें करना ही था।" तो उनसे भी हम मदद चाहते हैं। जनसंघवाले कहते हैं कि "आपका कार्यक्रम भारतीय संस्कृतिके अनु-कूल है, इसलिए अच्छा है।" इस तरह भिन्न-भिन्न पक्षवाले भी इस कार्यक्रमको पसन्द करते हैं। इसलिए अगर हम सब इस काममें लग जायँ, तो हो सकता है कि आगामी आम चुनावमें बहुत-सा मतभेद न रहे और अच्छे-से-अच्छे लोग चुन लिये जायँ। इस तरह हुआ, तो आगे बननेवाली सरकार बहुत शक्तिशाली होगी। यह एक उम्मीद इस कार्यक्रमसे मैंने की है। तो, यह भूमि-दानका काम १९५७ तक हमें पूरा करना है। पाँच करोड़के बिना हमें सन्तोष नहीं। लेकिन अगले सालतक पचीस लाख एकड़ पूरा हो ही जाना चाहिए।

(२) संपत्ति-दान-यज्ञ

इसके साथ मैंने एक दूसरा कार्यक्रम शुरू कर दिया है और उसे 'संपत्ति-

दान-यज्ञ' नाम दिया है। उसके बगैर भूमि-दान-यज्ञ सफल न होगा। आर्थिक स्वातन्त्र्य और आर्थिक साम्यका हमारा कार्यक्रम भी इसके बिना पूरा नहीं होगा। आरम्भसे ही यह बात मेरे ध्यानमें थी, लेकिन 'एकहि साधे सब सधे'—दो बातें एक साथ नही हो सकती थीं। सिवा भूमिका सवाल जितना बुनियादी था, संपत्तिका सवाल उतना बुनियादी भी नहीं था। अलावा इसके तेलंगानाका परमेश्वरीय संकेत पहचानकर पहले जमीनका काम करना ही मुझे अच्छा लगा। इसलिए आरम्भमें उसे ही उठाया। लेकिन बादमें बिहारमें भूमिका मसला पूरी तरह हल करनेकी बात चली, तब ध्यानमें आया कि भूमि-दानके साथ-साथ संपत्ति-दान-यज्ञ चलनपर ही वह हल होगा। इसमें संपत्ति हम अपने हाथमें न लेंगे। उसमें भी हम कर्तृत्व-विभाजन ही चाहते हैं। याने जो संपत्ति देगा, वह हमारे निर्देशके अनुसार उसका विनियोग भी करे, यही हमारी योजना है। फिर भी जैसे भूमि-दान-यज्ञका प्रचार हम व्याख्यानके जरिये गाँव-गाँव जाकर करते हैं, वैसे सामुदायिक तौरपर संपत्ति-दान-यज्ञका व्यापक प्रचार करनेका हमारा इरादा नहीं है। व्यक्तिगत तौरपर प्रमसे जिनसे बातें हो सकती हैं, उनके हृदयमें, उनके कुटुम्बमें और उनके विचारोंमें प्रवेश करके ही हमें यह काम करना है। अभी-तक जिन-जिन लोगोंने संपत्ति-दान दिया, वे प्रतिवर्ष यानी जिन्दगीभर देनेवाले हैं। उन्हें मैंने काफी जाँचा है और जांच करके ही उनके दान स्वीकार किये हैं। यानी 'उत्तेजन' देनेके बजाय कुछ थोड़ा 'नियन्त्रण' ही मैंने किया है। आपमें-से जिनके पास कुछ गठरी हो, वे उसे खोलकर इसमें भाग लें और अपने मित्रोंमें प्रेमसे इसका प्रचार करें। ये दोनों काम परस्पर पूरक हैं। अभी जो पचीस लाख एकड़का हमने संकल्प किया है, उसीपर जोर देना है।

(३) सूतांजलि

इन दो कामोंके अलावा तीसरा काम सूतांजलिका है। यह एक बड़ी शक्ति-शाली वस्तु है। इसकी शक्तिको हम पहचान नहीं सके हैं। बापूकी स्मृतिमें और शरीर-श्रमकी प्रतिष्ठाकी मान्यताके तौरपर देशकी लक्ष्मी बढ़ानेकी जिम्मे-वारी महसूस करते हुए हम सूतांजलि समर्पित करें। इसे मैंने सर्वोदयका 'वोट' माना है। यह एक बड़ी बात है। इसमें सिर्फ रुकावट यही है कि घर-घर, गाँव-गाँव जाना पड़ेगा। लेकिन इसे मैं रुकावट नहीं मानता, बल्कि यह हमारे कामके लिए प्रोत्साहक बात है। याने इस निमित्त हमें घर-घर जानेका मौका मिलेगा। इसलिए इस कामको बढ़ावा देना चाहिए। अगर हो सके, तो जैसे हम पचीस लाख एकड़ जमीनकी बात करते हैं, वैसे ही लाखों लच्छियाँ भी प्राप्त करें, तो श्रम-प्रतिष्ठा बढ़ानेमें उसका बहुत उपयोग होगा।

श्रम-दान

इसके अलावा और एक बात हम इसमेंसे चाहते हैं। आजतक हमने जितनी संस्थाएँ चलायीं, वे पैसेका आधार लेकर चलायीं। अर्थात् पैसेवाले लोग—जो कि हमारे मित्र थे, प्रेमी थे, सहानुभूति रखते थे, जिनके हृदय शुद्ध थे—हमें मदद देते और हम उसे लेते थे। इसमें हम कुछ गलती करते थे, ऐसी बात नहीं। पर अब जमाना बदल गया है, अब श्रमका जमाना आया है, अतः हमें श्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ानी ही चाहिए। अगर हम हर प्रान्तमें एकआध संस्था ऐसी बना सकें, तो अवश्य बनायें, जो आरम्भमें श्रमके आधारपर ही चले और यदि लेना हो, तो श्रमका ही दान ले। यदि सूतांजलिका व्यापक प्रसार हुआ, तो हम ऐसी संस्थाएँ चला सकते हैं। उनमेंसे तेजस्वी कार्यकर्ता निर्माण होंगे, जो प्रचार-में लग सकेंगे और काम भी कर सकेंगे, यही हमारी योजना है। यहाँ जो मुख्य-मुख्य बातें मैंने बतायीं, उनपर आप सोचें, चिन्तन-मनन करें और सम्भव हो, तो अगला पूरा वर्ष इस कामके लिए दें, यही मेरी प्रार्थना है।

हम सभी मानव

अन्तमें दो शब्द कह देना चाहता हूँ। हमारा यह काम किसी संप्रदायका काम नहीं है। 'सर्वोदयवाले' यह शब्द भी सुनायी न पड़े, क्योंकि यह शब्द ही गलत है। ध्यान रहे कि हम केवल मानव हैं, मानवसे भिन्न कुछ नहीं। नहीं तो देखते-देखते यह सर्वोदय-समाज, आज अनुशासनबद्ध न होनेपर भी, आगे 'पान्थिक' और 'साम्प्रदायिक' बन जायगा और हम दूसरोंसे अलग हो जायेंगे। इसलिए मुँहसे कभी ऐसी भाषा न निकले कि फलाना समाजवादी है, फलाना कांग्रेसवाला है, तो फलाना सर्वोदयवादी !

तीसरी शक्ति

अन्य दूसरे नाम भले ही चलें, क्योंकि वे लोग उस-उस नामपर काम करना चाहते हैं और उसकी उपयोगिता मानते हैं। लेकिन हमारा कोई भी पक्ष नहीं है। जिसे 'तीसरी शक्ति' कहते हैं, वे हम हैं। आजकी दुनियाकी परिभाषामें 'तीसरी शक्ति' का अर्थ है, जो शक्ति न तो अमेरिकी गुटमें शामिल हो और न रूसी गुटमें। लेकिन मेरी 'तीसरी शक्ति' की परिभाषा यह होगी—जो शक्ति हिंसा-शक्तिकी विरोधी है, अर्थात् जो हिंसाकी शक्ति नहीं है और जो दण्ड-शक्तिसे भी भिन्न अर्थात् जो दण्ड-शक्ति नहीं है, ऐसी शक्ति। एक हिंसा-शक्ति, दूसरी दण्ड-शक्ति और तीसरी हमारी शक्ति ! हम उसी शक्तिको व्यापक बनाना चाहते हैं। इसलिए हमें अपना कोई अलग सम्प्रदाय बनाना नहीं है। हमें आम लोगोंमें घुल-मिल जाना और केवल मानवमात्र बनकर ही काम करना होगा।*

●

* सर्वोदय-सम्मेलन, चाण्डिल (मानभूम, बिहार) में किया गया प्रवचन, ७-३-'५२।

दान-यज्ञ' नाम दिया है। उसके बगैर भूमि-दान-यज्ञ सफल न होगा। आर्थिक स्वातन्त्र्य और आर्थिक साम्यका हमारा कार्यक्रम भी इसके बिना पूरा नहीं होगा। आरम्भसे ही यह बात मेरे ध्यानमें थी, लेकिन 'एकहि साधे सब सधे'—दो बातें एक साथ नही हो सकती थीं। सिवा भूमिका सवाल जितना बुनियादी था, संपत्ति-का सवाल उतना बुनियादी भी नहीं था। अलावा इसके तेलंगानाका परमेश्वरीय संकेत पहचानकर पहले जमीनका काम करना ही मुझे अच्छा लगा। इसलिए आरम्भमें उसे ही उठाया। लेकिन बादमें बिहारमें भूमिका मसला पूरी तरह हल करनेकी बात चली, तब ध्यानमें आया कि भूमि-दानके साथ-साथ संपत्ति-दान-यज्ञ चलनपर ही वह हल होगा। इसमें संपत्ति हम अपने हाथमें न लेंगे। उसमें भी हम कर्तृत्व-विभाजन ही चाहते हैं। याने जो संपत्ति देगा, वह हमारे निर्देशके अनुसार उसका विनियोग भी करे, यही हमारी योजना है। फिर भी जैसे भूमि-दान-यज्ञका प्रचार हम व्याख्यानके जरिये गाँव-गाँव जाकर करते हैं, वैसे सामुदायिक तौरपर संपत्ति-दान-यज्ञका व्यापक प्रचार करनेका हमारा इरादा नहीं है। व्यक्तिगत तौरपर प्रमसे जिनसे बातें हो सकती हैं, उनके हृदयमें, उनके कुटुम्बमें और उनके विचारोंमें प्रवेश करके ही हमें यह काम करना है। अभी-तक जिन-जिन लोगोंने संपत्ति-दान दिया, वे प्रतिवर्ष यानी जिन्दगीभर देनेवाले हैं। उन्हें मैंने काफी जांचा है और जांच करके ही उनके दान स्वीकार किये हैं। यानी 'उत्तेजन' देनेके बजाय कुछ थोड़ा 'नियन्त्रण' ही मैंने किया है। आपमें-से जिनके पास कुछ गठरी हो, वे उसे खोलकर इसमें भाग लें और अपने मित्रोंमें प्रेमसे इसका प्रचार करें। ये दोनों काम परस्पर पूरक हैं। अभी जो पचीस लाख एकड़का हमने संकल्प किया है, उसीपर जोर देना है।

(३) सूतांजलि

इन दो कामोंके अलावा तीसरा काम सूतांजलिका है। यह एक बड़ी शक्ति-शाली वस्तु है। इसकी शक्तिको हम पहचान नहीं सके हैं। बापूकी स्मृतिमें और शरीर-श्रमकी प्रतिष्ठाकी मान्यताके तौरपर देशकी लक्ष्मी बढ़ानेकी जिम्मे-वारी महसूस करते हुए हम सूतांजलि समर्पित करें। इसे मैंने सर्वोदयका 'वोट' माना है। यह एक बड़ी बात है। इसमें सिर्फ रुकावट यही है कि घर-घर, गाँव-गाँव जाना पड़ेगा। लेकिन इसे मैं रुकावट नहीं मानता, बल्कि यह हमारे कामके लिए प्रोत्साहक बात है। याने इस निमित्त हमें घर-घर जानेका मौका मिलेगा। इसलिए इस कामको बढ़ावा देना चाहिए। अगर हो सके, तो जैसे हम पचीस लाख एकड़ जमीनकी बात करते हैं, वैसे ही लाखों लच्छियाँ भी प्राप्त करें, तो श्रम-प्रतिष्ठा बढ़ानेमें उसका बहुत उपयोग होगा।

श्रम-दान

इसके अलावा और एक बात हम इसमेंसे चाहते हैं। आजतक हमने जितनी संस्थाएँ चलायीं, वे पैसेका आधार लेकर चलायी। अर्थात् पैसेवाले लोग—जो कि हमारे मित्र थे, प्रेमी थे, सहानुभूति रखते थे, जिनके हृदय शुद्ध थे—हमें मदद देते और हम उसे लेते थे। इसमें हम कुछ गलती करते थे, ऐसी बात नहीं। पर अब जमाना बदल गया है, अब श्रमका जमाना आया है, अतः हमें श्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ानी ही चाहिए। अगर हम हर प्रान्तमें एकआध संस्था ऐसी बना सकें, तो अवश्य बनायें, जो आरम्भमें श्रमके आधारपर ही चले और यदि लेना हो, तो श्रमका ही दान लें। यदि सूतांजलिका व्यापक प्रसार हुआ, तो हम ऐसी संस्थाएँ चला सकते हैं। उनमेंसे तेजस्वी कार्यकर्ता निर्माण होंगे, जो प्रचारमें लग सकेंगे और काम भी कर सकेंगे, यही हमारी योजना है। यहाँ जो मुख्य-मुख्य बातें मैंने बतायीं, उनपर आप सोचें, चिन्तन-मनन करें और सम्भव हो, तो अगला पूरा वर्ष इस कामके लिए दें, यही मेरी प्रार्थना है।

हम सभी मानव

अन्तमें दो शब्द कह देना चाहता हूँ। हमारा यह काम किसी संप्रदायका काम नहीं है। 'सर्वोदयवाले' यह शब्द भी सुनायी न पड़े, क्योंकि यह शब्द ही गलत है। ध्यान रहे कि हम केवल मानव हैं, मानवसे भिन्न कुछ नहीं। नहीं तो देखते-देखते यह सर्वोदय-समाज, आज अनुशासनबद्ध न होनेपर भी, आगे 'पान्थिक' और 'साम्प्रदायिक' बन जायगा और हम दूसरोंसे अलग हो जायेंगे। इसलिए मुँहसे कभी ऐसी भाषा न निकले कि फलाना समाजवादी है, फलाना कांग्रेसवाला है, तो फलाना सर्वोदयवादी !

तीसरी शक्ति

अन्य दूसरे नाम भले ही चलें, क्योंकि वे लोग उस-उस नामपर काम करना चाहते हैं और उसकी उपयोगिता मानते हैं। लेकिन हमारा कोई भी पक्ष नहीं है। जिसे 'तीसरी शक्ति' कहते हैं, वे हम हैं। आजकी दुनियाकी परिभाषामें 'तीसरी शक्ति' का अर्थ है, जो शक्ति न तो अमेरिकी गुटमें शामिल हो और न रूसी गुटमें। लेकिन मेरी 'तीसरी शक्ति' की परिभाषा यह होगी—जो शक्ति हिंसा-शक्तिकी विरोधी है, अर्थात् जो हिंसाकी शक्ति नहीं है और जो दण्ड-शक्तिसे भी भिन्न अर्थात् जो दण्ड-शक्ति नहीं है, ऐसी शक्ति। एक हिंसा-शक्ति, दूसरी दण्ड-शक्ति और तीसरी हमारी शक्ति ! हम उसी शक्तिको व्यापक बनाना चाहते हैं। इसलिए हमें अपना कोई अलग सम्प्रदाय बनाना नहीं है। हमें आम लोगोंमें घुल-मिल जाना और केवल मानवमात्र बनकर ही काम करना होगा।*

●

---

* सर्वोदय-सम्मेलन, चाण्डिल (मानभूम, बिहार) में किया गया प्रवचन, ७-३-'५२।

३. ग्रामदान : एक परिपूर्ण विचार

मेरी एक मूलभूत श्रद्धा है कि हर मनुष्यके हृदयमें अन्तर्यामी है। ऊपर-ऊपरसे जो बुराइयाँ दीखती हैं, वे गहराईमें नहीं होतीं। इसलिए मनुष्यके हृदयकी गहराईमें प्रवेश करके वहाँ जो अच्छाइयाँ भरी हैं, उनको बाहर लानेकी कोई तरकीब मिलनी चाहिए, मिल सकती है। तेलंगानामें उस श्रद्धाके अनुसार एक चीज मिल गयी। एक छोटी-सी घटना—जमीनकी माँग हुई, देनेवाला भाई उपस्थित हुआ, मने उसे ईश्वरका इशारा समझा।

मालकियत धर्म-विरुद्ध

भूमिकी मालकियतका खयाल धर्म-विरुद्ध है, विचार-विरुद्ध है। मैं पूर्ण प्रेमसे जमीन माँगता था तो लोगोंने देना भी शुरू कर दिया। एक हवा बनती चली गयी। देश-विदेशके लोग हमारी यात्रामें आकर शामिल होने लगे। भूमि-समस्या हल होती है या नहीं, यह तो बिलकुल ही छोटी-सी चीज थी। पर एक तरीका आजमाया जा रहा था, जो गांधीजीका सिखाया हुआ था। दुनिया आज हिंसासे त्रस्त है, दिमाग काम नहीं कर रहा है। विकल्पके अभावमें शस्त्रास्त्र बढ़ाये जा रहे हैं। पर उससे कोई मसले हल नहीं होते हैं। इसीलिए इस दूसरे नये तरीकेको देखनेके लिए लोग कुतूहलसे आते थे।

ट्रस्टीके दो लक्षण

गांधीजी हमेशा 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त बताते थे। कुछ लोगोंका खयाल है कि यह मालकियत छोड़नेकी बात शायद गांधीजीके ट्रस्टीशिपके विचारके प्रतिकूल न भी हो, तो भी भिन्न है। यह कुछ विसंगत कार्य हो रहा है। इसीलिए मैं 'ट्रस्टी' की व्याख्या करना चाहता हूँ। माता-पिता अपने बच्चोंके लिए ट्रस्टी होते हैं, उससे बेहतर उपमा 'ट्रस्टी' की नहीं हो सकती। उनके ट्रस्टी होनेका लक्षण क्या है? एक तो यह है कि वे जितनी अपनी चिन्ता करते हैं, उससे ज्यादा अपने बच्चोंकी चिन्ता करते हैं, जिनके लिए उनका 'ट्रस्ट' है; और दूसरी यह कि लड़कोंको जल्द-से-जल्द समर्थ बनाकर उनके हाथोंमें कारोबार सौंपना चाहते हैं। ये दो लक्षण 'ट्रस्टी' के हैं। इसलिए 'फिलहाल बचा हुआ ट्रस्टीके तौरपर रखिये', ऐसा मैं कहता गया और 'वास्तवमें ग्रामदान ही होना चाहिए', यह बात समझाता गया।

दिल जोड़नेका काम

भूदानपर लोग आक्षेप करते थे कि उससे जमीनके छोटे-छोटे टुकड़े पड़ जायेंगे। मेरा उत्तर था कि 'मैं जमीनके टुकड़े बनाने नहीं, दिलोंके जो टुकड़े हो गये हैं, उनको जोड़ने आया हूँ। एक दफा दिल जुड़ जाय, फिर तो सभी जुड़ जायगा। भूदानमें दिल जोड़नका काम मुख्य है। वह हो जाय, तो बाकी सब चीजें उसके साथ हो ही जायँगी।'

कारुण्यपूर्वक समता

शुरुआतसे ही अगर मैं ग्रामदानकी बात करता, तो वह बननेवाली नहीं थी। भूदानके परिणामस्वरूप ही ग्रामदान आ सकता है। भूदानमें करुणा थी और ग्रामदानमें सहयोग है और समताकी एक कल्पना है। कारुण्यपूर्वक ही समता आनी चाहिए। दूसरी कृत्रिम रीतिसे समता अगर आ गयी, तो वह कल्याण-कारिणी होगी, ऐसा विश्वास नहीं है।

ग्रामदानकी समग्र कल्पना

हमें ग्रामदानकी पूरी कल्पना समझ लेनी चाहिए। अभी तक तो ऐसा चलता था कि जमीनवाले जमीन दे दें, तो ग्रामदान हो गया। मैंने भी शुरूमें ऐसा ही चलाया, फिर ध्यानमें आया कि यह विचार गलत है। केवल जमीन देनेसे ग्रामदान नहीं होगा। लोगोंने कल्पना कर रखी है कि कुछ 'हैव्ज' (अस्तिमान्) हैं तो कुछ 'हैव नाट्स' (नास्तिमान्) । पर एक दिन मेरे ध्यानमें आया कि इस दुनियामें कुलके कुल 'हैव्ज' हैं, 'हैव नाट्स' (सर्वहारा) परमेश्वरकी कृपासे दुनियामें कोई नहीं है। किसीके पास जमीन है, किसीके पास सम्पत्ति है, किसीके पास श्रम है, किसीके पास बुद्धि है, किसीके पास प्रेम है। कोई-न-कोई चीज हर किसीके पास पड़ी है और उस चीजका उपयोग वह अपने घरतक सीमित करता है। प्रेमकी कमी है, सो नहीं। लेकिन प्रेमको घरमें कैद कर रखा है। घरके बाहर वह नहीं जाता। बाहर 'कांपिटिशन' (होड़) है। लेकिन इस तरह प्रेमको हम घरके अन्दर रोके रखते हैं तो उसकी ताकत नहीं बनेगी। ग्रामदानके अन्दर सिर्फ जमीन देना ही नहीं, श्रमिकोंको, मजदूरोंको कहना चाहिए कि 'आज-तक हम अपनी मजदूरी घरके लिए खर्च करते थे, उसे अपनी मिलकियत समझते थे, लेकिन अब हम यह मजदूरी ग्रामको समर्पण करते हैं।' तभी वह ग्रामदान पूर्ण होगा। ग्रामदानका विकसित अर्थ है कि जिसके पास जो है, वह ग्रामको समर्पण करे। नहीं तो कुछ लोगोंका देनेका धर्म और कुछ लोगोंका लेनेका ही धर्म है, —ऐसा नहीं हो सकता। धर्म वही होता है, जो सबको लागू हो, जैसे सत्य धर्म है, तो वह सबको ही लागू है। करुणा सबको लागू है।

ग्रामदान : एक परिपूर्ण विचार

ग्रामदानका विचार इस तरह परिपूर्ण विचार है। सब उसमें सहयोग करें। उसमें ग्राम-उद्योग भी आते हैं। आज नहीं, कल अहिंसक समाज-रचनाकी, शान्तिकी आशा करनी है, तो यह लाजिमी है कि गाँव-गाँवमें स्वावलम्बन हो। लोग मिल-जुलकर काम करें, गाँवमें जो कच्चा माल पैदा हो, उसका पक्का माल गाँवमें ही बनायें। यह भी नहीं कि पुराने औजार ही इस्तेमाल करते रहें। इसमें भी नयी-नयी शोधें करें।

उद्योग और कृषि

फिर उद्योगकी तालीमकी बात आती है। ज्ञानके साथ कर्मकी तालीमकी बात आती है। आज तो ऐसी भयानक हालत है कि किसान अपने पेटके लिए पूरा खाता नहीं और बच्चेको कॉलिजमें भेजता है। इसमें अगर ज्ञान-तृष्णा होती, तब तो बड़ी अच्छी बात थी। परन्तु वह चाहता है कि उसका बच्चा श्रमसे बचे। परिणाम यह है कि बापका धन्धा लड़का करना नहीं चाहेगा। लाचारीसे करे, यह अलग बात है। लेकिन उसमें उसको दिलचस्पी और रस नहीं रहेगा। इस वास्ते तालीम बदले बिना, ज्ञान और कर्मका योग किये बिना न उत्पादन बढ़ेगा, न देशके गुणोंका विकास होगा।

उपनिषद्‌में कहा है, '**अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्। यया कया च विधया बहु अन्नं प्राप्नुयात्।**' जिस किसी साधन या क्रियासे भी अन्न बहुत बढ़ाओ, वह व्रत है। हम दकियानूस नहीं हैं। हमने कहा है कि विज्ञानके साथ अहिंसा अर्थात् आत्मज्ञान जुड़ जाय, तो पृथ्वीपर स्वर्ग आ सकता है। इसके लिए अधिक-से-अधिक लोग उद्योगोंमें लगने चाहिए, न कि खेतीमें। पर हर मनुष्यका सम्बन्ध खेतीसे आना चाहिए। मनको निर्विकार रखनेमें खेतीके परिश्रमसे जितनी मदद मिलती है, उतनी भजन-पूजनमें भी नहीं मिलती। आरोग्यके लिए भी यही बात है। अतः हर परिवारको कम-से-कम आधा एकड़ जमीन देनी चाहिए और बाकी-की खेती सामूहिक तौरपर की जा सकती है।

सहयोगकी भावना आवश्यक

मेरा मन स्वाभाविक ही सहयोग (कोआपरेशन) के लिए अनुकूल था। जहाँ ग्रामदान हो गया, वहाँ हाथमें 'कम्युनिटी' (समुदाय) आ गयी। फिर उसमें 'कम्युनिटी प्रोजेक्ट' (सामुदायिक विकास) हो सकता है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तानका वातावरण इसके अनुकूल हो रहा है।* ●

---

* एलवाल में दि० २१-९-'५७ को ग्रामदान-परिषद् में किया गया भाषण।

४. सप्त शक्तियाँ

नारी-शक्तियाँ

"कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां
स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा"

सप्त शक्तियाँ

- कीर्ति
- श्री
- वाणी
- स्मृति
- मेधा
- धृति
- क्षमा

१. कीर्ति

भगवद्गीतामें सात स्त्री-शक्तियोंका उल्लेख है। वे हैं : कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। वास्तवमें ये समाजकी शक्तियाँ हैं। सातका रूपक हमारी भाषाओंमें ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानके बाहरकी भाषाओंमें भी रूढ़ है। सात लोकोंका, सात आसमानोंका वर्णन मिलता है। इस तरह सप्त शक्तियोंकी कल्पना बहुत पुराने जमानेसे चली आयी है। तरह-तरहसे उसका विवरण होता है। भगवद्गीतामें चर्चित विवरण इस श्लोकमें है :

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।'

'कीर्ति' को एक शक्तिके रूपमें यहाँ रख दिया गया है। संस्कृतिके परिणामस्वरूप अच्छी कृतिके परिणामस्वरूप दुनियामें जो सद्भावना पैदा होती है, उसे 'कीर्ति', कहते हैं। कीर्तन शब्द भी उसीसे निकला है। भगवन्नाम-संकीर्तन शब्द भी उसीपरसे बना है। जहाँ मूलमें अच्छी कृति नहीं होती, वहाँ उसमेंसे सार्वत्रिक सद्भावना पैदा होनेका सवाल ही नहीं उठता। इसलिए कृति मूल है। कृतिमें कीर्ति अन्तर्हित है।

प्रथम शक्ति : कृति

प्रथम शक्ति कृति है। इसके परिणामस्वरूप पूरे वातावरणमें सुगन्धि फैलती है। ऐसी सुगन्धि, जो अच्छी कृतिके प्रति अनुराग पैदा करती है। यह अनुराग ही 'कीर्ति' है। महापुरुषोंके नाम दुनियामें चलते हैं। इसका मतलब यह कि उनकी अच्छी कृतियोंने सारे मानव-जीवनको अंकित किया है और उनका कीर्तन निरन्तर समाज-हृदयमें चलता है। अनेक महापुरुषोंकी जयन्तियाँ प्रचलित हैं। भगवान् राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, ईसामसीह, कबीर, नानक, तुलसीदास आदिकी जयन्तियाँ मनायी जाती हैं। इसी तरह कीर्ति काम करती है।

स्त्रियोंकी जिम्मेदारी

कृति, सत्कृति या अच्छी कृति जब की गयी, तब उसका जो फल मिलना था, वह समाजको मिला। लेकिन कीर्तिसे भविष्यकालमें भी कृति काम करती है। हमने अच्छी खेती की, बहुत मेहनत की, तो हमारे खेतमें अच्छी फसल आयेगी। उस अच्छी कृतिका अच्छा फल मिल गया। लेकिन अमुक किसानने अमुक खेतमें अमुक तरीकेसे काम किया और बहुत अच्छी फसल पैदा हुई, इस तरहसे कीर्ति

फैल जाती है और फिर वह कीर्ति इसी प्रकारकी कृतियोंको प्रेरणा देती है। इसलिए कृतिकी परम्परा चलानेवाली जो शक्ति है, उसे कीर्ति कहते हैं। माता-पिताकी सन्तान होती है, तो 'कुल' की परम्परा चलती है। गुरुके शिष्य होते हैं, तो 'ज्ञान' की परम्परा चलती है। लेकिन कृतिकी परम्परा कैसे चलेगी? कीर्ति कृतिकी परम्परा चलानेवाली एक नारी-शक्ति मानी गयी है। **'नारीणां कीर्तिः'** कह दिया, तो यह विशेष अर्थमें कृतिकी सुगन्ध फैलानेकी जिम्मेदारी स्त्रियोंपर आती है। अच्छी कृतियोंको संग्रहीत करनेकी शक्ति स्त्रियोंने दिखायी है, ऐसा अनुभव भी है। इसीको परम्परा कहते हैं, संस्कृति भी कहते हैं, जो कीर्तिका ही परिणाम है। कृतिकी यह परम्परा सतत जारी रखनेका काम कीर्ति करती है।

हमारी संस्कृति

कीर्तिसे कृति-परम्परा जारी रहती है और उसमेंसे संस्कृति निर्माण होती है—हमारी संस्कृति। जिनको हमने 'हम' माना—एक सीमित समाज हो गया। उसमें फलाने-फलाने अच्छे काम करनेका प्रयास हुआ है, उनके लिए आत्म-भाव उस समाजमें पैदा हुआ है। इसीका नाम है, उसकी 'संस्कृति'।

किसी एक ऋषिने पहले-पहल मांसाहार-त्यागका प्रयोग किया। उसके बहुत अच्छे परिणाम—शारीरिक और मानसिक निकले, तो उस कृतिको कीर्तिने फैलाया। तदनुसार दूसरोंने भी प्रयोग किये। उनकी भी एक परम्परा चली। फिर जिस समाजमें वह परम्परा चली, वह उसकी 'संस्कृति' बन गयी।

किसीने बैल और गायका समुचित उपयोग करनेकी कल्पना ढूँढ़ निकाली। बैलोंका उपयोग ठीक-ठीक करो और गायका दोहन करो। गायका दूध दुहनेकी यह कल्पना भी मनुष्यकी एक खोज है। एक प्राणी दूसरे प्राणीका दूध पीनेकी योजना करते हुए सृष्टिमें नहीं दीखता। लेकिन मानवने दूध पीनेकी योजना की—गाय, भैंस, बकरी इत्यादिके दूधकी। उसने यह भी जाना कि हम इनका दूध पीयेंगे, तो हमारे लिए ये प्राणी माता-पिताके समान हो जायेंगे। जैसे समाजवाद-में हर व्यक्तिके लिए पूर्ण संरक्षणकी योजना होती है, वैसे ही हमारे इस व्यापक समाजवादमें गाय-बैलको पूरा रक्षण देनेकी योजना हुई। यह 'संस्कृति' बन गयी।

स्त्रियोंका विशेष कार्य

पहले कृति और फिर कीर्तिसे परम्परा चलती है। उसमेंसे संस्कृति बनती है। यह सारा विचार स्त्रीके कामोंमें विशेष माना जायगा। यों परम्परा चलाने-की और संस्कृति बनानेकी जिम्मेवारी सारे मानव-समाजपर आयेगी। उसमें नर-नारीका भेद नहीं किया जायगा। लेकिन कुछ बातोंकी विशेष जिम्मेवारी किसी विभागपर आ जाती है। कीर्तिकी जिम्मेवारी स्त्रियोंपर आयी। उनके लिए वह

चीज अनुकूल थी। कृति सब कर लेते हैं, लेकिन फैलानेवाले वे होते हैं, जिनके हाथमें शिक्षणका अधिकार होता है। आजकल शिक्षणका अधिकार स्कूलके शिक्षकके हाथमें माना जाता है, पर उसका प्रथम और विशेष अधिकार माताको ही है। याने स्त्रीको ही है। वह बच्चेको दूध पिलाते वक्त अपनी संस्कृतिकी कहानियाँ सुनायेगी और उससे बच्चेका दिल और दिमाग बनेगा। यह सबकी सब शक्ति विशेषतः स्त्रियोंको हासिल होती है। इसीलिए भगवान्ने स्त्री-कार्योंमें कीर्ति-कार्यको शामिल किया।

कृतिके परिणामस्वरूप समाजमें सद्भावना जाग्रत रखकर उसकी परम्परा जारी रहे और तत्परिणामस्वरूप संस्कृति बने––इतना कुल-का-कुल कार्य-विभाग साधारण तथा प्राधान्यतः, विशेषतः स्त्रियोंका माना गया है।

२. श्री

कीर्तिः श्रीः। दूसरी शक्ति श्री-शक्ति है। 'श्री' शब्द बहुत प्राचीन है। यह भगवान्के नामके साथ या किसी आदरणीय पुरुषके नामके साथ भी जुड़ा रहता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण हम कहते हैं। श्रीहरि सर्वत्र मिलता है। मनुष्यको सम्बुद्ध (address) करनेमें भी 'श्री' लिखते हैं। राजाओंको राजश्री कहते हैं। ज्ञानी ब्राह्मणको ब्रह्मश्री कहते हैं। श्रीमान् शब्द भी प्रचलित हैं। यह शब्द ऋग्वेदका है। इसका मूल स्थान वेदमें है। वहाँ अग्नि का वर्णन करते हुए उसकी श्रीका वर्णन किया है : **'स दर्शतः श्रीः'**––अग्निकी श्री है, यानी उसकी श्री दर्शनीय है। जिसकी कान्ति दर्शनीय है, वह अग्नि दर्शतः श्रीः है। **'अतिथिर्गृहे गृहे'**––घर-घरमें वह अतिथि है। अतिथि-सेवाका साधन अग्नि है। वह रसोई करती है। यहाँ उत्पादनकी शक्तिके रूपमें श्रीको देखा। फिर उसका अर्थ लक्ष्मी हुआ; क्योंकि लक्ष्मी उत्पादनसे पैदा होती है। अग्निसे लक्ष्मी पैदा होती है। श्रम-शक्ति ही श्री है। जहाँ मनुष्य श्रम नहीं करता, वहाँ किसी प्रकारकी कान्ति, शोभा या लक्ष्मी नहीं हो सकती।

श्री शब्दके मुख्य अर्थ हैं––लक्ष्मी, कान्ति और शोभा। संस्कृतमें हाथके लिए 'हस्त' शब्द है, 'कर' भी है। हस्त शब्द दुनियामें 'हास्य' प्रकट करता है, याने शोभा प्रकट करता है। जब मनुष्य हाथोंसे काम करता है, तब दुनियामें हास्य प्रकट होता है। श्री सबका आश्रय-स्थान है। 'आश्रय' शब्द भी श्रीपरसे बना है। उत्पादन बढ़ता है, तो सबको आश्रय मिलता है। कान्ति, प्रभा भी बुद्धिका बहुत बड़ा आश्रय है। शोभा तो आश्रय है ही। कान्ति शब्द हमें बुद्धिकी प्रभा दिखाता है। 'लक्ष्मी' शब्द उत्पादन दिखाता है। शोभा औचित्य दिखाता है। जिस जगह जो करना उचित है, वह वहाँकी शोभा है। मैला अगर रास्तेमें

पड़ा है, तो वह अशुभ है। अगर खेतमें, गड्ढेमें पड़ा है और उसपर मिट्टी है, तो वह शुभ (उचित) है। लेकिन हम देखते हैं, विद्वानोंके लक्षण ! लिखनेके लिए जहाँ बैठते हैं, वहाँ वे फाउन्टेनपेन झाड़ा करते हैं। स्याही आसपास पड़ी रहती है, यह अनुचित है। उसमें शोभा नहीं है। स्वच्छता, पावित्र्य ये सब श्रीमें आते हैं। बुद्धिकी कान्तिकी चमक और लक्ष्मी, याने उत्पादन भी श्रीमें आता है। इसलिए श्री ऐसा शब्द है, जिसमें बहुत सारी अभिलषणीय वस्तुएँ हैं, जिनकी हम अभिलाषा कर सकते हैं, करनी चाहिए, वे सारी जुड़ जाती हैं।

स्त्रीकी शक्तियोंमें श्रीका वर्णन किया है, तो स्त्रीपर यह जवाबदारी आती है कि समाजमें उत्पादन बढ़ानेके लिए उद्योगशीलताकी प्रेरणा दे, ताकि लक्ष्मी रहे। घर साफ करना, आसपासका आँगन साफ करना इत्यादि स्वच्छताका काम स्त्रियाँ करती हैं। इसलिए संस्कृतमें कहावत है :

'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते।'

—घरको घर नहीं कहते, अगर उस घरमें गृहिणी न हो। गृहाभिमानी देवता गृहिणीके रूपमें हो, तो वह गृह कहलाता है। वह उस गृहकी शोभा कायम रखती है और बढ़ाती है।

स्वच्छता श्री है

मुझे तो इस देशमें शोभाका कुछ खयाल ही नहीं दीखता है। जहाँ अत्यन्त विषमता होती है, वहाँ शोभा नहीं होती। अपने शरीरमें जो अवयव हैं, उनके अलग-अलग काम हैं। लेकिन किसी अवयवको हम गंदा रखें, तो सारे शरीरको वह दूषित करेगा, शोभाहीन, कान्ति-विहीन बनायेगा। इसलिए हर अवयव अपना काम करता रहे, लेकिन साथ-साथ सब अवयवोंको स्वच्छ, निर्मल, कान्तिमान् बनाना जरूरी है, तभी शोभा है। पतंजलिके महाभाष्यमें कहा गया है : **'पृच्छ इमं पांसुलपादम्'**—पूछ ले किसी गँवारसे, जिसके धूलसे भरे हुए पाँव हैं। उस आदमीको गँवार कहा गया है, जिसके पाँवमें कीचड़ लगी है, धूल लगी है। पाँव स्वच्छ रखनेकी जरूरत, नाखून स्वच्छ रखनेकी जरूरत गँवार महसूस नहीं करता। हम भी कभी-कभी महसूस नहीं करते। हाथ, नाक, आँख स्वच्छ रखनेकी, पेट अन्दरसे स्वच्छ रखनेकी जरूरत योगी महसूस करते हैं। योगमें देहकी स्वच्छताका बहुत खयाल रखा जाता है। कुल-का-कुल स्वच्छताका विभाग श्रीमें आता है।

प्रचार-शक्ति और औचित्य

उत्पादन-विभाग श्रीमें आता है। जिससे सृष्टि हँसे, वह भी श्रीमें आता है

और कान्तिकी चमक, जो उसकी प्रचारक शक्ति है, वह भी श्री है। कान्तिका अर्थ प्रचार-शक्ति है। सूर्यमें सिर्फ आभा होती और प्रभा न होती, तो उसका प्रचार न होता। आभा तो वह है, जब बड़े तड़के सूर्य उगता है और प्रभा वह है, जब सूर्य उगनेके थोड़े समयके बाद चारों ओर उसकी किरणें फैलती है। वह श्री है। अन्दर तेजस्विता हो और बाहर वह फैली हो, उसका नाम है कान्ति। मैं दीवालों-पर लगे अशोभनीय चित्रोंको, पोस्टरोंको हटानेकी बात करता हूँ। उनमें श्री और औचित्य नहीं है। 'दर्शतः श्रीः'—जिसका दर्शन मंगल है, ऐसा वह नहीं है। यह औचित्य-विचार हमें हर जगह करना चाहिए। औचित्यके लिए ज्ञानकी जरूरत होती है। इसलिए कुछ हदतक इसमें ज्ञान भी आता है। तो, श्री एक परिणाम है, अनेकविध सावधानियोंका परिणाम है। कर्मक्षेत्रमें सावधानी, व्यवहारमें सावधानी, चिन्तनमें सावधानी रखते हैं, तो श्री होती है। किस वक्त क्या बोलना, इसमें भी औचित्य है। यह भी 'श्री' में आता है।

श्रीमान् ऊर्जित

इस तरह श्री एक परम व्यापक शब्द गीतामें शक्तिके रूपमें आया है। कहा है:

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥'

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और पार्थ धनुर्धर हैं, वहाँ श्री, विजय आदि सब हैं। इसमें श्रीको भूले नहीं हैं। भगवान्‌के जो छह गुण माने जाते हैं, उनमें भी 'श्री' आता है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा ॥'

—धर्म, यश, ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि मिलकर भगवान् बनते हैं। विभूतिका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है:

'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।'

जो-जो वस्तु श्रीमान् या ऊर्जित है, उसमें भगवान्‌की विभूति है। इसमें दो विभूतियाँ हैं। श्रीको ऊर्जके साथ रख दिया है। ऊर्जित याने आन्तरिक बल। बाहर जो प्रभा चमकती है, वह श्री है। कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं, जिनकी श्री प्रकट होती है और कुछ ऐसी होती हैं, जिनकी विभूति गुप्त रहती है। वे ऊर्जित हैं। श्रीमान् और ऊर्जित ऐसी दो महान् विभूतियाँ दुनियामें होती हैं—जैसे भगवान् विष्णु 'श्री' हैं और भगवान् शंकर 'ऊर्जित' हैं। जैसे जनक महाराज श्री हैं और शुकदेव ऊर्जित हैं। गीतामें योगी पुरुषके बारेमें कहा है कि जब उसका योग

अपूर्ण होता है, तब वह श्रीमान् पवित्र कुलमें जन्म लेता है अथवा योगीके कुलमें जन्म लेता है। पहली श्रीमद् विभूति है और दूसरी ऊर्जित विभूति है।

श्रीको बढ़ाना स्त्रियोंका काम

इस तरह गीतामें समझानेका सार यह है कि श्रीको बढ़ाना चाहिए। हमारी श्री कम न हो, शोभा कम न पड़े, हत-श्री न हो, यह एक जिम्मेवारी समाजपर है और शायद स्त्रियोंपर विशेष है, ऐसा भगवान् सूचित करना चाहते होंगे, इसलिए उन्होंने श्रीकी गिनती नारीके गुणोंमें की। वैसे, **'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'** इस श्लोकमें नारी याने केवल स्त्री नहीं है। मानवकी जो शक्ति है, उसे 'नारी' कहा गया है। इसलिए कीर्ति, श्री आदि श्रेष्ठ विभूतियोंका जो वर्णन है, वह सारे समाजपर लागू होता है।

३. वाणी

तीसरी शक्ति 'वाणी' है। जाहिर है कि मनुष्यको भगवान्ने अन्य प्राणियोंसे भिन्न एक वाणी दी है। दूसरे प्राणियोंके पास भी अपनी वाणी है, लेकिन वह इतनी स्फुट, स्पष्ट नहीं है, जितनी मनुष्यके पास है। छोटे-छोटे प्राणियोंकी अपनी वाणी है, जिसको हम समझ नहीं सकते। चींटियाँ, फफूंदी इशारेसे काम करती हैं। मधुमक्खियाँ एक-दूसरेसे मिल-जुलकर काम करती हैं, इसलिए मुमकिन है कि उनके पास भी अपनी कुछ वाणी हो। वाणी याने विचार-प्रकाशन-का साधन। मनुष्यको एक विशेष प्रकारकी वाणी हासिल हुई है। यह एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो भगवान्ने दी है। उसका उपयोग ठीक ढंगसे होता है, तो वह शक्ति उन्नतिके लिए साधन बन सकती है।

वाणी और भाषा

वाणी और भाषामें अन्तर है। भाषा भगवान्की दी हुई नहीं है, वाणी भगवान्की दी हुई है। भाषा बदलती है, वाणी नहीं। दुनियामें जितने मनुष्य हैं, सबको भगवान्ने आँख याने दर्शन-शक्ति दी है। उसी तरह विचार-प्रकाशन-शक्ति याने वाणी भी दी है। इसका रूपान्तर भाषामें होता है। भाषाएँ अनेकविध हैं। उन भाषाओंमें साहित्य बनता है, जो 'वाङ्मय' कहलाता है। वह सब गौण विभाग हैं। मुख्य विभाग वाणीका है। वाणीको हम कल्याण-कारिणी शक्तिके रूपमें परिणत कर सकते हैं। **'यद् यद् वदति तत्तदेव भवति'**—जिसकी वाणी सिद्ध है, वह मनुष्य जो भी बोलेगा, वैसा होगा। यहाँतक अनुभव पहुँचा है कि वाणीकी सिद्धि साक्षात् फलदायिनी होती है। जिस

मनुष्यको वाणीकी सिद्धि हो जाती है, वह जो शब्द बोलता है, तदनुसार दुनियामें होना ही चाहिए, इतनी शक्ति उसमें आती है। इसीको आशीर्वाद-शक्ति कहा जाता है। सुनते हैं कि आशीर्वाद या शापोक्ति सफल होती है, और हमारा वैसा अनुभव भी है। यह एक सिद्धि है। जो वाणीका उपयोग विशेष प्रकारसे करता है, उसे वह सिद्धि मिलती है।

वाणीकी मर्यादाएँ—सत्य वचन, मित-भाषण

वाणीके उपयोगकी मर्यादाओंमें एक यह है कि वाणीसे हमेशा सत्य उच्चारण ही होना चाहिए। सत्यकी व्याख्या यह है कि जिस चीजको हम सत्य समझते हैं, उसका उच्चारण करना चाहिए। सत्य बदलता जायगा। आज हमें सत्यका जो दर्शन होता है, उससे भिन्न कल हो सकता है। वाणीमें उतना फर्क करना होगा। लेकिन आज सत्यको हम जिस रूपमें मानते हैं, उसी रूपमें वाणीके द्वारा प्रकट करना चाहिए, दूसरे रूपमें नहीं। वाणीकी यह मर्यादा है कि वह सत्य हो।

दूसरी मर्यादा यह है कि वाणीसे मित-भाषण होना चाहिए। शब्द नपा-तुला हो, जिससे कि सत्यमें मदद हो। सत्यके लिए यह पथ्य है। मित-भाषण ही जरूरी नहीं है। जो लोग कम बोलते हैं, वे सत्य ही बोलते होंगे, ऐसी बात नहीं है। छिपानेके लिए भी मित-भाषण हो सकता है, लेकिन छिपानेके उद्देश्य-से नहीं, बल्कि सम्यक् चिन्तनके, ठीक चिन्तनके उद्देश्यसे मित-भाषण करना वाणी-का एक पथ्य है, जिससे मनुष्यकी वाणीसे सत्य ही निकलता है। इस तरह मित-भाषण सत्यको मदद करनेवाला पथ्य है।

अनिन्दा-वचन

वाक्-शक्तिके सिलसिलेमें तीसरा विचार यह आता है कि वाणीसे निन्दा-वचन न निकले। चाहे वह निन्दा-वचन सत्य हो, तो भी नहीं निकलना चाहिए। इससे वाणीमें हित-शक्ति आती है। सामनेवालेका वाणीसे हित होता है। यह शक्ति निन्दा-वचन न बोलनेसे आती है। खासकर किसी मनुष्यकी निन्दा उसके पीछे दूसरेके पास की जाती है। निन्दा ही नहीं, बल्कि किसीके बारेमें चिकित्सा अर्थात् दोषोंकी चिकित्सा, उसके पीछे दूसरे किसीके पास की जाती है। एक बात समझने-की है कि वाणी जो सिर्फ बाहर प्रकट होती है, वही नहीं है। मनमें जो उठती है, वह भी वाणी है। उसको 'परा वाचा' कहा है, जो गूढ़ रूप है। उससे भी हित-चिन्तन ही होना चाहिए। दोष-चिकित्सा नहीं होनी चाहिए। गुण-ग्रहण-की भावना होनी चाहिए। यह एक बहुत बड़ी चीज है, जिसका अभाव आज हम देखते हैं।

अक्सर वाणीसे दोषका उच्चारण होता है। उसमें दुनियाके वे दोष होते हों या न भी होते हों, सब उस वाणीमें दाखिल हो जाते हैं। अगर इस तरह दोष दाखिल हो गये, तो हमने अपना बहुत ही बड़ा नुकसान किया। दोष बाहर थे, याने दूर थ, उनका वाणीसे उच्चारण करके हम उन्हें नजदीक ले आये। दूसरे किसीके दोष थे, वे अपनी वाणीमें आ गये, अर्थात् नजदीक आ गये। मनमें आये बिना वाणीमें नही आते, अर्थात् मनमे भी आये। जो दोष दूसरे किसी मनुष्यके थे, बिलकुल ही बाहरके थे, वहाँसे उन्हें दूर ढकेला जा सकता था। उसके बदले हमने उन्हें अपनी वाणीमें प्रतिष्ठित किया, याने मनमें भी दाखिल किया। बाहरका कचरा उठाकर अपने मनमें दाखिल किया। इसलिए बहुत बड़ा भ्रष्टाचार हुआ।

उभय-मान्य हित-बुद्धिसे दोष-प्रकाशन

काम करनेवालोंको एक-दूसरेके विषयमें, कार्यके सिलसिलेमें चर्चा करनी पड़ती है, फिर इसमें दोष-चर्चा, दोष-चिन्तन भी आता है। उसमें हित-बुद्धिसे ही अगर दोषोंका आविष्करण कर सकते है, तो किया जाय; परन्तु जिसके दोषोंका आविष्करण हम करते हैं, उसका हित हो, ऐसी तीव्र वासना मनमें होनी चाहिए, जो उसे भी मान्य होनी चाहिए। यदि मेरे मनमें यह हो कि मैं उसके हितके लिए बोल रहा हूँ, तो उतना ही काफी नहीं है। उसे भी महसूस होना चाहिए कि मैं जो उसके दोषोंका उच्चारण कर रहा हूँ, वह उसके हितके लिए ही कर रहा हूँ। ऐसा जब सामनेवालेको महसूस हो और फिर दोष-प्रकाशन हो, तो वह चुभेगा नहीं। उससे उसकी चित्त-शुद्धिमें मदद होगी। इसलिए चित्त-शुद्धि उभय-मान्य हो, याने जिस मनुष्यके लिए बोला जा रहा है, उसे भी मान्य हो और हमें भी उसकी प्रतीति हो। इस तरह दोनों बाजू हित-बुद्धि होनी चाहिए।

किसीका ऑपरेशन करना है, तो ऑपरेशन करनेवालेको और जिसका किया जाना है, उसको मान्य होना चाहिए। जब दोनोंको मान्य होता है, तभी वह उचित होता है। जिसका ऑपरेशन किया जा रहा है, उसे मान्य न हो, तो अनुचित होता है। उसी तरह उभय-मान्य हित-बुद्धि हो, तभी दोष-प्रकाशन हो सकता है। गुण-दोषोंका विश्लेषण हित-बुद्धिसे ही होना चाहिए। इस तरह सामान्य व्यवहारकी यह मर्यादा है कि किसीका भी दोष-विश्लेषण उसके पीछे न हो, सामने हो और वह उभय-मान्य हित-बुद्धिसे हो, अन्यथा बोलनेकी कोई जिम्मेदारी किसीपर नहीं है।

मननपूर्वक मौन

सत्य भाषण, मित-भाषण, अनिन्दा-वचन, उभय-मान्य हित-बुद्धिसे दोष-प्रकाशन—ये सब जैसे वाणीके साधन हैं, वैसे ही मौन भी एक साधन है। मौनका

भी समावेश भगवान्‌ने मानसिक क्षेत्रमें किया है। 'मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम्'– वह जो मौन है, वह मननपूर्वक किया जाता है, इसलिए मनके साथ जोड़ा गया है। अगर मौन रखते हैं और अन्दर सद्वस्तुका मनन नहीं होता, तो वैसा मौन तो जानवर भी रखा करते हैं और कहा जाता है कि वह उनके आरोग्यका एक कारण है। मनुष्यको बोलना पड़ता है, इसलिए उसके श्वास और प्रश्वासमें अन्तर पड़ता है। श्वास-प्रश्वास विषम होते हैं, तो आरोग्यकी हानि होती है। जानवरोंमें श्वास-प्रश्वास समान होते हैं, इसलिए आरोग्य रहता है। वह मौन सिर्फ वाणीका है, लेकिन हम यहाँ उस मौनकी बात करते हैं, जिससे वाणीकी ताकत बढ़ती है। वह मननपूर्वक किया हुआ मौन है।

मनन इस बातका करना है कि किसीके जो गुण-दोष दिखायी देते हैं, उनमेंसे जो दोष हैं, वे देहके हैं और गुण आत्माके हैं। दोष अत्यन्त नश्वर हैं, जानेवाले हैं और गुण अमर हैं, टिकनेवाले हैं। अतः गुणोंपर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए, नश्वर चीजपर नहीं। दोष शरीरके हैं, इसलिए शरीरके साथ भस्म हो जाने-वाले हैं। यह चीज बहुत बार समझमें नहीं आती। अक्सर ऐसा भास होता है कि मनुष्यपर गुण और दोष दोनों लागू होते हैं। वस्तुतः एसा नहीं है। दोष देहपर लागू होते हैं और गुण आत्मापर। सत्य, प्रेम, निर्भयता आत्माका स्वभाव है। इसलिए आत्मामें सहज ही वे तीनों रहते हैं। ये सारे गुण आत्माका स्वरूप ही हैं। वैसे इनसे भी भिन्न, आत्माका एक स्वरूप है, जो निर्गुण कहलाता है। हम यहाँ सगुण आत्माके चिन्तनकी ही बात कर रहे हैं। मौन गुण चिन्तनके साथ होना चाहिए और वाणीसे दोषाविष्करणका मौका आये, तो जिसका दोषा-विष्करण करना हो, उसके सामने होना चाहिए और उभय-मान्य हित-बुद्धिसे करना चाहिए। वाणीकी ये कुछ मर्यादाएँ हम पालन करें, तो वाक्-शक्ति प्रबल होती है।

वाणीका पथ्य

शिक्षणमें भाषा-शक्ति विकसित की जाती है। अच्छी भाषा बोली जाय, लिखी जाय, जिसका प्रभाव हो, यह सोचा जाता है। वाणी अन्दरकी है और भाषा बाहरकी। बाहरकी होनेपर भी भाषाके विकासकी कोशिश की जाती है और उसका उपयोग भी है। अच्छी भाषासे मतलब है, जिस प्रकारकी वाणीका अभी हमने विचार किया, उसका ठीक, सम्यक् प्रकटीकरण। वाणी शब्दसे भिन्न होती है। वाणी प्रधान है, शब्द उसके साधन हैं। परा वाचा सूक्ष्म होती है। जो मानसिक भाव ह, वे प्रधान हैं। बहुतोंको खयाल नहीं है कि मनमें कोई गलत विचार आया और वह बाहर प्रकट नहीं हुआ, तो भी उसका दुनियापर खराब असर होता है और मनमें कोई अच्छा विचार आया और वह वाणीसे प्रकट

नहीं हुआ, तो भी उसका दुनियापर असर अच्छा होता है। इसलिए वाणी जो अन्तर्भाव प्रकट करती है, उसका भी नियम होना चाहिए। अन्दरसे जो संकल्प उठता है, वह ठीक उठे, गलत न उठे, उसपर अंकुश हो, यहाँ जाग्रतिकी जरूरत है। गलत संकल्प मनमें न उठें और उठनेपर भी उन्हें वाणीके द्वारा प्रकट न करें, इसका खयाल रखना चाहिए। सत्य वाणीका मतलब अक्सर यह माना जाता है कि जो भी गलत संकल्प मनमें आता है, उसे बोल बताना। लेकिन इस तरह खुला होना ठीक नहीं है। मनमें अगर गलत विचार उठें, तो उन्हें गुरुके पास, पूजनीय पुरुषके पास ही प्रकट किया जाय। वे हमें बचायेंगे। ऐसे विचार सर्वत्र बोलना खुले मनका नहीं, गलत मनका लक्षण है। इन पथ्योंके साथ वाणीका उपयोग हो, तो वाणी बहुत बड़ी शक्तिका रूप लेगी।

४. स्मृति

चौथी शक्तिका नाम है 'स्मृति'। यह एक बहुत ही सूक्ष्म शक्ति है। दुनियामें बहुत कुछ कार्य चलते हैं। उनके मूलमें अच्छी-बुरी दोनों प्रकारकी कामनाएँ होती हैं। कामनाओंके मूलमें एक संकल्प होता है और संकल्प करनेवाला मन है। इस प्रकार मूल मन, उसमेंसे संकल्प, फिर कामनाएँ, तदनुसार कर्म—यह है जीवनका ढाँचा।

शुभ और अशुभ स्मृति

जो कर्म किये जाते हैं, वे तो करनेपर समाप्त होते हैं, लेकिन उनका एक संस्कार चित्तपर उठता है। वह शुभ-अशुभ दोनों प्रकारका होता है, क्योंकि कर्म भी शुभ और अशुभ दो प्रकारके होते हैं। उन संस्कारोंका 'रेकार्ड' मनमें होता है। उसे 'स्मृति' कहते हैं। ये स्मृतियाँ बरसों बाद भी जाग्रत होती हैं। कुछ स्मृतियाँ दीर्घकालतक रहती हैं। कुछ स्मृतियाँ आती और जाती हैं। सारा-का-सारा रेकार्डका बोझ चित्त उठाना नहीं चाहता, क्योंकि जितने कर्म हम करें, उनके संस्कारकी स्मृति अगर रह जाय, तो बहुत बोझ होता है। इसलिए चित्त उसमेंसे कुछ फेंक देता है और कुछ रह जाता है, उसको स्मृति-शेष कहा जाता है। वही शेष स्मृति मनुष्यको भूतकालकी तरफ खींचती है, आकृष्ट करती है। अच्छी स्मृतियाँ हों, तो उनसे अच्छी प्रेरणाएँ मिलती हैं। बुरी स्मृतियाँ हों, अशुभ स्मृतियाँ हों, तो उनका खराब असर रह जाता है। अतः साधकके जीवनमें सबसे बड़ा प्रश्न होता है उन स्मृतियोंसे मुक्ति कैसे पायी जाय?

स्मृति स्वप्नमें भी आती है और जाग्रतिमें भी। सबका चित्तपर बोझ हो जाता है। अब ऐसा हो कि उचित स्मृतियाँ, शुभ स्मृतियाँ याद रहें और अशुभ

स्मृतियाँ नष्ट हो जायँ, तब तो जीवनके लिए बड़ा लाभ है। लेकिन कहीं ऐसा हो जाय कि अशुभ स्मृतियाँ रह जायँ और शुभ जायँ, तो जीवन बहुत ही खतरेमें है। इन स्मृतियोंपर सारा दारोमदार है कि साधकका चित्त आगे कितना बढ़ सकेगा, भूतकालसे कितना जकड़ा जायगा। भूतकालसे प्रेरणा पाकर मनुष्य आगे बढ़ता है। भूतकालके साथ जकड़ गया और बुरी स्मृतियोंने उसे जकड़ लिया, तो आगेकी प्रगति गलत राहपर होगी।

स्मृतियोंका चुनाव करके हम उनमेंसे अच्छी स्मृतियाँ याद रखें और बुरी स्मृतियाँ भूलें, यह कैसे हो? मान लीजिये, मुझे एक बुरी स्मृति नष्ट करनी है, ऐसा मैंने याद किया तो वह बुरी स्मृति दुबारा याद हुई। अमुक स्मृतिको खतम करना है, यों अगर मैं बोलता या सोचता चला जाऊँ तो खतम करनेके नामपर उसको याद ही करूँगा। वह दुहरायी जायगी, तिहरायी जायगी; यों वह मजबूत, मजबूत और मजबूत ही होगी।

भूलनेकी कला

हम एक जमानेमें पराधीन थे, गुलाम थे। अब आजादी हासिल करके हमने गुलामी मिटा दी। लेकिन इतिहासमें दोनोंका रेकार्ड रह गया। हमने भले ही गुलामी मिटायी और आजादी हासिल की, पर इतिहासमें वह गुलामी रह गयी याने स्मृतिमें वह चीज रह गयी। अब वहाँसे वह कैसे हटायी जाय? इसके लिए हरि-कृपाका आह्वान करना होता है। अपने चित्तसे ही अलग होनेकी प्रक्रिया करनी होती है, तब मनुष्य अनावश्यक स्मृतियोंसे छुटकारा पाता है। नहीं तो स्मृतिको मिटानेके नामसे ही स्मृति बढ़ती है। काम करते-करते बहुत-सी बातें सुननेमें आती हैं। उनको सुनते-सुनते ही भूल जानेकी कला सीखनी चाहिए, जिसे मैं सीखा हूँ। कोई शख्स कोई बात सुनाता रहता है, तो मैं सुनता हूँ। लेकिन जहाँ दूसरा वाक्य आया, पहला भूल जाता हूँ। अब बीचमें अगर कुछ महत्त्वकी खास चीज मुझे मालूम हुई तो उतनी रह गयी, और बाकी कुल-का-कुल खतम। उसमेंसे सार-सार रह जाता है। कभी अगर रिपोर्टिंग करनेकी जिम्मेवारी मुझपर आ जाय, तब तो हर वाक्य लिख लेना होगा, लेकिन सुनकर मैं अगर रिपोर्टिंग करूँ, तो इतना कह सकूँगा कि मुझे याद नहीं रहा, बहुत-सा भूल गया, इतना-इतना याद रह गया। इससे चित्तपर कोई बोझ नहीं और अच्छी स्मृतियाँ बिलकुल अंकित हैं। बहुतोंको आश्चर्य होता है कि यह शख्स पाँच-पचीस भाषाओंमेंसे अध्ययन करके बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें किस तरह याद करता है। इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है।

हम बहुत याद करते हैं, याद न करने लायक बहुत-सा बोझ उठाते हैं, इसलिए याद करने लायक स्मृतियाँ कम रहती हैं। वह बोझ अगर हटा सकें, तो अच्छी

स्मृतियाँ याद हो सकेंगी। मैं यदि अपना चरित्र लिखने बैठूँ, तो मैं नहीं समझता कि ५-२५ पृष्ठसे आगे बढ़ सकूँगा। बहुत सारा भूल गया। दूसरे कोई याद दिलाते हैं, तो याद आता है। पर साररूपेण जो है, वह जेबमें पड़ा हुआ है। जैसा हम जमा-खर्चके खाते लिखते हैं, पिछले सालमें दस हजारकी खरीद की और बारह हजारकी बिक्री हुई। फिर शेष क्या है, वह भी लिख रखे हैं। अगले साल जब हम अपना खाता लिखेंगे, तो शेष रकम बाकी और कुछ लेन-देन हो, जो जारी रखना हो, उतना लिखेंगे। बाकी सबका सब शेषमें आ गया। वह दस हजारकी खरीद और बारह हजारकी बिक्री याद नही रखेंगे। इस तरह अपने जीवनमें चित्तपर बोझ न हो, इसलिए मनुष्य भूलता जाता ही है, लेकिन मूरख मन जो खाता चलाने लायक है, उसको छोड़ देता है और जो खाता आगे चलाने लायक नही है, उसको अपना लेता है।

चुनावमें गलती

चुनावमें मनुष्य गलती करता है। अच्छा चुनाव यदि करें, तो स्मृतियोंमेंसे अच्छी स्मृति ही याद रखें और बुरी स्मृतियाँ छोड़ दें। अगर अच्छाईके लिए चित्तमें आकर्षण और सहज आकर्षण हो, तो बुरी स्मृतियाँ रहेंगी ही नहीं, सुनते-सुनते, देखते-देखते चली जायँगी। यह अभ्यासका विषय है। अगर यह सधा, तो उत्तरोत्तर स्मृति-शक्ति बढ़ती जानी चाहिए और वह बढ़ती जाती है।

बूढ़ा हुआ, स्मृति गलित हुई, याद नही आता! मेरी दादी बहुत बूढ़ी हो गयी, कोठरीमें गयी कुछ चीज लेनेके लिए। क्या लेने गयी सो भूल गयी। ऐसे ही वापस आ गयी। फिर याद करने लगी कि क्या लेनेके लिए गयी थी, याद नही। इतनी स्मृति क्षीण हुई। फिर भी शायद किसीने गहना देनेका वादा किया था और वह पूरा नहीं किया था, तो वह चीज उसे याद थी, क्योंकि वह चीज उसने न जाने कितनी दफा दुहरायी होगी। मैंने 'गीता-प्रवचन' में लिख रखा है कि मरते समय परमात्मा करे उसे वह स्मरण न रहे, ताकि अगले जन्मके लिए कुंजी बनकर दुर्गति न दे। सारांश, इस तरह मनुष्यकी स्मरण-शक्ति क्षीण तो होती है, फिर भी वह अगर उत्तम स्मरण याद करता जाय और उसे रखता चला जाय, अच्छा चुनाव करता चला जाय और अपनी वीर्य-रक्षा करे, तो स्मृति बढ़ती है।

स्मृति-शक्तिके साधन

मैंने एक नयी बात बीचमें जोड़ दी, 'वीर्य-रक्षा' की। अगर वीर्य-हानि होती है, तो स्मृति क्षीण हो जाती है। अच्छी-बुरी दोनों स्मृतियाँ क्षीण होती है। वीर्य अगर रहा, तो स्मृति उत्तम रहती है, बढ़ती चली जाती है। अच्छी स्मृतियाँ

ही टिकेंगी, दूसरी क्षीण होंगी। स्मरण-शक्ति तीव्र रहेगी, शक्तिशाली रहेगी या नहीं रहेगी, इसका आधार वीर्यपर है। वीर्य-रक्षा स्मृति-शक्तिको टिकाये रखनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। अब बिजलीके दीये आ गये हैं, लेकिन पुराने जमानेमें जो दीया जलता था, उसमें दीयेको तेल मिलता था और बत्तीके ऊपर उसकी प्रभा रहती थी। तेल वीर्य है और बत्ती बुद्धि है। उसमें जो चमक है, ज्योति है, वह उसकी ज्ञान-प्रभा है। अगर नीचेका तेल क्षीण हो जाय, तो बुद्धि-की ज्ञान-प्रभा, जिसका स्मृति एक अंग है, क्षीण हो जायगी। इस तरह वीर्य-रक्षापर ही स्मृति-शक्ति निर्भर है।

हम स्मृति-शक्ति बनाना चाहते हैं, तो उसके लिए दो बातें आवश्यक हैं, वीर्य-रक्षा और विवेक। विवेक याने चयन-शक्ति। बुरी स्मृति छोड़ी जाय, अच्छी स्मृतियोंको रखा जाय, यह काम विवेक करता है। वीर्यसे स्मृति बढ़ती जायगी। वीर्य न रहा और विवेक रहा, तो कुछ अच्छी स्मृतियाँ याद रहेंगी, परन्तु वे बलवान् नहीं होंगी। वीर्य होगा और विवेक नहीं होगा, तो स्मृति-शक्ति बलवान् रहेगी, लेकिन बुरी स्मृतियाँ भी बलवान् रहेंगी। इसलिए वीर्य-साधना और विवेक-साधना दोनों करनेसे स्मृतिका अच्छा चयन होगा और स्मृति-शक्ति बढ़ती जायगी। फिर जितना बुढ़ापा आता जायगा, उतनी स्मरण-शक्ति बढ़ती जायगी। यह अनुभवकी बात है। मेरा भी यही अनुभव है।

बुरी स्मृतियोंका विस्मरण

स्मृतियोंमें भी जो सबसे बुरी स्मृतियाँ होंगी, वे अपनी बुराईकी नहीं होंगी। मनुष्य अपने लिए कितना उदार होता है। वह अपनी बुरी स्मृति याद नहीं करता, उसे भूल जाता है। अपनी अच्छी स्मृतियाँ याद रखता है! कभी-कभी अपनी बुरी स्मृति भी याद रहती है, क्योंकि वह बहुत ही बुरी होती है; छोड़नेपर भी नहीं छूटती, लेकिन मामूली बुरी हो, तो मनुष्य उसे भूल ही जाता है। अपने लिए क्षमा-शीलता, उदारता, सहिष्णुता रखता है, इसलिए बुरी स्मृतियोंको भूल जाता है। अगर इस तरहकी उदारता और क्षमा न हो, तो जीवन असह्य हो जाय और आत्म-हत्या करनेकी नौबत आ जाय। लेकिन मनुष्य जीवन जीता है, इसका मतलब है कि उसको अपने प्रति आदर है और अनादरके कारणोंको भूल जाता है। इसलिए बुरी स्मृतियोंमें दूसरोंकी स्मृतियाँ ही ज्यादा याद रह जाती हैं। यह जो अपना-पराया भेद है, वह अनात्म-भावनाके कारण, आत्मज्ञानके अभावके कारण है।

आत्मज्ञानसे भेदोंकी समाप्ति

जब आत्मज्ञान बढ़ता है, तो दूसरे और भेद मिट जाते हैं। फिर ऐसा अनुभव होता है कि जिसे मैं अपना समझता हूँ, वह सिर्फ इस देहमें नहीं है।

यह देह एक विशेष जिम्मेवारीके तौरपर मिली है। जैसे मान लीजिये, कोई श्रीमान्‌का मकान है, उसमें पचास कोठरियाँ है और मालिक उनमेंसे एक कोठरीमें रहता है। वह कोठरी खास उसके चार्जमें है। बाकी कोठरियोंमें दूसरे लोग रहते हैं। लेकिन कुल मकान उसका है। दूसरी कोठरियोंमें जो मनुष्य रहते हैं, वे उसीके मकानके अन्दर रहते हैं। वैसे अपना एक बहुत बड़ा मकान है, और उस मकानमें लाखों-करोड़ों कोठरियाँ हैं, उनमेंसे एक कोठरीमें एक जिम्मेवारके तौरपर मैं रहता हूँ, उसका उपयोग करता हूँ, उसमें झाड़ू लगाता हूँ, उस कोठरीकी विशेष जिम्मेवारी मुझपर है। दूसरी कोठरियोंमें मेरे साथी, भाई आदि रहते हैं, जो अपनी-अपनी कोठरियोंकी जिम्मेवारी लेते हैं, लेकिन कुल मिलाकर वह मकान मेरा है, मेरी दूसरी कोठरीमें जो रहता है, उसका भी है और तीसरी कोठरीमें जो रहता है, उसका भी है। मान लीजिये, एक सामूहिक कुटुम्ब है। उस कुटुम्बमें हम दस-बीस-पचीस भाई इकट्ठे रहते हैं। हमारा सबका मिलकर एक मकान है। पर सब अलग-अलग कोठरियोंमें रहते है। तो जिस-जिस कोठरीमें जो-जो रहते हैं, उस-उस कोठरीके वे खास जिम्मेदार है। लेकिन कुल मकान सबका है। यह जिसने पहचाना, वह जितनी उदारता अपने लिए बरतेगा, उतनी उदारता दूसरोंके लिए बरतेगा। इसलिए जैसे अपनी बुरी स्मृतियाँ भूलेगा, वैसे दूसरोंके बारेमें जो बुरी स्मृतियाँ याद रह गयीं, गलत स्मृतियाँ याद रह गयी, उन्हें भी भूलेगा। लेकिन आत्मज्ञानके अभावमें मनुष्य 'मैं भी अलग, वह भी अलग और उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं' ऐसा समझता है; इसलिए अपनी बुराइयाँ तो भूल जाता है, लेकिन दूसरोंकी याद रखता है। आत्मज्ञान होनेपर यह नहीं हो सकता।

आत्मज्ञानकी प्रक्रिया

आत्मज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता है, कदम-ब-कदम बढ़ता है। चित्त-शुद्धिके परिणामस्वरूप यदि व्यापक आत्मज्ञान हो जाय, तो बहुत-सारे मसले हल हो जायँगे। लेकिन ऐसा होता नहीं है। एक माँको इतना आत्मज्ञान होता है कि ये जो मेरे बच्चे हैं, वे मेरा ही रूप हैं। चार बच्चे और वह (माँ) मिलकर हम पाँच हैं, ऐसा उसके मनमें आता है, तो उसका आत्मज्ञान एक देहतक सीमित न रहकर पाँच देहोंतक हो जाता है। उन बच्चोंके बारेमें भी कोई बुरी स्मतियाँ हों, तो वह भूल जाती है। बच्चोंकी बुराइयाँ वह भूल जायगी और जितनी अच्छाइयाँ उन्होंने की होंगी, उतनी याद रखेगी। याने जैसा वह अपने लिए करती है कि अपनी बुराइयाँ भूलना और अच्छाइयाँ याद रखना, वैसे ही अपने बच्चेके लिए करती है। इसी प्रक्रियाके कारण वह अपनेमें और अपने बच्चेमें भेद नहीं पाती। उतना आत्मज्ञान उसका फैल गया। जिसका आत्मज्ञान अत्यन्त व्यापक हुआ

जो सब सृष्टिके साथ एकरूप हुआ, उसकी सब बुरी स्मृतियाँ खतम होंगी और अच्छी याद रहेंगी। लेकिन ऐसा हमारा होता नहीं, इसलिए ज्यादातर दूसरोंकी बुरी स्मृतियाँ और अपनी अच्छी स्मृतियाँ याद रहती हैं।

वीर्य, विवेक और आत्मज्ञान

विवेकसे अच्छी स्मृतियाँ याद रहेंगी।
वीर्यसे स्मृतियाँ याद रहेंगी और मजबूत बनेंगी।
आत्मज्ञानसे अपना-पराया भेद मिटेगा।

जब ये तीनों चीजें इकट्ठी होंगी, तो जीवन परम मंगल होगा और स्मृति-शक्तिका, जिसे भगवान् कहते हैं, आविर्भाव होगा, जो कल्याणकारी होगी। अन्यथा स्मृतियाँ कल्याण और अकल्याण दोनों कर सकती हैं।

५. मेधा

हर भाषामें कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका ठीक पर्याय न उस भाषामें मिलता है और न दूसरी किसी भी भाषामें मिलता है। 'इस्लाम' शब्दको लीजिये। इसमें समर्पण और शांति–ये दोनों भाव हैं। ऐसे दोनों भाव एक साथ बतानेवाला शब्द हमारे पास नहीं है। जैसे 'धर्म' शब्द है। धर्मका तर्जुमा अंग्रेजीमें किसी एक शब्दसे नहीं होगा—फूलका धर्म, पुष्पका धर्म कहा, तो इसमें क्वालिटी (गुण) दिखायी जाती है। धर्म याने राइचसनेस (पवित्रता), धर्म याने ड्यूटी (कर्तव्य), धर्म याने रिलीजन (विश्वास), धर्म याने 'सस्टेनिंग पावर' (टिकाऊ शक्ति) —तो ऐसे कई शब्द इस्तेमाल करने पड़ते हैं। कभी-कभी एक शब्द अनेक अर्थोंमें एक ही स्थानमें प्रयुक्त किया जाता है, तब तो उसका तर्जुमा अशक्य ही हो जाता है। ऐसे शब्दोंमेंसे यह शब्द है—'मेधा'। गीतामें त्यागी पुरुषके वर्णनमें 'मेधावी' शब्द आया है—'**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।**'—इसमें वर्णन तो त्यागीका है, लेकिन उसको दो और विशेषण जोड़ दिये हैं—सत्त्वसमाविष्टः, मेधावी और परिणाम बताया है छिन्नसंशयः—उसका संशय खतम हो गया। इसमें भगवान्‌ने शब्दके मूल अर्थमें प्रवेश किया है। मेधाका एक अर्थ होता है त्याग, बलिदान–अश्वमेध, घोड़ेके लिए अपना बलिदान। '**नृमेधः अतिथिपूजनम्**'—नृमेध–मनुष्यके लिए, अतिथियोंके लिए अपना त्याग अर्थात् अतिथिपूजनम्, ऐसा मनुने अर्थ समझाया है, यह मात्र 'मेधा' शब्दमें है।

मेधा याने परिपूर्ण आकलन

'मेधा' शब्द मूलमें आकलन-शक्तिका द्योतक है। अरबीमें अक्ल शब्द है, याने आकलन-शक्ति। 'कलन्' धातुको 'आ' उपसर्ग जोड़नेसे आकलन शब्द

यह देह एक विशेष जिम्मेवारीके तौरपर मिली है। जैसे मान लीजिये, कोई श्रीमान्‌का मकान है, उसमें पचास कोठरियाँ हैं और मालिक उनमेंसे एक कोठरीमें रहता है। वह कोठरी खास उसके चार्जमें है। बाकी कोठरियोंमें दूसरे लोग रहते हैं। लेकिन कुल मकान उसका है। दूसरी कोठरियोंमें जो मनुष्य रहते हैं, वे उसीके मकानके अन्दर रहते हैं। वैसे अपना एक बहुत बड़ा मकान है, और उस मकानमें लाखों-करोड़ों कोठरियाँ हैं, उनमेंसे एक कोठरीमें एक जिम्मेवारके तौरपर मैं रहता हूं, उसका उपयोग करता हूं, उसमें झाड़ू लगाता हूँ, उस कोठरीकी विशेष जिम्मेवारी मुझपर है। दूसरी कोठरियोंमें मेरे साथी, भाई आदि रहते हैं, जो अपनी-अपनी कोठरियोंकी जिम्मेवारी लेते हैं, लेकिन कुल मिलाकर वह मकान मेरा है, मेरी दूसरी कोठरीमें जो रहता है, उसका भी है और तीसरी कोठरीमें जो रहता है, उसका भी है। मान लीजिये, एक सामूहिक कुटुम्ब है। उस कुटुम्बमें हम दस-बीस-पचीस भाई इकट्ठे रहते हैं। हमारा सबका मिलकर एक मकान है। पर सब अलग-अलग कोठरियोंमें रहते हैं। तो जिस-जिस कोठरीमें जो-जो रहते हैं, उस-उस कोठरीके वे खास जिम्मेदार हैं। लेकिन कुल मकान सबका है। यह जिसने पहचाना, वह जितनी उदारता अपने लिए बरतेगा, उतनी उदारता दूसरोंके लिए बरतेगा। इसलिए जैसे अपनी बुरी स्मृतियाँ भूलेगा, वैसे दूसरोंके बारेमें जो बुरी स्मृतियाँ याद रह गयीं, गलत स्मृतियाँ याद रह गयी, उन्हें भी भूलेगा। लेकिन आत्मज्ञानके अभावमें मनुष्य 'मैं भी अलग, वह भी अलग और उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं' ऐसा समझता है; इसलिए अपनी बुराइयाँ तो भूल जाता है, लेकिन दूसरोंकी याद रखता है। आत्मज्ञान होनेपर यह नहीं हो सकता।

आत्मज्ञानकी प्रक्रिया

आत्मज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता है, कदम-ब-कदम बढ़ता है। चित्त-शुद्धिके परिणामस्वरूप यदि व्यापक आत्मज्ञान हो जाय, तो बहुत-सारे मसले हल हो जायँगे। लेकिन ऐसा होता नहीं है। एक माँको इतना आत्मज्ञान होता है कि ये जो मेरे बच्चे हैं, वे मेरा ही रूप है। चार बच्चे और वह (माँ) मिलकर हम पाँच हैं, ऐसा उसके मनमें आता है, तो उसका आत्मज्ञान एक देहतक सीमित न रहकर पाँच देहोंतक हो जाता है। उन बच्चोंके बारेमें भी कोई बुरी स्मृतियाँ हों, तो वह भूल जाती है। बच्चोंकी बुराइयाँ वह भूल जायगी और जितनी अच्छाइयाँ उन्होंने की होंगी, उतनी याद रखेगी। याने जैसा वह अपने लिए करती है कि अपनी बुराइयाँ भूलना और अच्छाइयाँ याद रखना, वैसे ही अपने बच्चेके लिए करती है। इसी प्रक्रियाके कारण वह अपनेमें और अपने बच्चेमें भेद नहीं पाती। उतना आत्मज्ञान उसका फैल गया। जिसका आत्मज्ञान अत्यन्त व्यापक हुआ

जो सब सृष्टिके साथ एकरूप हुआ, उसकी सब बुरी स्मृतियाँ खतम होंगी और अच्छी याद रहेंगी। लेकिन ऐसा हमारा होता नहीं, इसलिए ज्यादातर दूसरोंकी बुरी स्मृतियाँ और अपनी अच्छी स्मृतियाँ याद रहती है।

वीर्य, विवेक और आत्मज्ञान

विवेकसे अच्छी स्मृतियाँ याद रहेंगी।

वीर्यसे स्मृतियाँ याद रहेंगी और मजबूत बनेंगी।

आत्मज्ञानसे अपना-पराया भेद मिटेगा।

जब ये तीनों चीजें इकट्ठी होंगी, तो जीवन परम मंगल होगा और स्मति-शक्तिका, जिसे भगवान् कहते हैं, आविर्भाव होगा, जो कल्याणकारी होगी। अन्यथा स्मृतियाँ कल्याण और अकल्याण दोनों कर सकती हैं।

५. मेधा

हर भाषामें कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका ठीक पर्याय न उस भाषामें मिलता है और न दूसरी किसी भी भाषामें मिलता है। 'इस्लाम' शब्दको लीजिये। इसमें समर्पण और शांति–ये दोनों भाव हैं। ऐसे दोनों भाव एक साथ बतानेवाला शब्द हमारे पास नहीं है। जैसे 'धर्म' शब्द है। धर्मका तर्जुमा अंग्रेजीमें किसी एक शब्दसे नहीं होगा—फूलका धर्म, पुष्पका धर्म कहा, तो इसमें क्वालिटी (गुण) दिखायी जाती है। धर्म याने राइचसनेस (पवित्रता), धर्म याने ड्यूटी (कर्तव्य), धर्म याने रिलीजन (विश्वास), धर्म याने 'सस्टेनिंग पावर' (टिकाऊ शक्ति) —तो ऐसे कई शब्द इस्तेमाल करने पड़ते हैं। कभी-कभी एक शब्द अनेक अर्थोंमें एक ही स्थानमें प्रयुक्त किया जाता है, तब तो उसका तर्जुमा अशक्य ही हो जाता है। ऐसे शब्दोंमेंसे यह शब्द है—'मेधा'। गीतामें त्यागी पुरुषके वर्णनमें 'मेधावी' शब्द आया है—'**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।**'—इसमें वर्णन तो त्यागीका है, लेकिन उसको दो और विशेषण जोड़ दिये हैं—सत्त्वसमाविष्टः, मेधावी और परिणाम बताया है छिन्नसंशयः—उसका संशय खतम हो गया। इसमें भगवान्‌ने शब्दके मूल अर्थमें प्रवेश किया है। मेधाका एक अर्थ होता है त्याग, बलिदान–अश्वमेध, घोड़ेके लिए अपना बलिदान। '**नृमेधः अतिथिपूजनम्**'—नृमेध–मनुष्यके लिए, अतिथियोंके लिए अपना त्याग अर्थात् अतिथिपूजनम्, ऐसा मनुने अर्थ समझाया है, यह मात्र 'मेधा' शब्दमें है।

मेधा याने परिपूर्ण आकलन

'मेधा' शब्द मूलमें आकलन-शक्तिका द्योतक है। अरबीमें अक्ल शब्द है, याने आकलन-शक्ति। 'कलन्' धातुको 'आ' उपसर्ग जोड़नेसे आकलन शब्द

बनता है, वह मेधा है। एक चीज हमारे सामने है, उसका सांगोपांग विश्लेषण करके फिर उसको जोड़ देते हैं, तो उसका पूरा आकलन होता है। यह घड़ी है—घड़ीका एक-एक हिस्सा, एक-एक पुर्जा अलग करके रखें, तो घड़ीकी रचनाका थोड़ा-सा ज्ञान होगा। लेकिन उसका पूरा ज्ञान तब होगा, जब सारे पुर्जे इकट्ठे करके आप घड़ी बनायेंगे। घड़ीके पुर्जे अलग किये, उसमें एक किस्मका ज्ञान होता है; फिर अलग किये हुए पुर्जे इकट्ठे किये और उसकी घड़ी बनायी, तो दूसरे किस्मका ज्ञान होता है। ये दोनों मिलकर पूरा आकलन होता है। इसको 'मेधा' कहते हैं। मेधा याने परिपूर्ण आकलन। जो विश्लेषण और संश्लेषणके जरिये होता है उसीको मेधा कहते हैं। हम रोज ईशावास्यका पाठ करते हैं। उसमें परमेश्वरकी विभूतिका प्रथम 'विऊह' फिर 'सम्ऊह'—ऐसे दो शब्द इस्तेमाल करके परमेश्वर-का आकलन बताया है। विऊह—अलग-अलग करके समझाना, सम्ऊह—इकट्ठा करके समझाना। विऊह-सम्ऊह—ये दोनों जब होते हैं, तब पूर्ण आकलन होता है। इसको व्याससमास भी कहते हैं। संस्कृतमें व्यास याने विस्तार, अलग-अलग करना, समास याने गठरी बनाना। दो भिन्न-भिन्न शब्दोंसे इस विविध प्रक्रिया, आकलनकी शक्तिका वर्णन किया जाता है। इस आकलनको मेधा कहते हैं और ऐसी मेधा जिसके पास है, उसे 'मेधावी' कहा जाता है। ऐसी मेधा जहाँ होती है, वहाँ मनुष्य छिन्न-संशय हो जाता है, उसका संशय बाकी नहीं रहता; क्योंकि उभयविध प्रक्रिया करके उस वस्तुका समग्र आकलन—ज्ञान-विज्ञान सहित हो गया। विज्ञान सहित याने विविध ज्ञान, विस्तारित ज्ञान, विश्लेषण ज्ञान हो गया, और उसके साथ ज्ञान मिला—ये दोनों हुए, वहाँ आकलन पूर्ण होता है। इसलिए फिर संशय नहीं रहता।

त्यागके बिना आकलन नहीं

त्याग और बलिदानके लिए भी संस्कृतमें 'मेध' शब्द इस्तेमाल करते हैं। वह भी मेधाके साथ जुड़ा हुआ है। आकलन करनेके लिए बहुत कुछ त्यागकी आवश्यकता होती है। जहाँ मनुष्य भोग-परायण बनता है, वहाँ उसकी आकलन-शक्ति कुण्ठित होती है। आकलन-शक्ति उसमें होती है, जो द्रष्टा बनता है, भोक्ता नहीं। भोक्ता बननेमें मनुष्य अपनेको उस पदार्थमें समाविष्ट करता है, उस पदार्थके साथ अपनेको जोड़ देता है। आकलनके लिए अपनेको उस पदार्थसे अलग करनेकी जरूरत होती है। यह बड़ा भेद है। भोगके बिना शरीर चलता नहीं। शरीरसे काम लेना है, अतः कुछ-न-कुछ भोगकी आवश्यकता रहेगी, यह शरीर-की लाचारी है। लेकिन ज्ञान-शक्तिके लिए पदार्थसे अपनेको अलग रखनेकी जरूरत है। उसका सांगोपांग आकलन अगर करना है, तो उसके साथ अपनेको जोड़ नहीं सकते। खेलनेवाला खेलमें शामिल होता है, अतः वह खेलको नहीं पहचानता।

पर जो निरीक्षक (अम्पायर) होता है, वह पहचानता है; क्योंकि वह द्रष्टा है, खेलके अन्दर शामिल नहीं है, उसने खेलके साथ अपनेको जोड़ा नहीं है, अपनेको उससे अलग रखा है, इसलिए वह उसका आकलन कर सकता है। भोगमें मनुष्य अपनेको भोग्य वस्तुके साथ जोड़ता है। जब वह भोक्ता बनता है, तो वह वस्तु भोग्य बनती है और फिर वह ज्ञान-वस्तु नहीं रहती, ज्ञेय नहीं रहती, भोग्य बनती है। बीज बोनेवालेको फल-उत्पत्तितकका जो ज्ञान होता है, वह फल खानेवालेको नहीं होता। लाखों लोग आम खाते हैं, लेकिन आम किस प्रक्रियासे पैदा होता है, उसका ज्ञान उनको नहीं होता।

द्रष्टाको आकलन

वस्तुके समग्र आकलनके लिए उससे अपनेको अलग रखना पड़ता है। वस्तु-के गुणके आकलनके लिए अगर उसके साथ सम्पर्क जोड़ना ही पड़े, तो ज्ञान-दृष्टिसे ही जोड़ना होता है—यह आकलनकी प्रक्रिया है। वस्तुसे अपनेको अलग रखकर उसका द्रष्टा बनना—उस वस्तुके ज्ञानके लिए, उसके किसी गुणके आक-लनके लिए ही उस वस्तुसे सम्बन्ध जोड़ना पड़े वहाँ जोड़ना, याने इन्द्रियोंद्वारा उसके गुणोंको ग्रहण करना। जैसे, आमका समग्र ज्ञान अलग रहकर प्राप्त किया, लेकिन उसके रसका ज्ञान हासिल करना है, तो जिह्वासे चखना चाहिए, यह भोग नहीं है। भोग तो उसके खानेमें है। आकलनके लिए उस वस्तुके साथ अपनेको जोड़ना भी पड़ता है। जितना जोड़ना पड़े, उतना जोड़ना और बाकी अपनेको उससे अलग रखना, यह प्रक्रिया आकलनके लिए जरूरी होती है। भोगमें हम उसी चीजमें खुद दाखिल होते हैं, द्रष्टा नहीं बनते। त्यागमें हम द्रष्टा बनते हैं। इस तरह भोग और त्यागमें बहुत बड़ा फर्क है, फिर भी देहके लिए कुछ भोगकी जरूरत होती है, इसलिए उसको कुछ मिष्टान्न देना पड़ता है।

त्याग + आकलन + निर्मलता = मेधा

मैंने जीवनकी व्याख्या ही ऐसी की है—इसमें त्याग 'दो' मात्रामें और भोग 'एक' मात्रामें होता है। जैसे, हाइड्रोजन दो मात्रामें और ऑक्सीजन एक मात्रामें लेनेसे पानी बनता है, उसी तरहसे त्याग दो मात्रामें और भोग एक मात्रामें हो, तो जीवन बनता है। आगे त्याग, पीछे त्याग, बीचमें भोग—इस तरह एक भोगके इर्दगिर्द दो त्याग हम खड़े करते हैं, तब जीवन बनता है। जीवनके लिए कुछ भोगकी आवश्यकता है, तो मनुष्य उतना भोग करे; लेकिन आकलनके लिए, द्रष्टा बनने-के लिए त्यागकी जीवनमें जरूरत है। इसलिए 'मेध' शब्द त्यागवाचक, त्यागके अर्थमें प्रयुक्त है। इसमेंसे 'मेधा' शब्द बना। त्याग-बुद्धि मेधाका एक अंग है, आकलन-शक्ति दूसरा अंग है और तीसरा अंग संशुद्धि—पावित्र्य, निर्मलता है।

अब यह गुण भी ज्ञानके साथ जुड़ा हुआ है। गृहस्थाश्रमी पुरुषके लिए 'गृहमेधिन्' शब्द आता है, अर्थात् जिसने अपने घरको पवित्र बनाया। तो स्वच्छता, निर्मलता, पावित्र्यके अर्थमें भी 'मेध' शब्दका उपयोग होता है। इसके लिए ज्ञानकी जरूरत है। जब बुद्धि स्वच्छ, निर्मल नहीं होती, तब वहाँ प्रतिबिम्ब ठीक नहीं उठता। हमारी आँखोंमें कोई दोष आ जाता है, तो सृष्टिका दर्शन ठीक नहीं होता। आँख अगर स्वच्छ रहे, तो दर्शन ठीक होता है। काँच अगर मलिन रहा, तो वस्तुका दर्शन नहीं होता। काँच निर्मल होता है, तो ठीक दर्शन कर सकते हैं। यह जो निर्मलता है, उसको संस्कृतमें 'सत्त्व' कहते हैं। **'त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी'**——जो मनुष्य त्यागी है, या जो सत्त्वसमाविष्ट है, याने जिसमें सत्त्वगुण परिपक्व हुआ है और जो मेधावी है, जिसकी आकलन-शक्ति तेज है, जिसको दोहरा बल उपलब्ध है——याने दो प्रक्रियाओंसे पूर्ण बोध, आकलन करनेकी जिसमें शक्ति है, वह मनुष्य मेधावी है। ऐसा जो मनुष्य होता है, उसके सब संशय छिन्न होते हैं। त्याग-बुद्धि, निर्मलता और द्विविध प्रक्रियासे समग्र आकलन करनेकी शक्ति——ये तीन मिलकर 'मेधा' शब्द बनता है। तो यह बहुत ही प्राणवान् शब्द हो गया।

'हरिमेधा'

भागवतमें उद्धव सुन रहा है और भगवान् बोध देते हैं। जैसे, श्रीकृष्णार्जुन-संवाद गीतामें है, वैसे भागवतमें माधवोद्धव-संवाद है। उसमें शुकदेवने उद्धवको 'हरिमेधा' की पदवी दी है। वे भागवतके प्रवक्ता थे और उद्धव हरिमेधा थे, ऐसा कहा है। उद्धवने अपनी मेधा भगवान्में रखी——भगवान्के लिए त्याग करनेवाले, भगवान्का आकलन करनेवाले, भगवान्के पावित्र्यका ध्यान करनेवाले——ऐसे तिहरे अर्थमें वहाँ 'हरिमेधा' शब्दका उपयोग किया गया है। हरिमेधा याने हरिको ग्रहण करनेकी बुद्धि। हरि-भक्ति शब्द रूढ़ है, लेकिन यह विशेष शब्द इस्तेमाल किया है। जिसकी मेधा हरिमय है, अर्थात् ये तीन शक्तियाँ जिसने हरिके चरणोंमें समर्पित की हैं, वह हुआ——'हरिमेधा'।

आहार-शुद्धिकी आवश्यकता

यह जो 'मेधा' शब्द है, उसमें एक अर्थमें आहार-शुद्धिकी भी आवश्यकता होती है। जहाँ आहार-शुद्धि नहीं होगी, वहाँ सूक्ष्म धारण-शक्ति——आकलन-शक्ति——संभव नहीं है। वहाँ बुद्धि जड़ बनेगी और स्थूल आकलन होगा। इसलिए हिन्दुस्तानमें विशेषतया इस विचारका विकास हुआ कि आहार-शुद्धि होनी चाहिए। योगशास्त्रमें परिणाम यह आया कि **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**——हम सत्त्व-शुद्धि करना चाहते हैं, तो उसके लिए आहार-शुद्धिकी आवश्यकता

होगी। मेधा उस मनुष्यमें होगी, जिसकी जीवन-शुद्धि होगी और जीवन-शुद्धिके लिए आहार-शुद्धि एक साधन है। स्वच्छ, निर्मल आहार हो तो चित्त प्रसन्न रहता है और उसकी आकलन-शक्ति तेज रहती है। वैसे तो मानव-चित्तमें इतनी चिन्तन-शक्ति है कि वह समग्र विश्वका द्रष्टा—साक्षी बन सकता है। पर इतनी अनन्त सृष्टि पड़ी है कि उसका परिपूर्ण आकलन मानव-बुद्धि करेगी, यह माननेकी जरूरत नहीं है। मानव-बुद्धि भी आखिर ईश्वरकी स्फूर्तिका अंशमात्र है। इसलिए एक अंश परिपूर्ण आकलन करेगा, ऐसा नहीं मान सकते। फिर भी विज्ञान जैसे-जैसे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे इस बातकी पुष्टि हो रही है कि आहार-शुद्धिकी आवश्यकता है।

लाचारीका त्याग

मेधा-शक्ति विकसित हो, तो समाज आगे बढ़ेगा। स्त्रीके साथ मेधाका सम्बन्ध जोड़ा है, तो यह एक सोचनेका विषय है। स्त्री-पुरुषमें आकलन-शक्तिका भेद होना चाहिए, ऐसा नहीं मान सकते; लेकिन यहाँ 'नारीणाम्' कहा, तो अपेक्षा रखी होगी, अधिक त्यागकी और अधिक अंतर-शुद्धि, अधिक सात्त्विकताकी। गांधीजीने एक बार स्त्रियोंके विषयमें कहा या लिखा था—'त्याग-मूर्ति'। लेकिन बहुत-सा त्याग जो स्त्रियाँ करती हैं, वह लाचार-त्याग होता है। बहुत ज्यादा विचारपूर्वक त्याग होता है, ऐसा नहीं है। एक आसक्तिका त्याग है। गृहासक्ति, पुत्रासक्ति, विषयासक्ति इत्यादि अनेक आसक्तियाँ भी मनुष्यसे त्याग करवाती हैं।

टॉल्स्टॉयने लिखा है, लोग ईसाके त्यागकी प्रशंसा करते हैं कि ईसाने समाजके लिए बलिदान दिया, उसका जीवन त्यागमय था। लेकिन सामान्य मनुष्यका जीवन इतना त्यागमय होता है कि जितना त्याग वे संसारके लिए करते हैं, उससे आधा त्याग भी ईश्वरके लिए करेंगे, तो ईसासे आगे बढ़ेंगे। सार यह है कि स्त्रियाँ बहुत ज्यादा त्याग करती हैं, लेकिन वह त्याग लाचारीका होता है। वह त्याग विशेष आकलन-शक्ति बढ़ाता हो, ऐसा अनुभव नहीं आया। वह त्याग प्रीतिसे, आकलन-दृष्टिसे द्रष्टा बननेके लिए किया हुआ नहीं होता। भोग-प्राप्तिके लिए वह लाचारीसे करना पड़ता है। स्त्री 'त्याग-मूर्ति' है, फिर भी आकलन-शक्ति उसमें नहीं है। कहा जाता है कि स्त्रियाँ ज्यादा जड़ और भोली होती हैं। भोलापन गुण है, जड़ता गुण नहीं है।

६. धृति

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'—गीताके विभूतियोगमें यह वाक्य आया है। विभूतिका यह सारा प्रवाह सुव्यवस्थित योजनापूर्वक नहीं

है। जैसे-जैसे सहज शब्द सूझा, वैसे बोलते गये। गीताके दसवें अध्यायमें कोई सुव्यवस्थित बगीचा नहीं है, ऐसे ही उगा हुआ जंगल है, उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन इस वाक्यमें व्यवस्था है। सात शक्तियोंका चुनाव करके **नारीणाम्**—नारियोंमें इन शक्तियोंके रूपमें मैं हूँ, ऐसा भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया। इसमें मैंने एक योजना देखी, इसलिए इस वाक्यपर बहुत समयतक मेरा चिन्तन चलता रहा। मैं उन शक्तियोंका विवरण आपके सामने रख रहा हूँ।

मनुका धृतिमूलक धर्म

छठी शक्ति 'धृति' है। 'धृति' शब्द गीताके साथ-साथ अन्य ग्रन्थोंमें भी आता है। मनुने **'दशकं धर्मलक्षणम्'**–दशविध धर्म कहा है। दशविध धर्म बतानेकी प्रेरणा दूसरे धर्मग्रन्थोंमें भी दीखती है। दो हाथ मिलकर दस अँगुलियाँ होती हैं, तो सिखानेवाला अच्छा शिक्षक अपने स्वाभाविक ढंगसे सिखाता है—दस अँगुलियाँ गिनकर दस प्रकारका धर्म बताता है। मूसाने भी ओल्ड टेस्टामेण्टमें दशविध धर्म बताये हैं, जिनको 'टेन कमाण्डमेण्ट्स' कहते हैं। जैनोंमें भी दशांग धर्मका वर्णन है। कुरानमें भी भक्तोंका वर्णन करते हुए उनके दस गुणोंका वर्णन किया है। मनु-द्वारा निर्दिष्ट दशविध धर्मोंमें प्रथम है 'धृति':

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥'

इसमें प्रथम नाम 'धृति' का लिया है और दूसरा 'क्षमा' का। यहाँ भी भगवान्‌ने सब शक्तियोंकी गिनती की, तो उसमें 'धृति' के बाद फौरन् क्षमाको स्थान दिया है, तो वह मनुस्मृतिके वचनानुसार आया है, ऐसा मैं समझता हूँ।

धीरज और उत्साह

'धृति' के दो अर्थ होते हैं। दोनों अर्थोंमें यह शब्द हमको समझना चाहिए। धृतिको समझनेमें मदद होगी, अगर उसका पूरक शब्द हम लोग ध्यानमें लेंगे। वह पूरक शब्द है—उत्साह। सात्त्विक कर्ताके लक्षण बताते हुए गीताने कहा है: **'धृत्युत्साहसमन्वितः'**—धृति और उत्साहसे युक्त। धृति और उत्साह, ये पूरक गुण हैं एक-दूसरेके। धृति याने धीरज, उत्साह याने कर्म-चेतना, कर्म-प्रेरणा। अक्सर जवानोंमें उत्साह होता है, पर धृति कम होती है। धीरज नहीं दीखता। उत्साहका तूफान आया और गया। उत्साह चन्द दिनोंमें आता है, जाता है, टिकता नहीं; क्योंकि वह धृति नहीं है, जिससे उत्साह टिकता है, सतत कायम रहता है। धृतिके गुणके बिना अगर उत्साह आया, तो उस उत्साहपर हम भरोसा नहीं रख सकते, यह तो हम अपने अनुभवसे जगह-जगह देखते हैं।

बाबा आया। खूब उत्साह दिखायी दिया। क्षणभरके लिए ऐसा भान होता है कि बाबा कहता है, वह सब मान लिया। श्रोताओंकी चेतना बाबाके विचारोंसे अनुप्राणित हुई। मै अपना अनुभव मिथ्या नहीं मान सकता कि लोगोंमें उत्साह है। लेकिन लोगोंका अनुभव भी मिथ्या नहीं माना जा सकता कि मेरे जानेके बाद उत्साह खतम हुआ। कुछ लोग कहते हैं कि 'फॉलो अप' (पुनर्वीक्षण) की योजना होनी चाहिए। ठीक है, करो योजना। परन्तु मुख्य योजना गुण-विकासकी होनी चाहिए। समाजमे वृति होनी चाहिए।

निकम्मा शिक्षण

वृतिका शिक्षण कहाँ हो सकता है ? आजकल घरोंमें कोई शिक्षण नहीं है। घरवालोंने अपना सर्वस्व राज्यपर छोड़ दिया है, बच्चे भी उसके हाथमें सौंप दिये हैं। सबसे श्रेष्ठ रत्न जो उनके पास है--छोटे-छोटे बच्चे, उनको भी सौंप देते हैं, और वह भी ऐसे शिक्षकोंके हाथमें, जिनके पास कम-से-कम ज्ञान है, शायद बहुत ज्यादा ऊँचे चरित्रवाले भी नहीं हैं और जिनको कम-से-कम तनख्वाह दी जाती है। सरकार भी मान लेती है कि तालीमका इन्तजाम हो गया।

कहीं-कहीं एक शिक्षकका स्कूल होता है। जब मैंने ऐसा स्कूल देखा कि एक कमरेमें गुरुजी बैठे हैं और इधर-उधर चार कक्षाएँ लगी हैं, तब मैंने कहा कि यह 'वन टीचर्स स्कूल' (एक-शिक्षकीय शाला)की कल्पना अपने शास्त्रकारोंको भी सूझी होगी, इसलिए उन्होंने ब्रह्मदेवको चार मुखवाला माना होगा। चार कक्षाएँ साथ लेनेकी समस्या सामने आनेसे ही चार मुँहकी कल्पना की होगी। शिक्षक ऐसे चार मुँहवाले ब्रह्मदेव होते हैं, तभी तो चार कक्षाओंको शिक्षण देते हैं। लेकिन उसको तो एक ही मुख है, वह कैसे करे ? कुछ समझमें नहीं आता।

शिक्षककी जितनी अवहेलना इधर सौ-सवा सौ सालोंमें हुई है, उतनी भारतमें कभी नहीं हुई। ग्राम-पंचायतके हाथमें तालीम थी, इसलिए वह अपना इन्तजाम करती थी। जगह-जगह तालीमका इन्तजाम था। लेकिन जबसे तालीम सरकारका विषय हो गया, तबसे उसकी अत्यन्त अवहेलना हो गयी है।

तर्क और स्मरण-शक्तिका विकास

शिक्षणमें दो विषय सिखाये जाते हैं। एक स्मरण-शक्ति कैसे बढ़े और दूसरा तर्क-शक्ति कैसे बढ़े। कुछ पढ़ लिया है तो बिना पुस्तककी मददसे जवाब दे दिया, याने स्मरण-शक्तिका सवाल हुआ। कुछ सवाल ऐसे होते हैं, जिनमें तर्कसे, अनुमानसे उनके जवाब निकालने होते हैं। तर्क-शक्ति और स्मरण-शक्तिके अलावा मनमें कितनी ही शक्तियाँ पड़ी हैं, उन सारी शक्तियोंके विकासकी कोई योजना नहीं है। शक्ति-निष्ठा बच्चोंकी बढ़े, साहस बढ़े, निर्भयता बढ़े, प्रेम-करुणा बढ़े,

है। जैसे-जैसे सहज शब्द सूझा, वैसे बोलते गये। गीताके दसवें अध्यायमें कोई सुव्यवस्थित बगीचा नहीं है, ऐसे ही उगा हुआ जंगल है, उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन इस वाक्यमें व्यवस्था है। सात शक्तियोंका चुनाव करके **नारी-णाम्**—नारियोंमें इन शक्तियोंके रूपमें मैं हूँ, ऐसा भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया। इसमें मैंने एक योजना देखी, इसलिए इस वाक्यपर बहुत समयतक मेरा चिन्तन चलता रहा। मैं उन शक्तियोंका विवरण आपके सामने रख रहा हूँ।

मनुका धृतिमूलक धर्म

छठी शक्ति 'धृति' है। 'धृति' शब्द गीताके साथ-साथ अन्य ग्रन्थोंमें भी आता है। मनुने **'दशकं धर्मलक्षणम्'**—दशविध धर्म कहा है। दशविध धर्म बतानेकी प्रेरणा दूसरे धर्मग्रन्थोंमें भी दीखती है। दो हाथ मिलकर दस अँगुलियाँ होती हैं, तो सिखानेवाला अच्छा शिक्षक अपने स्वाभाविक ढंगसे सिखाता है—दस अँगुलियाँ गिनकर दस प्रकारका धर्म बताता है। मूसाने भी ओल्ड टेस्टामेण्टमें दशविध धर्म बताये हैं, जिनको 'टेन कमाण्डमेण्ट्स' कहते हैं। जैनोंमें भी दशांग धर्मका वर्णन है। कुरानमें भी भक्तोंका वर्णन करते हुए उनके दस गुणोंका वर्णन किया है। मनु-द्वारा निर्दिष्ट दशविध धर्मोंमें प्रथम है 'धृति':

> **'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
> **धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥'**

इसमें प्रथम नाम 'धृति' का लिया है और दूसरा 'क्षमा' का। यहाँ भी भग-वान्‌ने सब शक्तियोंकी गिनती की, तो उसमें 'धृति' के बाद फौरन् क्षमाको स्थान दिया है, तो वह मनुस्मृतिके वचनानुसार आया है, ऐसा मैं समझता हूँ।

धीरज और उत्साह

'धृति' के दो अर्थ होते हैं। दोनों अर्थोंमें यह शब्द हमको समझना चाहिए। धृतिको समझनेमें मदद होगी, अगर उसका पूरक शब्द हम लोग ध्यानमें लेंगे। वह पूरक शब्द है—उत्साह। सात्त्विक कर्ताके लक्षण बताते हुए गीताने कहा है: **'धृत्युत्साहसमन्वितः'**—धृति और उत्साहसे युक्त। धृति और उत्साह, ये पूरक गुण हैं एक-दूसरेके। धृति याने धीरज, उत्साह याने कर्म-चेतना, कर्म-प्रेरणा। अक्सर जवानोंमें उत्साह होता है, पर धृति कम होती है। धीरज नहीं दीखता। उत्साहका तूफान आया और गया। उत्साह चन्द दिनोंमें आता है, जाता है, टिकता नहीं; क्योंकि वह धृति नहीं है, जिससे उत्साह टिकता है, सतत कायम रहता है। धृतिके गुणके बिना अगर उत्साह आया, तो उस उत्साहपर हम भरोसा नहीं रख सकते, यह तो हम अपने अनुभवसे जगह-जगह देखते हैं।

इन्द्रिय है, उसमें 'घृति' नामक एक इन्द्रिय है। भारतीय मानसशास्त्रमें घृति नामकी एक इन्द्रिय मानी गयी है, जैसे बुद्धि नामकी एक इन्द्रिय है। **'बुद्धेर्भेदं घृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु'**--बुद्धि और घृतिके भेद सुन--यह कहकर भगवान् गीतामें बुद्धि और घृतिका भेद बताते हैं। इसके माने यह हैं कि घृति नामकी एक इन्द्रिय है, एक स्वतन्त्र शक्ति है। जैसे बुद्धि-शक्ति है, वैसे घृति-शक्ति है, जो प्राणके परिणामस्वरूप पैदा होती है। एक बोध-शक्ति है, जिसे बुद्धि कहते हैं, दूसरी अपनेपर काबू रखनेवाली, नियमन करनेवाली शक्ति है, जिसे घृति कहते हैं। इसकी जरूरत हर यंत्रमें होती है। आप एक मोटर चला रहे हैं। उसमें दिशा बतानेवाला यंत्र उसकी बुद्धि है, और गतिवर्धक यंत्र उसका प्राण है। इस तरह बुद्धि और प्राण यंत्रमें भी होते हैं। शरीररूपी यंत्रमें भी एक प्राण-शक्ति होती है और दूसरी बोध-शक्ति होती है। प्राण-शक्तिके परिणामस्वरूप घृति उत्पन्न होती है, यह एक विशेष इन्द्रिय है। जिसका प्राण जितना बलवान्, उसकी घृति उतनी ही बलवान्। 'घृति' का अंग्रेजीमें तर्जुमा करना तो मुश्किल है, फिर भी घृतिके नजदीकका शब्द है 'विल-पावर'।

अपनेपर काबू रखनेकी, संकल्प करनेकी और किया हुआ संकल्प पूरा करनेकी हिम्मत--ये सब चीजें घृतिके साथ हैं--**'मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन'**--मन, प्राण और इन्द्रियोंकी जो क्रियाएँ चलती हैं, उन सबको धारण करनेवाली शक्ति। जैसे, लगाम घोड़ेको काबूमें रखती है। कभी ढीला छोड़ना, कभी तंग करना, यह सब काम लगामका होता है। वैसे ही शरीरमें भी एक इन्द्रिय है, वह यह काम करती है। मन एक इन्द्रिय है, ऐसा हम बोलते हैं। इसकी जगह गीताने यह नयी परिभाषा इस्तेमाल की है--घृति और बुद्धि। ऐसे दो साधन मनुष्यके पास हैं। करण और साधनमें फर्क है। चश्मा साधन है और आँख करण। साइकिल साधन है और पाँव करण। पाणिनिने उसकी व्याख्या दी है, तृतीया विभक्ति करण होती है। **'साधकतमं करणम्'**--सबसे श्रेष्ठ साधनका नाम है करण। चश्मा आँखके बिना काम नहीं देता, चश्मा उपकरण है, करण नहीं; आँख करण है। चरखेसे सूत कातते हैं, तो चरखा उपकरण है, हाथ करण है। जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है, उसीका नाम है करण। और जो गौण है, उसका नाम है उपकरण। उपकरण यानी साधन-सामग्री। घृति नामका एक करण है, वैसे बुद्धि नामका भी एक करण है। बुद्धि बोध देगी--कहाँ जाना है, क्या करना है, यह समझायेगी। घृति अपनेपर काबू रखकर काम करायेगी, उस कामको करनेमें जहाँ ढील देनेकी जरूरत होगी, वहाँ ढील देगी, और जहाँ तंग करनेकी जरूरत होगी, वहाँ तंग करेगी। यह सारा नियमन-कार्य घृतिसे होगा। प्रबोधन, बोधन बुद्धिसे होगा, तो नियमन घृतिसे होगा। नियमन अगर ठीक ढंगसे न हुआ, तो बोध व्यर्थ जायगा।

परस्पर सहयोगकी भावना बढ़े इत्यादि अनेक गुणोंके विकासकी जरूरत होती है, उसकी कोई योजना शिक्षणमें नहीं है। सिर्फ स्मृति और तर्ककी योजना है। स्मृति भी वह नहीं, जो एक बड़ी शक्ति है। (देखें चौथी शक्ति 'स्मृति')। इस स्मृतिका अर्थ है : कंठ किया हुआ–रटा हुआ, बिना देखे याद करनेकी शक्ति याने 'स्याही-चूस'। गुरुजीने कहा या किताबमें लिखा, वह कितना चूस लिया अपने स्याही-चूसने ? वे सिखानेवाले भी यह जानते हैं कि हम जो चीजें सिखाते हैं, वे निकम्मी होती हैं, कुछ ध्यानमें रखनेकी जरूरत नहीं है। कौन रखेगा याद उन्हें ? इसलिए तैंतीस प्रतिशत नम्बरोंमें पास कर देते हैं, याने सड़सठ फीसदी भूलनेकी गुंजाइश कर देते हैं। किसीको घरमें रसोई बनानेके लिए रखते हैं। वह सौ रोटीमेंसे तैंतीस ही अच्छी बनायेगा, तो उसको रखेंगे ? लेकिन शिक्षक उसको पास करते हैं। मतलब यह कि जो बच्चे स्मृति रखना नहीं चाहते, उनसे रखवाना है, तो इतनी गुंजाइश रखनी पड़ती है। लेकिन चालीस प्रतिशत अंक पानेवाला अच्छा कहलाता है, और साठ प्रतिशत हासिल कर लिया तो उत्तम—बहुत अच्छा है, यानी साठ फीसदी चूस लिया !

धृतिके बिना उत्साह नहीं टिकेगा

धृति नामकी कोई शक्ति है और उसके विकासकी योजना करनी चाहिए, पर यह तो है ही नहीं। उसके बिना उत्साहका उभार आयगा और जायगा और उससे कुछ शक्ति क्षीण होगी। अकेले उत्साहके आवागमनके साथ उतनी शक्तिका क्षय होगा। अनुभव भी ऐसा होता है। शादीके समय पाँच-छह दिन जागे, खूब काम किया और समारंभ होनेपर शक्ति खतम हो गयी। परीक्षा आयी, रटकर याद किया और जब परीक्षा खतम हुई, सब शक्ति खतम। इस तरह उत्साह आता है और जाता है, तो उससे बेहतर है कि वह आये ही नहीं, ताकि जानेका मौका न रहे। लेकिन अगर आता है और जाता है, तो मनुष्यकी शक्ति क्षीण करके जाता है। वर्ड्स्वर्थने लिखा था : 'In getting and spending we waste our powers'— प्राप्त करने और खर्च करनेमें हम अपनी ताकतको क्षीण करते हैं। उत्साहके साथ धीरज भी चाहिए। 'धृत्युत्साह'—दोनों इकट्ठा होने चाहिए, तब काम होता है। इसलिए धृतिका एक यह अर्थ है कि उत्साहको कायम रखनेवाली शक्ति।

बोधन बुद्धिसे, नियमन धृतिसे

'धृति' का दूसरा अर्थ है—एक इन्द्रिय। इसका खयाल अक्सर लोगोंको नहीं है। एक इन्द्रियके रूपमें इसकी गिनती भगवान्ने की है। मनुष्यके हाथ-पाँव कर्मेन्द्रिय हैं; श्रवण, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। ऐसे ही अन्तःकरण याने अन्दरकी एक

लगा कि दृढ़ निश्चय करके कोई बात बता रहा है। यानी संशय वहाँ दीखता ही नहीं। वहाँ कोई ढूंढ़ रहा है, टटोल रहा है, ऐसा नहीं दीखता। जैसे कोई चीज हाथमें आयी और उसे अपने हाथसे प्रत्यक्ष बताता है और देखकर बोलता है, ऐसा लगता है। इसका पक्का असर, मजबूत असर होता है, जो बड़े-बड़े थोथे ग्रन्थ पढ़कर नहीं होता। ऐसा क्यों होता है ?" मैंने जवाब दिया कि वे शब्द तार्किक नहीं, अनुभवके हैं। प्रत्यक्षमें चीजका अनुभव करके साक्षात् जो अनुभव आया, वह भी कम-से-कम शब्दोंमें लोगोंके सामने रखा जाय, तो वे शब्द जानदार होते हैं, उनमें प्राण-संचार होता है और समाजको वे बोध देते हैं। हम विद्वानों-का ग्रन्थ पढ़ते हैं, बेकनका ग्रन्थ पढ़ा—'Advancement of learning' अच्छा लगा। उस ग्रंथमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी कुछ विकास हुआ, कुछ बोध हुआ, थोड़ा-सा बुद्धिका विकास हुआ। ऐसे विद्वानोंके ग्रंथका कुछ उपयोग नहीं होता है, ऐसा नहीं है। कुछ बोध मिलता है, लेकिन जिनके पास धृति और बुद्धि होती है, ऐसे जो महान् होते हैं, उनके शब्दोंमें ताकत आती है। यह धृति नामकी इंद्रिय विकसित करनी है, तो उसके लिए तरह-तरहके छोटे-बड़े शुभ संकल्प करना और उनको पूर्ण करना, यह एक तरीका है।

विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक

धृतिके लिए जो शिक्षण, अध्ययन अपने देशमें चला, उसमें विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और उभय-स्नातक, ऐसा था। स्नातक वह, जिसने स्नान किया है, वह विद्या पूरी की है। आजकल विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' (चोगा) पहनाते हैं। इंग्लैण्डका एक तरीका है। वहाँ ठंड होनेके कारण स्नान नहीं हो सकता, इसलिए 'गाउन' पहनाते हैं। अपने गरम देशमें भी विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' आ गया। पुराना रिवाज था कि गुरुके घरमें विद्या पूरी होनेपर गुरु अपने हाथसे उसको स्नान कराते थे और कहते थे कि तुम फलानी-फलानी विद्यामें निष्णात हो याने उत्तम

धृति मजबूत बनानेकी प्रक्रिया

बुद्धिने बात तो ठीक समझायी, उससे बोध भी हुआ; लेकिन धृति कमजोर हुई, तो उस कमजोर धृतिको मजबूत बनाना, यह भी एक साधना है। धृति अनेकविध छोटे-छोटे संकल्पोंद्वारा मजबूत बनायी जा सकती है। एक छोटा-सा संकल्प दो-चार या पाँच दिनोंके लिए किया जाय और उतनेही दिनोंमें पूर्ण किया जाय। एक बड़ा संकल्प करें और पूरा न पड़े, तो वह धृति बढ़ानेका साधन नहीं हो सकता। दस सेर ताकत हो, तो पाँच सेरवाला ही संकल्प करें, ताकि टूटनेका मौका न आये। कितनी भी विकट परिस्थिति आये, तो भी हम कृत संकल्पको पूरा करेंगे, उस निश्चयसे चलित नहीं होंगे, ऐसा तय करके सात दिनका निश्चय करें। सात दिनोंमें कभी निश्चयके खिलाफ कोई भी विघ्न आये, तो उसके वश न हों और अपना निश्चय पूर्ण ही करें। मान लीजिये कि सात दिनतक सुबह उठकर नहानेका संकल्प किया। ठंडके दिनोंमें नहानेका ऐसा संकल्प स्त्रियाँ करती हैं। तमिळमें बड़ा काव्य लिखा गया है। तीस पद्योंका भजन है। आंडाळने लिखा है: **'मारगळी तिगळ मदीनीरेंद नन्नाळील नीराड पोदुवीर पोदुमीनो नेरिळैयीर।'** मार्गशीर्ष महीनेमें बहनें स्नान करनेका नियम करती हैं और सब नदीपर स्नान करके पूजा करती हैं। एक महीनेका संकल्प होता है। उस महीनेमें बहुत ज्यादा ठंड नहीं होती, तो बहुत कम भी नहीं होती। एक महीनेमें यह संकल्प-शक्ति पार उतरती है। श्रावणका सोमवार आया, जो करीब चार-पाँच आते हैं, तो उसका भी संकल्प करते हैं कि सोमवारका उपवास करेंगे। बहुत बड़ा संकल्प नहीं है, लेकिन पूरा किया, तो उससे आत्माका बल बढ़ता है और धृति मजबूत बनती है। ऐसे छोटे-छोटे, अच्छे, आसान नियम करें और उनके पालनके लिए पूरी ताकत लगायें। उसके बाद उससे ज्यादा कठिन संकल्प कर सकते हैं। इस तरह हम संकल्प-शक्ति बढ़ाते चले जायँ, तो धृति मजबूत होती है।

तार्किक और अनुभवजन्य शब्द

जिन पुरुषोंमें धृतिकी कमी होती है, उनका बोध चाहे कितना भी बड़ा हो, पर वे ज्यादा पुरुषार्थ नहीं कर पाते। उनको कुछ सूझा, तो समाजको समझाते हैं; लेकिन समाजको उनके वचनोंपर विश्वास नहीं होता। जिन्होंने केवल बुद्धि-बलसे बातें बतायीं, लेकिन उनपर अमल करके नहीं दिखाया, वैसे पुरुषोंके शब्दोंपर समाजका विश्वास नहीं बैठता, उनका असर नहीं होता। एक पश्चिमका दार्शनिक मिला था। उसने कहा: "हमने दर्शन-शास्त्र पढ़ा, ग्रीन पढ़ा, कान्ट पढ़ा और तरह-तरहके सिद्धान्त पढ़े; लेकिन उपनिषद् पढ़नेपर जो दृढ़ निश्चय मालूम हुआ, वह उन दर्शनोंसे मालूम नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? उपनिषद् पढ़ा, तो

लगा कि दृढ़ निश्चय करके कोई बात बता रहा है। यानी संशय वहाँ दीखता ही नहीं। वहाँ कोई ढूंढ़ रहा है, टटोल रहा है, ऐसा नहीं दीखता। जैसे कोई चीज हाथमें आयी और उसे अपने हाथसे प्रत्यक्ष बताता है और देखकर बोलता है, ऐसा लगता है। इसका पक्का असर, मजबूत असर होता है, जो बड़े-बड़े थोथे ग्रन्थ पढ़कर नहीं होता। ऐसा क्यों होता है ?" मैंने जवाब दिया कि वे शब्द तार्किक नहीं, अनुभवके हैं। प्रत्यक्षमें चीजका अनुभव करके साक्षात् जो अनुभव आया, वह भी कम-से-कम शब्दोंमें लोगोंके सामने रखा जाय, तो वे शब्द जानदार होते हैं, उनमें प्राण-संचार होता है और समाजको वे बोध देते हैं। हम विद्वानों-का ग्रन्थ पढ़ते हैं, बेकनका ग्रन्थ पढ़ा—'Advancement of learning' अच्छा लगा। उस ग्रंथमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी कुछ विकास हुआ, कुछ बोध हुआ, थोड़ा-सा बुद्धिका विकास हुआ। ऐसे विद्वानोंके ग्रंथका कुछ उपयोग नहीं होता है, ऐसा नहीं है। कुछ बोध मिलता है, लेकिन जिनके पास धृति और बुद्धि होती है, ऐसे जो महान् होते हैं, उनके शब्दोंमें ताकत आती है। यह धृति नामकी इंद्रिय विकसित करनी है, तो उसके लिए तरह-तरहके छोटे-बड़े शुभ संकल्प करना और उनको पूर्ण करना, यह एक तरीका है।

विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक

धृतिके लिए जो शिक्षण, अध्ययन अपने देशमें चला, उसमें विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और उभय-स्नातक, ऐसा था। स्नातक वह, जिसने स्नान किया है, वह विद्या पूरी की है। आजकल विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' (चोगा) पहनाते हैं। इंग्लैण्डका एक तरीका है। वहाँ ठंड होनेके कारण स्नान नहीं हो सकता, इसलिए 'गाउन' पहनाते हैं। अपने गरम देशमें भी विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' आ गया। पुराना रिवाज था कि गुरुके घरमें विद्या पूरी होनेपर गुरु अपने हाथसे उसको स्नान कराते थे और कहते थे कि तुम फलानी-फलानी विद्यामें निष्णात हो याने उत्तम स्नान तुमने किया है, ऐसा उसका मतलब है। विद्या-स्नातक यानी जो अभ्यास-क्रम तय है, जो विद्या निश्चित है, वह उन्होंने पूरी कर ली और वे जाना चाहते हैं, तो गुरु कहते हैं, 'ठीक है, तुम जा सकते हो, तुम विद्या-स्नातक हो।' फिर चाहे वह विद्या बारह सालके बदले दस सालमें ही प्राप्त कर ली हो।

दूसरा था व्रत-स्नातक, उसने विद्या तो पूरी नहीं की, लेकिन बारह साल-तक ब्रह्मचर्यका पालन किया है। गुरु उसे स्नान कराते हैं और कहते हैं कि तुम व्रत-स्नातक हो; यह नहीं कि तुमने निश्चित विद्या हासिल नहीं की है, उसके पर्चे नहीं दिये हैं, तो तुम फेल हुए। इन बारह सालोंमें तुमने खूब काम किया है, व्रतोंका पालन किया है, जंगलमें गये हो, गुरुकी सेवा की है, निद्राको जीता है, इन्द्रियोंपर काबू पाया है; ऐसी बातें भी थीं, जो तुम्हारी समझमें नहीं आयीं

धृति मजबूत बनानेकी प्रक्रिया

बुद्धिने बात तो ठीक समझायी, उससे बोध भी हुआ; लेकिन धृति कमजोर हुई, तो उस कमजोर धृतिको मजबूत बनाना, यह भी एक साधना है। धृति अनेकविध छोटे-छोटे संकल्पोंद्वारा मजबूत बनायी जा सकती है। एक छोटा-सा संकल्प दो-चार या पाँच दिनोंके लिए किया जाय और उतनेही दिनोंमें पूर्ण किया जाय। एक बड़ा संकल्प करें और पूरा न पड़े, तो वह धृति बढ़ानेका साधन नहीं हो सकता। दस सेर ताकत हो, तो पाँच सेरवाला ही संकल्प करें, ताकि टूटनेका मौका न आये। कितनी भी विकट परिस्थिति आये, तो भी हम कृत संकल्पको पूरा करेंगे, उस निश्चयसे चलित नहीं होंगे, ऐसा तय करके सात दिनका निश्चय करें। सात दिनोंमें कभी निश्चयके खिलाफ कोई भी विघ्न आये, तो उसके वश न हों और अपना निश्चय पूर्ण ही करें। मान लीजिये कि सात दिनतक सुबह उठकर नहानेका संकल्प किया। ठंडके दिनोंमें नहानेका ऐसा संकल्प स्त्रियाँ करती हैं। तमिळमें बड़ा काव्य लिखा गया है। तीस पद्योंका भजन है। आंडाळने लिखा है : **'मारगळी तिगळ मदीनीरेंद नन्नाळील नीराड पोदुवीर पोदुमीनो नेरिळैयीर।'** मार्गशीर्ष महीनेमें वहनें स्नान करनेका नियम करती हैं और सब नदीपर स्नान करके पूजा करती हैं। एक महीनेका संकल्प होता है। उस महीनेमें बहुत ज्यादा ठंड नहीं होती, तो बहुत कम भी नहीं होती। एक महीनेमें यह संकल्प-शक्ति पार उतरती है। श्रावणका सोमवार आया, जो करीब चार-पाँच आते हैं, तो उसका भी संकल्प करते हैं कि सोमवारका उपवास करेंगे। बहुत बड़ा संकल्प नहीं है, लेकिन पूरा किया, तो उससे आत्माका बल बढ़ता है और धृति मजबूत बनती है। ऐसे छोटे-छोटे, अच्छे, आसान नियम करें और उनके पालनके लिए पूरी ताकत लगायें। उसके बाद उससे ज्यादा कठिन संकल्प कर सकते हैं। इस तरह हम संकल्प-शक्ति बढ़ाते चले जायें, तो धृति मजबूत होती है।

तार्किक और अनुभवजन्य शब्द

जिन पुरुषोंमें धृतिकी कमी होती है, उनका बोध चाहे कितना भी बड़ा हो, पर वे ज्यादा पुरुषार्थ नहीं कर पाते। उनको कुछ सूझा, तो समाजको समझाते हैं; लेकिन समाजको उनके वचनोंपर विश्वास नहीं होता। जिन्होंने केवल बुद्धि-बलसे बातें बतायीं, लेकिन उनपर अमल करके नहीं दिखाया, वैसे पुरुषोंके शब्दोंपर समाजका विश्वास नहीं बैठता, उनका असर नहीं होता। एक पश्चिमका दार्शनिक मिला था। उसने कहा : "हमने दर्शन-शास्त्र पढ़ा, ग्रीन पढ़ा, कान्ट पढ़ा और तरह-तरहके सिद्धान्त पढ़े; लेकिन उपनिषद् पढ़नेपर जो दृढ़ निश्चय मालूम हुआ, वह उन दर्शनोंसे मालूम नहीं हुआ। इसका कारण क्या है ? उपनिषद् पढ़ा, तो

लगा कि दृढ़ निश्चय करके कोई बात बता रहा है। यानी संशय वहाँ दीखता ही नहीं। वहाँ कोई ढूंढ़ रहा है, टटोल रहा है, ऐसा नहीं दीखता। जैसे कोई चीज हाथमें आयी और उसे अपने हाथसे प्रत्यक्ष बताता है और देखकर बोलता है, ऐसा लगता है। इसका पक्का असर, मजबूत असर होता है, जो बड़े-बड़े थोथे ग्रन्थ पढ़कर नहीं होता। ऐसा क्यों होता है?" मैंने जवाब दिया कि वे शब्द तार्किक नहीं, अनुभवके हैं। प्रत्यक्षमें चीजका अनुभव करके साक्षात् जो अनुभव आया, वह भी कम-से-कम शब्दोंमें लोगोंके सामने रखा जाय, तो वे शब्द जानदार होते हैं, उनमें प्राण-संचार होता है और समाजको वे बोध देते हैं। हम विद्वानों-का ग्रन्थ पढ़ते हैं, बेकनका ग्रन्थ पढ़ा—'Advancement of learning' अच्छा लगा। उस ग्रंथमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी कुछ विकास हुआ, कुछ बोध हुआ, थोड़ा-सा बुद्धिका विकास हुआ। ऐसे विद्वानोंके ग्रंथका कुछ उपयोग नहीं होता है, ऐसा नहीं है। कुछ बोध मिलता है, लेकिन जिनके पास धृति और बुद्धि होती है, ऐसे जो महान् होते हैं, उनके शब्दोंमें ताकत आती है। यह धृति नामकी इंद्रिय विकसित करनी है, तो उसके लिए तरह-तरहके छोटे-बड़े शुभ संकल्प करना और उनको पूर्ण करना, यह एक तरीका है।

विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक

धृतिके लिए जो शिक्षण, अध्ययन अपने देशमें चला, उसमें विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और उभय-स्नातक, ऐसा था। स्नातक वह, जिसने स्नान किया है, वह विद्या पूरी की है। आजकल विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' (चोगा) पहनाते हैं। इंग्लैण्डका एक तरीका है। वहाँ ठंड होनेके कारण स्नान नहीं हो सकता, इसलिए 'गाउन' पहनाते हैं। अपने गरम देशमें भी विद्या-समाप्तिपर 'गाउन' आ गया। पुराना रिवाज था कि गुरुके घरमें विद्या पूरी होनेपर गुरु अपने हाथसे उसको स्नान कराते थे और कहते थे कि तुम फलानी-फलानी विद्यामें निष्णात हो याने उत्तम स्नान तुमने किया है, ऐसा उसका मतलब है। विद्या-स्नातक यानी जो अभ्यास-क्रम तय है, जो विद्या निश्चित है, वह उन्होंने पूरी कर ली और वे जाना चाहते हैं, तो गुरु कहते हैं, 'ठीक है, तुम जा सकते हो, तुम विद्या-स्नातक हो।' फिर चाहे वह विद्या बारह सालके बदले दस सालमें ही प्राप्त कर ली हो।

दूसरा था व्रत-स्नातक, उसने विद्या तो पूरी नहीं की, लेकिन बारह साल-तक ब्रह्मचर्यका पालन किया है। गुरु उसे स्नान कराते हैं और कहते हैं कि तुम व्रत-स्नातक हो; यह नहीं कि तुमने निश्चित विद्या हासिल नहीं की है, उसके पर्चे नहीं दिये हैं, तो तुम फेल हुए। इन बारह सालोंमें तुमने खूब काम किया है, व्रतोंका पालन किया है, जंगलमें गये हो, गुरुकी सेवा की है, निद्राको जीता है, इन्द्रियोंपर काबू पाया है; ऐसी बातें भी थीं, जो तुम्हारी समझमें नहीं आयीं

और विद्याभ्यास पूरा नहीं हुआ; मगर तुम जाना चाहते हो तो जाओ, तुम व्रत-स्नातक हो।

गुरु उसको पूर्ण समझते थे, जो उभय-स्नातक होता था। विद्या पूर्ण की और व्रत भी पूर्ण किया, वह परिपूर्ण स्नातक हो गया। उसको उभय-स्नातक कहते हैं। व्रत-स्नातकवाली बात धृतिके विकासके लिए थी। धृति-शक्तिके विकासके लिए आश्रममें एक कार्यक्रम होता था, उसमें जो प्रवीण, निष्णात हो गये, वे व्रत-स्नातक हो गये और बुद्धिके विकासके लिए जो कार्यक्रम रखा था, वह जिन्होंने पूरा किया, वे विद्या-स्नातक हो गये।

धृतिविहीन एकांगी शिक्षण

धृतिका शिक्षण एक बहुत बड़ी बात है। उसकी कोई योजना न अपने पास घरमें है, न स्कूलमें है। कुछ थोड़ी-सी विद्या मिलती है, जिसमें स्मृति और तर्कके अलावा किसी और गुणका विकास नहीं होता। सत्यपर उत्तम निबंध लिखनेवाला पास हो गया, भले वह सत्य न बोले और दुनियाको ठगता ही रहे। अच्छा निबंध लिखा, स्मरण-शक्ति अच्छी साबित कर ली और तर्क-शक्ति साबित कर ली, तो उसकी स्मृति-शक्ति साबित हो गयी और ऐसे ठीक ढंगसे सुसंगत लिखा कि जिसमें आकर्षण हो, तो उसकी तर्क-शक्ति भी सिद्ध हो गयी। दोनों शक्तिमें वह पास हो गया, लेकिन दुनियाको ठगता है, असत्य आचरण करता है, तो वहाँ कोई सवाल नहीं है! यह बात एकांगी तो है ही, लेकिन इतनी खतरनाक है और उसका परिणाम यह है कि हममें कहनेकी हिम्मत नहीं होती कि सबको साक्षर बनाओ, तो समाजका कल्याण होगा। करोड़ों रुपयोंका खर्च केवल लोगोंको 'क, का, कि, की' सिखानेमें हो और माना जाय कि लोग उन्नत हो गये और अच्छे नागरिक हो गये! जो पढ़-लिख चुके और कहते हैं कि अच्छे नागरिक हुए, क्या वे अपने हिसाब पेश करते हैं? क्या वे प्रामाणिक हैं? बेहतर है कि जो नहीं पढ़े, वे कुछ प्रामाणिक हैं, अपना श्रम करते हैं, सन्तुष्ट रहते हैं। इसलिए यह पढ़ना-लिखना अगर हम कर लें, तो सारे भारतकी एक शक्ति हमने बढ़ायी, भारत उन्नति करेगा, तरक्की करेगा, ऐसा कहनेकी हिम्मत नहीं होती।

अविद्या और विद्या

एकांगी विद्या बहुत नुकसान करती है, इसलिए उपनिषदोंने यहाँतक कह दिया कि जो केवल विद्याके पीछे जाते हैं, वे घने अंधकारमें प्रवेश करते हैं : **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः; अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया, इति शुश्रुम धीराणां।'** जो केवल अविद्यामें पड़े हैं, वे भी घने अंधकारमें हैं और जो विद्यामें पड़े हैं, वे उससे भी ज्यादा घने अन्धकारमें हैं।

इससे अधिक और कहनेको क्या बाकी रहता है? यह बड़ा हिम्मतवाला वाक्य है। ऐसा वाक्य मुझे दूसरे ग्रन्थमें पढ़नेको नहीं मिला, जहाँ बिलकुल हिम्मतके साथ ज्ञानका भी निषेध किया गया हो। जो अज्ञानमें प्रवेश करता है, वह तो ठीक है, कुछ न कुछ काम भी करेगा, खेती करेगा, कुछ है उसके पास। यह भार नहीं होगा, लेकिन जो केवल विद्याकी उपासना करे, वह उससे भी घने अंधकारमें जायगा, यह बात बड़े पतेकी है। इस तरह धृति-विहीन विद्या अगर रहती है, तो वह एकांगी रहती है और उससे नुकसान होता है।

'धृति' का एक अर्थ है उत्साह, याने उत्साहको टिकानेवाला गुण और दूसरा अर्थ है अन्त:करणकी एक शक्ति। जैसे बुद्धि नामकी एक शक्ति है, उसी प्रकार बुद्धिकी पूर्ति करनेवाली शक्ति धृति है, जो अमलमें बहुत ही अनिवार्य है। अमल केवल बुद्धिसे, कानूनसे नहीं होता। बुद्धिसे विधान बनेगा, लेकिन उसपर जो अमल होगा, वह धृतिके बिना नहीं होगा। इसलिए भगवान्ने उसको स्वतंत्र शक्ति मानकर गीतामें उसका उल्लेख किया है और यहाँ शक्तियोंकी गिनतीमें 'धृति' शब्द इस्तेमाल किया है।

स्त्रियोंमें धृति अधिक

इस विषयमें स्त्रीसे खास अपेक्षा भगवान्ने की है, ऐसा मानना होगा और दीखता भी वैसा ही है। बीमारोंकी सेवा करनेमें कभी-कभी बहनोंको इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है कि वहाँ कोई दूसरा जाय तो उसका दिल फट जाय, वह टिक न सके। लेकिन बहनें बहुत कष्ट और तकलीफ उठाकर रोज एक-एक क्षण मृत्युकी तरफ जानेवालेको देखते हुए भी सेवा करती हैं। यह सारी ताकत बहनोंमें होती है। जहाँ महिलाओंकी कुछ शक्तिका विकास हुआ है, वहाँ ऐसा अनुभव आता है। इससे उल्टा भी अनुभव आता है कि वे जरा भी सहन नहीं कर सकतीं। अपने बच्चेका ऑपरेशन देखनेतक नहीं जा सकतीं। ऑपरेशन होगा तो बच्चा बचेगा, ऐसा लगता है। ऑपरेशनकी क्रिया कठोर और निष्ठुर तो है नहीं, दयालु क्रिया है, फिर भी किसी माँसे कहा जाय कि उस काममें मदद करो, तो मदद करनेकी बात अलग रही, देखने भी वह नहीं जा सकती। इतनी भी धृति नहीं है, क्योंकि शिक्षण नहीं मिला है। फिर भी कुल मिलाकर स्त्रियोंमें सहन-शीलता बहुत होती है। उनके सामने सहन करनेके प्रसंग भी काफी आते हैं। वे इससे धृति गुणका विकास अधिक कर सकती हैं, ऐसा मान सकते हैं, कम-से-कम भगवान्ने तो मान लिया है। भारतीय संस्कृतिने भी इतनी आशा रखी है। अहिंसाका जब जमाना आयेगा, तब मेरा खयाल है कि अहिंसामें एक विशेष प्रकार-की धृतिकी जरूरत होगी। हिंसामें दूसरे प्रकारकी धृतिकी जरूरत रहती है। हिंसा और अहिंसा—दोनों जगह धृतिकी जरूरत है। हिंसामें जिस धृतिकी

जरूरत है, उसमें स्त्रियाँ शायद कम पड़ें, वहाँ टिक न सकें, लेकिन अहिंसामें जिस धृतिकी जरूरत है, मुमकिन है कि पुरुषसे स्त्रियाँ कुछ ज्यादा टिकें।

तालीमकी दिशा

इसपर पूछा जाता है कि कार्यक्रम क्या बनायें ? पाठ्यक्रम क्या बनायें ? पाठ्यक्रममें गणित, भूगोल आदि विषय हैं। ऐसे विषय तो मैं दो-चार हजार पेश कर सकता हूँ। लेकिन बाह्य विषयोंकी तालीम नहीं देनी है। कुछ तालीम इन्द्रियकी, कुछ देहकी, कुछ वाणीकी, कुछ चित्तकी तालीम होनी चाहिए——ये ही तालीमके विषय हो सकते हैं। चित्तमें जो विविध शक्तियाँ हैं, उनके विकासकी तालीम होनी चाहिए। यह सारा विचार नही होता। गणित, हिन्दी, भूगोल कितने घंटे सिखाया जाय, यही विचार होता है। क्या गणित, भूगोल, अंग्रेजी सीखनेके लिए ही हमारा जन्म हुआ है ? इसके साथ हमारा क्या ताल्लुक है ? जितना लाभदायक हो, उतना हम सीखेंगे, नाहक सारा गणित-शास्त्र सीखना क्या हमारा धंधा है ?

एक सुप्रसिद्ध कहानी है। एक मल्लाह था और एक गणितज्ञ था। दोनों एक किश्तीमें जा रहे थे। गणितज्ञने मल्लाहसे पूछा कि गणित-शास्त्र जानते हो ? मल्लाहने कहा : गणित क्या चीज है, मैं नही जानता। प्रोफेसरने कहा : तेरी चार आने जिंदगी बरबाद हो गयी। मल्लाहने कहा : अच्छी बात है। फिर पूछा : भूगोल-शास्त्र मालूम है ? बोला : भूगोल-शास्त्र क्या बला है, यह भी मैं नहीं जानता। उन्होंने कहा : तेरी और चार आने जिन्दगी खतम हो गयी। इतनेमें जोरसे आँधी आयी, बहुत बड़ा तूफान आया। किश्ती डूबनेकी नौबत आयी, तो मल्लाह प्रोफेसर साहबसे पूछता है कि आपको तैरना आता है ? प्रोफसरने कहा : "ना, यह तो मैं नहीं जानता।" मल्लाहने कहा कि मेरी तो चार और चार, आठ आना जिन्दगी खतम हुई, आपकी तो सोलह आने खतम होनवाली है।

७. क्षमा

धृतिके बाद क्षमा। क्षमाको एक विशेष शक्तिके रूपमें माना है। उसका एक स्वतंत्र मूल्य है। कोई अपराध करता है, इजा पहुँचाता है, तकलीफ देता है——निन्दा, अपमान इत्यादि करता है, तो उसे सहन करनेको, मुआफ करनेको क्षमा कहते हैं।

सहज क्षमा

क्षमा यानी पृथ्वी। पृथ्वी सहजभावसे हम सबका बोझ उठाती है। हम उसे पीड़ा पहुँचाते हैं, लेकिन उसका एहसास उसे नहीं होता। हम उसे खोदते हैं,

तो भी उसके वदलेमें वह हमें अच्छी फसल ही देती है। इस तरह उसके स्वभावमें क्षमा है। क्षमाका भी वोझ हो, तो वह शक्ति नहीं वनती। अन्दर क्रोध है, उसे कावूमें रखकर क्षमा करें, तो वह एक वड़ी अच्छी वात है, लेकिन क्षमाका पूरा अर्थ उसमें नहीं आता। सहजभावसे ही जव क्षमा की जायगी, तव क्षमाकी शक्ति प्रकट होगी। इसलिए प्रयत्नपूर्वक भी क्षमा करनी चाहिए। चित्तमें क्रोधादि विकार पैदा हुए हों, किसीने अपकार किया हो, तो उन क्रोधादि विकारोंको मिटाना चाहिए। यह साधककी भूमिका वहुत आवश्यक है। लेकिन क्षमाकी शक्ति तव वनगी, जव क्षमा सहज होगी। ज्ञानदेव महाराजने एक प्रार्थनामें कहा है: '**शान्ति, क्षम, ऋद्धि-समृद्धि, हे हि पाहतां मज उपाधि।**' किसीपर दया, क्षमा करना भी एक ऋद्धि-समृद्धि है और वह भी मुझे उपाधिरूप मालूम होती है। यानी वह भी ऋद्धि है। इसलिए क्षमाका चित्तपर वोझ न हो। किसीने अपराध किया, तो उसका वदला लेनेकी वृत्ति होती है, इसका चित्तपर वोझ होता है। वैसे ही किसीने अपराध किया हो और मैंने उसे क्षमा कर दिया, तो उसका भी चित्तपर वोझ होता है। कवियोंने कहा है कि चन्दनके वृक्षको हम जिस कुल्हाड़ीसे काटते हैं, उसी कुल्हाड़ीको वह सुगंध देता है। यानी वह सिर्फ क्षमा ही नहीं करता, उसे अपना गुण भी देता है। स्पर्शमणिपर लोहेसे प्रहार किया जाय, तो भी वह लोहेको सोना वना देती है। यानी क्षमा उसका स्वभाव है।

क्षमा शक्ति कव वनती है?

क्षमा करना एकदमसे नहीं वनेगा। इसके लिए प्रयत्नशील रहना होगा। उस प्रयत्नशील अवस्थाको हमें गौण नहीं मानना चाहिए। क्षमाकी शक्ति तव वनती है, जव हमने स्वभावसे ही क्षमा की हो। हमने क्षमा की है, ऐसा आभास न हो। हमने कुछ भी नहीं किया है, ऐसा भास होना चाहिए। हम क्षमा न करते, तो और क्या करते? और कुछ करनेकी वृत्ति, शक्ति या स्वभाव हमारा है ही नहीं। हम क्षमाके अलावा और कुछ कर ही नहीं सकते।

वसिष्ठकी क्षमा

वसिष्ठ और विश्वामित्रकी कहानी प्रसिद्ध है। वसिष्ठको देखकर विश्वामित्रमें मत्सर पैदा हुआ। वह तपस्वी तो वहुत वड़ा था, वहुत भारी तपस्या करता था; लेकिन उसने वसिष्ठके पुत्रको आकर मारा। वसिष्ठने क्रोध नहीं किया। विश्वामित्रने देखा कि वसिष्ठ विलकुल अडोल रह गया है, विलकुल वेशरम है, तो उसे भी मारना चाहिए। रातका समय था। चाँदनी छिटकी हुई थी। वसिष्ठ-अरुन्धतीका वार्तालाप चल रहा था कि विश्वामित्र छिपकर वहाँ पहुँचे। वे उन दोनोंकी वातें सुनने लगे। अरुन्धतीने वसिष्ठसे कहा:

"चाँदनी कितनी सुन्दर है।" वसिष्ठ बोले : "हाँ, बहुत सुन्दर है, विश्वामित्रकी तपस्याके समान मनोहर है।" यह जब विश्वामित्रने सुना, तो विश्वामित्र पिघल गये। उनसे रहा नहीं गया, वे एकदम सामने आये और वसिष्ठके चरणोंपर झुक गये। उनको ऊपर उठाते हुए वसिष्ठने कहा : 'ब्रह्मर्षे, उत्तिष्ठ!' तबतक वसिष्ठने विश्वामित्रको 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहा था, लेकिन जब विश्वामित्रने नम्र होकर प्रणाम किया, तब वह संज्ञा वसिष्ठने उनको दी।

वसिष्ठ ऋषि क्षमाके लिए मशहूर हो गये। उनकी क्षमाकी खूबी है। उन्होंने अपराध सहन किया, इतना ही नहीं, लेकिन जिसने अपराध किया, उसका जो गुण था, उस गुणका ही स्मरण करते रहे। दोष-ग्रहण किया ही नहीं। अपने-पर किये अपकारको याद ही नहीं किया। यह जो 'सहज क्षमा' है, यह बहुत बड़ी शक्ति है।

क्षमा यानी द्वन्द्व-सहिष्णुता

क्षमाका दूसरा अर्थ यक्ष-प्रश्नमें आया है। यक्षने पूछा : "क्षमा यानी क्या?" युधिष्ठिरने जवाब दिया : "क्षमा द्वन्द्व-सहिष्णुता", सहन-शीलता, द्वन्द्व-सहिष्णुता। द्वन्द्व यानी परस्पर विरोधी बर्ताव—शीत-उष्ण, मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्व हैं। द्वन्द्व कुछ भौतिक होते हैं, कुछ सामाजिक होते हैं। गीतामें उल्लेख आया है—योगी मान-अपमानको समान मानता है। गुणातीत पुरुषका भी वर्णन आता है। हरएक वर्णनमें चाहे वह योगीका हो, चाहे संन्यासीका, द्वन्द्व सहन करना—यह लक्षण गीताने बार-बार कहा ही है। द्वन्द्व-सहिष्णुता व्यापक वस्तु है—मान-अपमान, सुख-दुःख सब सहन करना पड़ता है।

सुखको भी सहन करनेकी बात है। दुःख तो मनुष्य सहन करता ही है। दुःख सहन करनेकी बात कही जाती है, लेकिन सुख सहन करनेकी भाषा लोग नहीं बोलते। सुख भी सहन करना पड़ेगा। मनुष्य दुःखमें असुरक्षित होता है, वैसे ही सुखमें भी असुरक्षित होता है। गाड़ी जब चढ़ावपर होती है, तब भी गाड़ी-वाला चौकन्ना रहता है। गाड़ी जब उतारपर रहती है, तब भी वह चौकन्ना रहता है। वह निर्भय, शांत, स्वस्थ तब रहता है, जब गाड़ी उतारपर भी न हो और चढ़ावपर भी न हो, समान रास्तेपर हो। सुख-दुःखातीत जो मध्य-भूमिका है, वह समान रास्ता है। सुखावस्था यानी गाड़ी उतारपर है, बैल दौड़े जायँगे जोरोंसे, गाड़ी गढ़ेमें जायगी, गिरेगी। इन्द्रियोंको सुखका आकर्षण होता है, तो इन्द्रियाँ जोरोंसे उस तरफ खिंची चली जाती हैं। दुःख चढ़ावके जैसा है, वहाँ बैल आगे बढ़ना नहीं चाहते। इन्द्रियाँ ऊपर जानेकी हिम्मत ही नहीं करतीं। कभी-कभी कर्तव्य-परायण मनुष्यको दुःखकी तरफ जाना ही पड़ता है, तो इंद्रियों-को जोर देकर आगे ढकेलना पड़ता है, तब वे जाती हैं। तो सुखमें भी खतरा,

दुःखमें भी खतरा। दोनों अवस्थाओंसे भिन्न रहनेकी जरूरत है। इसलिए जैसे दुःखको सहन करना है, वैसे सुखको भी सहन करना है। अपना कोई मित्र दुःखमें है, तो हम उसकी मददमें जाते हैं, हमें सहानुभूति मालूम होती है और उसे दुःखमेंसे छुड़ानेकी इच्छा होती है। ऐसा ही अपना कोई मित्र सुखमें पड़ा हो, बहुत ऐशो-आराम, भोगमें पड़ा हो, तो हमें दया आनी चाहिए। उसके पास हमें पहुंचना चाहिए, समझाना चाहिए कि तू गिर रहा है, यह ठीक नहीं, इतना सुख अच्छा नहीं। इस तरह दुःखके लिए जो वृत्ति हम रखते हैं, वही सुखके लिए रखनी चाहिए और दोनोंको सहन करना पड़े, तो सहन कर लेना चाहिए।

यहाँ क्षमाका अर्थ 'द्वन्द्व-सहिष्णुता' है। सामाजिक क्षेत्रमें परस्पर एक-दूसरेके साथ व्यवहार करते हुए दूसरे मनुष्यके द्वारा अपनेपर अनेक प्रकारके अपकार, जाने-अनजाने हो जाना सम्भव रहता है, उस हालतमें उसे मुआफ करनेकी वृत्ति, उसे मुआफ करनेका कोई बोझ भी न हो चित्तपर, इसका नाम विशेष अर्थमें 'क्षमा' है।

जहाँ सप्तविध शक्तियोंका वर्णन किया जा रहा है, वहाँ क्षमाका अर्थ द्वन्द्व-सहिष्णुताके रूपमें लेनेकी जरूरत नहीं मानता। परन्तु अपराध सहन करना, अपकारके बदले उपकार करना यह क्षमाका विधायक, सक्रिय रूप हुआ।

क्षमाकी सीढ़ियाँ

(१) किसीने अपराध किया तो उसे दण्ड न देना बिलकुल पहली, प्रथम स्थिति है। (२) उसे दण्ड न देना, उसपर न चिढ़ना और उसे भूल जाना दूसरी स्थिति है। (३) तीसरी स्थिति है—कोई अपकार करने आया है, उसमें भी गुण पड़े हैं, उन गुणोंको ग्रहण करना। (४) चौथी स्थिति है—अपकार करनेवालेपर उपकार करनेका मौका आये, तो उस मौकेको न खोना और अपकार-कर्तापर उपकार करना। (५) पाँचवीं स्थिति है—यह सब करते हुए चित्तपर इसका कोई बोझ न हो, स्वभावसे ही किया जा रहा है, ऐसी अवस्था होना।

क्षमाकी ये उत्तरोत्तर भूमिकाएँ होंगी और एक बहुत विशाल क्षेत्र खुल जायगा सामाजिक व्यवहारके लिए, सामाजिक कृतिके लिए, जिसे आजकल हम सत्याग्रह आदिके नामसे पुकारते हैं। सत्याग्रहका सूक्ष्म अर्थ करने जाते हैं, तो वह क्षमा-का ही रूप आता है। ईसामसीहसे पूछा गया कि हम एक दफा क्षमा करें और उसका सामनेवालेपर परिणाम न हो, तो क्या किया जाय? उसने कहा: सात दफा क्षमा करो। फिर पूछा: सात दफा क्षमा करनेपर भी परिणाम न आये, तो क्या किया जाय? ईसामसीह बोले: सातगुणित सात दफा क्षमा करनी होगी। इसका मतलब यह है कि क्षमा करो ही करो। क्षमा ही करते जाओ।

क्षत्रियोंकी क्षमा

महाभारतमें कहानी है––कृष्णने शिशुपालके शत अपराध सहन किये और जब उससे ज्यादा अपराध हुआ, तो उसका शासन किया। क्षात्र-वृत्तिमें इस मिसालको हम 'क्षमा' कह सकते हैं। लेकिन क्षमाकी जो अपनी वृत्ति है, उसमें यह नहीं आयेगा कि सौ दफा क्षमा की, तो अब नहीं कर सकते। इसमें यह माना गया है कि क्षमा एकांगी गुण है। यह मानकर कहा भी गया है कि **'न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसि क्षमा'**––हमेशा क्षमा करना ठीक नहीं, हमेशा तेजस्विता दिखाना ठीक नहीं। यह एक सामान्य अर्थका वचन है। यहाँ तेज और क्षमा दोनों एक-दूसरेके पूरक माने गये और कुछ अर्थमें विरोधी भी माने गये हैं। हमेशा तेजस्विता ठीक नहीं, कुछ मौकोंपर ठीक है; हमेशा क्षमा ठीक नहीं, कुछ मौकों-पर ठीक है; इस आशयका वाक्य महाभारतमें आता है, तेज और क्षमाकी परस्पर पूरकता और परस्पर विरोधको बतानेके लिए।

लेकिन जहाँ क्षमाको शक्तिरूपमें देखा है, वहाँ क्षमामें दुर्बलता नहीं है। जिस शख्सने सौ दफा क्षमा की और एक सौ एकवीं बार शासन किया, उसने क्षमा-को शक्ति नहीं माना। अगर मानता, तो क्षमा कितनी बार की, इसकी गिनती वह न करता।

क्षमा : एक शक्ति

एक दफा क्षमा की, परिणाम नहीं आया, तो वह उससे ज्यादा गहरी क्षमा, गहरी वृत्ति, सौम्य वृत्ति बनाता––उसे सौम्यतर बनाता, यह प्रक्रिया करता। जैसे, किसीने तलवार चलाकर काम नहीं हुआ, तो पिस्तौल निकाली और पिस्तौलसे काम नहीं हुआ, तो स्टेन-गन निकाली, इत्यादि-इत्यादि। शस्त्रपर जिसका विश्वास था, उसने एक शस्त्रसे जय नहीं हुई, तो उससे तीव्र शस्त्र निकाला, क्योंकि उसकी शस्त्रपर श्रद्धा थी––एक शक्तिके रूपमें। ऐसी क्षमापर शक्तिके रूपमें जिसकी श्रद्धा हो, तो वह क्षमा ही करता रहेगा, उसकी गिनती नहीं करेगा। प्रथम क्षमामें अगर परिणाम नहीं आया हो, तो उससे अधिक सौम्य मनोवृत्ति धारण कर क्षमा-शस्त्रको ज्यादा धारण करेगा, उससे ज्यादा तीक्ष्ण बनायेगा। क्षमाकी तीक्ष्णता उसकी सौम्यतामें होगी। वह क्षमाकी तरफ शक्तिरूपेण देखेगा। अब क्षात्र-वृत्तिका जमाना खतम हो रहा है। जब कि विज्ञान-युगमें भयानक शस्त्रोंकी खोज हो रही है, तब क्षात्र-वृत्तिका सवाल रहा ही नहीं। आसमानसे, ऊपरसे बम गिरे, उसमें कौन-सी क्षात्र-वृत्ति है? घर बैठे-बैठे संहारक शस्त्र भेजे जायँ, उसमें क्षात्र-वृत्तिका सवाल ही नहीं है। उसमें योजनाका सवाल है, योजना-पूर्वक संहार करनेकी बात है। उसको मैं हिंसा नाम नहीं देता, वह संहार ही है।

ऐसी संहार करनेकी शक्ति जहाँ मानवके हाथमें आयी, वहाँ क्षात्र-वृत्तिका सवाल ही नहीं रहा। इसलिए उस शस्त्रका मुकाबला करनेवाला शस्त्र कोई हो सकता है, तो वह 'क्षमा' ही हो सकता है।

क्षमामें 'क्षम्' धातु है। गुजरातीमें 'खमनु' कहते हैं। क्षमा करना यानी सहन करना। पृथ्वीके मुताबिक हमें सहन करना है। इतना ही नहीं, बल्कि जो प्रहार करता है, उसे भी कुछ हमारी तरफसे भलाईका प्रसाद देना है। इस तरह क्षमाका प्रयोग होता है, तो वह एक सूक्ष्मतम और सौम्यतम सत्याग्रहका रूप होता है।

प्रेम और क्षमा

प्रेम एक बहुत बड़ी वस्तु है। अगर वह न हो तो मनुष्यका, प्राणीका जन्म ही न हो और पालन भी न हो। लेकिन उसकी शक्ति तब बनती है, जब प्रेम क्षमाके रूपमें आता है। अपराधको क्षमा-शस्त्रसे खंडित करना, **'क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?'** लोग इसे मानते हैं और यह समझते भी हैं कि व्यक्तिगत क्षेत्रमें क्षमा ठीक है, लेकिन सामाजिक क्षेत्रमें नहीं। यह एक नया द्वैत हो गया है कि व्यक्तिगत क्षेत्रमें जो गुण कामका है, वह सामाजिक क्षेत्रमें बेकाम। हम मानते हैं कि जो नीति व्यक्तिके जीवनको लागू होती है और लाभदायी होती है, वही नीति समाजके जीवनके लिए लागू होती है और लाभ पहुँचाती है। यहाँ प्रेमका उल्लेख नहीं किया, पर प्रेमका अत्यन्त उत्कर्षमय रूप ध्यानमें लेकर 'क्षमा' शब्द इस्तेमाल किया है। शस्त्ररूपसे और शक्तिरूपसे यहाँ 'क्षमा' की तरफ देखा है।*

---

* कस्तूरबाग्राममें २६-८-'६० से १-९-'६० तक किये गये सात प्रवचन।

स्त्री-जाति पुरुष-जातिसे अधिक उदात्त और अधिक ऊँची है; क्योंकि वह आज भी त्यागकी, मूक कष्टसहनकी, नम्रताकी, श्रद्धाकी और ज्ञानकी जीवित मूर्ति है।

—गांधीजी

५. आत्मज्ञान और विज्ञान

प्रास्ताविक

मेरे पिताजी वैज्ञानिक थे और माता आध्यात्मिक वृत्तिकी थी। मैं अपने शिक्षा-कालमें विज्ञानका अध्ययन सबसे अधिक पसन्द करता था। वह मेरे लिए प्रिय विषय था, लेकिन आध्यात्मिक साहित्यके प्रति मेरा विशेष आकर्षण और झुकाव था। इस प्रकार मेरे मनमें अध्यात्म और विज्ञान दोनों मिल गये और मिलकर एक हो गये। मेरी दृष्टिमें दोनों समान हैं और दोनोंका एक ही अर्थ है। एकका विषय विशेष रूपसे सृष्टिका बाह्य पहलू है, तो दूसरेका विषय आन्तरिक। ये दोनों मिलकर हमारे अन्दर समग्र विश्व प्रस्तुत करते हैं।

जब मैं सन् १९४२ में जेलके अन्दर था, तब भारतकी स्वतंत्रताके लिए किये गये आन्दोलनोंका गहराईसे चिन्तन करता था। इस चिन्तनके परिणाम-स्वरूप मैंने अनुभव किया कि विज्ञान और आत्मज्ञानको एक हो जाना चाहिए। केवल भारतकी ही नहीं, सारे विश्वकी मुक्तिका यही एकमात्र मार्ग है। लेकिन मनकी मुक्तिके बिना राष्ट्रकी मुक्तिका कोई अर्थ नहीं है। पहले मनको बन्धन-मुक्त करना चाहिए और यह काम है आत्मज्ञानका। बाइबिलमें हम पढ़ते हैं कि 'स्वर्गका राज्य तुम्हारे अन्दर है और उसे धरतीपर लाना है।' मैं स्वर्गके राज्यके सम्बन्धमें सोचता रहा और मुझे लगा कि **विज्ञान और आत्मज्ञानका मेल होता है, तो धरतीपर स्वर्ग लाया जा सकता है। अन्यथा विज्ञान हिंसाके साथ जुड़ा रहा, तो दोनों मिलकर विश्वका संहार कर देंगे।**

हिंसाके दिन अब समाप्त हो गये हैं। विज्ञान आ रहा है और उसकी प्रगति कोई रोक नहीं सकता है। बल्कि रोकनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन विज्ञानको सही प्रगति करनी है, तो उसे ठीक मार्गदर्शन मिलना चाहिए और वह मार्गदर्शन आत्मज्ञान ही दे सकता है।

०

१. विज्ञान

(क) विज्ञान और अहिंसा

विज्ञान वह है, जो सृष्टिमें, प्रकृतिमें जो कर्म चलते हैं, उनके कानूनका शोध करता है। पानी, हवा आदि पदार्थोंके क्या-क्या धर्म हैं, ये किस तरह काम करते हैं, उनका नियम या व्यवस्था क्या है—इत्यादि बातोंकी वह चर्चा करता है।

तत्त्वज्ञान विज्ञानसे भिन्न है। तत्त्वज्ञानी वे हैं, जो सृष्टि-रचनाकी चर्चा करते हैं। आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, इनका स्वरूप क्या है, सृष्टिकी रचना कैसी है, इन सबका परस्पर सम्बन्ध क्या है, ईश्वर और जीवका क्या स्वरूप है—ये सारी चर्चाएँ तत्त्वज्ञान करता है।

'क्यों ?' को तत्त्वज्ञान हल करता है और 'कैसे ?' का उत्तर विज्ञान देता है।

मानसशास्त्रसे परे

मानव एक प्राणी है, किंतु उसमें और अन्य प्राणियोंमें आजतक कुछ-न-कुछ फर्क रहा है। आखिर वह फर्क क्या है ?

दूसरे प्राणी प्राणप्रधान हैं, जब कि मानव मनःप्रधान है। वैसे मानवमें प्राण हैं और मन भी, किन्तु प्रधान मन ही है। प्राणी हलचल करता है, तो खूब जोरसे दौड़ता है। वह हमला करता है तो भी जोरसे। उस हमलेमें मन नहीं, प्राण प्रधान है। प्राणी उछलता-कूदता, हमला करता या टूट पड़ता है—यह सारी प्राण-प्रक्रिया है।

बच्चे भी इसी तरह करते हैं। बचपनमें खेलते-खेलते पत्थर फेंक देते हैं। खास किसी चीजपर नहीं फेंकते, फेंकनेकी वृत्ति हुई, इसलिए फेंक देते हैं। उनका खेल एक प्राण-वृत्ति है। लेकिन उनका पत्थर किसीको लगता और खून बहता है, तो वह एक घटना हो जाती है। उसका मानसिक असर भी होता है; क्योंकि बच्चेको भी मन होता है।

इस तरह स्पष्ट है कि मनुष्यको भी प्राणकी प्रेरणा होती है, परन्तु वह प्राण-प्रधान नहीं, मनःप्रधान होती है। छोटे-छोटे जन्तु तरह-तरहकी क्रियाएँ, हलचल करते हैं। उनमें सूक्ष्म मन नहीं होता, ऐसी बात नहीं। फिर भी मुख्य वस्तु प्राण है और मनुष्यमें मुख्य वस्तु मन है। भावना, वासना, कामना, प्रेरणा, आशा, निराशा आदिकी जो प्रक्रियाएँ हैं, वे सारी मानसिक वृत्तियाँ मनुष्यमें काम करती हैं। डर, हिम्मत, अभिमान, मानापमान, प्रेम, आसक्ति, द्वेष, तिरस्कार, नफरत ये सब मानवकी मनोवृत्तियोंका खेल है।

किन्तु अब विज्ञान मानवसे कहता है कि तुम्हारी मनोभूमिका नहीं चलेगी। अब तुम्हें विज्ञान-भूमिकापर आना होगा। यानी जिसे हम 'मानसशास्त्र' कहते हैं, वह सारा-का-सारा बिलकुल निकम्मा हो जायगा। एटम बम गिरेगा तो मानव, पशु, सब खतम हो जायेंगे। मानवोंमें भी अच्छे-बुरेका कोई फर्क न किया जायगा। बाढ़ आनेपर नदी महापुरुष, अल्पपुरुष, जानवर या लकड़ी, जो भी सामने हों, सब बहाकर ले जाती है। जसे नदी मानसशास्त्रसे परे है, वैसे ही विज्ञान मानसशास्त्रसे परे है।

जिस अणुसे यह सारी दुनिया, सारी सृष्टि बनी है, वही सारी शक्ति आज मनुष्यके हाथमें आ गयी है। जिस अणु-शक्तिके बिखरनेसे दुनियाका लय हो सकता है, वह शक्ति मनुष्यके हाथ आ गयी है। सृष्ट्युत्पादक और सृष्टि-संहारक अणु-शक्ति आज मनुष्यके हाथ आयी है।

इतना ही नहीं, मानवने आसमानमें नये उपग्रह फेंके हैं, जो पृथ्वीके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। यानी इसके आगे केवल अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तनसे नहीं चलेगा। अन्तर्गोलीय चिन्तन, अन्तर्जागतिक चिन्तनकी जरूरत पड़ेगी। अगर मनुष्य मानसिक भूमिकापर रहकर यह सारा करेगा, तो कसे चलेगा? इसलिए आजके मानवकी समस्या उसके मानसशास्त्रमें थोड़ासा फर्क करनेकी नहीं, पुराना सारा मानसशास्त्र खतम करनेकी है। पुराने मानसशास्त्रके बीस अध्याय हों, तो उसमें इक्कीसवाँ अध्याय जोड़ देनेसे काम न चलेगा। पुराने मानसशास्त्रके सभी ग्रन्थोंकी होली जलानी होगी। पुराना सारा जीवन—राग-द्वेष, मानापमान, रीति-रिवाज, प्रथाएँ सब-कुछ पटक देना पड़ेगा।

विज्ञानकी भूमिका मनके ऊपरकी भूमिका है। विज्ञान आपको अपनी इसी भूमिकासे ऊँचा उठनेको मजबूर कर रहा है। पहलेके जमानेमें भी यह मालूम था कि विज्ञानकी भूमिका मनसे ऊपरकी भूमिका है। उपनिषदोंमें कहा गया है: **'प्राणो ब्रह्मेति'**। फिर कहा है: **'मनो ब्रह्मेति'**। उसके बाद **'विज्ञानं ब्रह्मेति'**। प्राणकी भूमिका प्राणियोंकी है, मनकी भूमिका मनुष्योंकी और विज्ञानकी भूमिका ऋषियोंकी है। इस तरह उस जमानेमें विज्ञानकी भूमिका मालूम तो थी, किन्तु उसकी मानवपर जबर्दस्ती नहीं थी। वैयक्तिक विकासके तौरपर कोई मनुष्य अपना विकास करते-करते विज्ञानकी भूमिकापर पहुँच जाता था। लेकिन वह सारा व्यक्तिगत विकासका विचार था।

अब कोई महापुरुष ऐच्छिक तौरपर विज्ञानकी भूमिका प्राप्त करे, यह इस जमानेमें नहीं चलेगा। बल्कि अनिवार्यतः सभी लोगोंको विज्ञानकी भूमिकापर आना होगा। विज्ञान सृष्टिके सामने मनको गौण समझता है, आत्मज्ञान भी। दोनों मनको गौण मानते हैं। आध्यात्मिकता कहती है कि मनका 'उन्मन' बनना चाहिए। विज्ञान भी यही कहता है।

अरविन्दका अतिमानस-दर्शन

इसलिए श्री अरविन्द 'सुप्रामेंटल' की बात करते थे। उनके मतसे ऊपर जाकर परमेश्वर-दर्शन और परमेश्वर-स्पर्शके अमृतपानसे परितुष्ट होकर मन उन्मन हो जाता है और उसके बाद वह नीचे आता है; इसीको अवतरण कहते हैं। मुक्ति हो गयी, तो समाप्ति हो गयी, ऐसा वे नहीं मानते। श्री अरविन्द कहते हैं—मुक्तिके बाद—मन उन्मन होनेके बाद—फिरसे कार्यक्रम शुरू होता है। वह भूमिका अतिमानसकी भूमिका है। उसको वे 'अवतार' कहते हैं।

यह तो एक विशाल दर्शन है। अभी हम ऊपर जाकर फिर अवतार लें ऐसी आकांक्षा न रखें। अगर इतना बड़ा काम न कर सकेंगे, तो भी हमें मानसिक भूमिकासे तो ऊपर उठना ही चाहिए। नहीं तो समाजमेंसे झगड़े मिटेंगे ही नहीं और उस घर्षणको कम करनेके लिए सदैव तेल डालते रहना पड़ेगा। वास्तवमें वह यन्त्र ही ऐसा हो जाना चाहिए कि उसमें घर्षण न हो, तेलकी जरूरत न हो। इस शरीरमें ढील नहीं है, तो भी हड्डी एक-दूसरेसे टकराती नहीं। इनकी योजना ही ऐसी है कि घर्षण न हो, क्योंकि वहाँ प्रेम-शक्ति काम करती है। पैरमें तकलीफ होती है, तो हाथ तुरत सेवा करने लगता है। शरीरके अन्तर्गत जो प्रेम-शक्ति है, उसीके कारण शरीरके अवयवोंमें घर्षण नहीं होता और उनसे अभीष्ट काम लिया जा सकता है। इस तरह समाजकी भी यन्त्र-रचना हो जाय, तो फिर तेलकी डिब्बीकी जरूरत नहीं रहेगी।

विज्ञान-युगके तीन कर्तव्य

पूछा जाता है कि अगर विज्ञान बढ़ता ही रहा, तो क्या उससे दुनियाका भला होगा? विज्ञान जिस तरह बढ़ता रहा है, उसी तरह बढ़ता रहे, क्या यह उचित है?

विज्ञान इन्हीं दिनों बढ़ रहा है, ऐसी बात नहीं। मनुष्य जबसे पैदा हुआ, तभीसे विज्ञानके लिए प्रयत्न करता आया है। पुराने जमानेमें लोगोंने जो प्रयोग किये, उन्हींके आधारपर आजका विज्ञान चल रहा है। अग्नि पैदा करना पहलेके लोग नहीं जानते थे। उसके बाद जब अग्निकी खोज हुई, तो जीवनमें कितना फर्क पड़ा! अग्नि न हो तो घरोंकी रसोई ही बन्द हो जायगी। फिर ठंडसे ठिठुरने लगेंगे। अग्निके आधारपर कितनी ही वनस्पतियोंकी दवाएँ बनती हैं, वे कैसे बनेंगी?

इसके भी पहले एक जमाना ऐसा था, जब कि केवल पत्थरोंसे ही लोग अपने औजार बनाते थे। उनके पास लोहा नहीं था। उसके बाद जब लोहेकी खोज हुई, तो जीवनमें कितना परिवर्तन हुआ! पेंसिल छीलनेके लिए चाकू, कपड़े सीनेके लिए सूई, काटनेके लिए कैंची, किसानको हलके लिए फाल और खोदनेके लिए कुदाली, फावड़ा।

पहले लोग गायका दूध दुहना नहीं जानते थे। शिकार करके प्राणियोंको खाते थे। लेकिन जिस किसीको यह अक्ल सूझी कि गायपर हम प्यार कर सकते हैं, उसे कुछ खिला सकते हैं और उसके स्तनोंसे दूध ले सकते हैं, उसने कितनी भारी शोध की होगी! मतलब यह कि खेतीकी खोज, गोरक्षाकी खोज, अग्निकी खोज, कपाससे कपड़ा बनानेकी खोज—कितनी ही खोजें पहले की गयीं।

पहले भापाकी शक्तिका आविष्कार हुआ। उसके बाद हम आज एटमतक पहुँच गये हैं। अणुशक्तिसे भी कई प्रकारके कारखाने चलेंगे। विकेन्द्रित उद्योग भी गाँव-गाँव चलाये जा सकेंगे। इस तरह विज्ञान प्राचीनकालसे आजतक लगातार बढ़ता आया है, बढ़ेगा और बढ़ना चाहिए। उससे मानव-जीवनमें सुन्दरता आयेगी। मनुष्यको सृष्टिका जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह सृष्टिका रूप अच्छी तरह समझकर उसकी शक्तिका उपयोग कर सकेगा।

पैसेके लिए विज्ञानकी बिक्री

लेकिन आज विज्ञान बिक रहा है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक विनाशक शस्त्रास्त्र बनानेको महत्त्व देते हैं। ये इतने अक्लवाले होनेपर भी पैसेसे खरीदे जा सकते हैं। इन्हें पैसा मिले तो जिस प्रकारकी खोज करनेकी आज्ञा दी जाय, उसी प्रकारकी खोज ये कर देंगे, फिर उससे चाहे दुनिया खतम हो जाय, चाहे दुनियाका भला हो। अगर वैज्ञानिक इतना प्रण करें कि किसीके पैसेसे वे खरीदे न जायेंगे और ध्वंसात्मक शस्त्रास्त्र बनानेमें हरगिज योग न देंगे, संहारके कामकी कोई भी शोध-खोज न करेंगे, तो दुनिया बच जायगी। लेकिन वैज्ञानिकोंमें यह अक्ल तबतक नहीं आयेगी, जबतक सारा समाज इस तरहके विचार नहीं अपनायेगा। संहारके लिए शोध करनेकी वृत्तिको लोग जब घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे, तभी वह बन्द होगा।

विज्ञानसे अहिंसाका गठबन्धन

यदि विज्ञान बढ़ता जायगा और उसे हम बढ़ने देना चाहते हैं, तो उसके साथ अहिंसाको भी रखना चाहिए। तभी दुनियाका भला होगा। विज्ञान और अहिंसा दोनोंका योग होगा, तो दुनियामें 'जमीनपर स्वर्ग उतर आयेगा।' लेकिन अगर विज्ञान और हिंसाकी जोड़ी बन गयी, उनका गठबन्धन हो गया, तो दुनिया बरबाद हो जायगी। हम अहिंसापर इतना ज्यादा जोर इसलिए देते हैं कि विज्ञान बढ़े। अगर विज्ञानको बढ़ाना है, तो उसके साथ उसकी रक्षाके लिए अहिंसाकी जरूरत रहेगी ही। अगर आप हिंसाको कायम रखना चाहते हैं, तो विज्ञानको नहीं बढ़ाना चाहिए। पहलेके जमानेकी हिंसा अलग तरहकी थी। भीम और जरासन्धक[illegible]ी हुई। जो मरनेवाला था, मर गया, जो बचनेवाला था,

बच गया। दुनियाकी विशेष हानि नहीं हुई। लेकिन आज आणविक अस्त्र हाथमें आये हैं, उससे कुल दुनियाका संहार हो सकता है। अगर विज्ञानको सीमित बनाते हैं, तो हिंसाके बने रहनेपर भी ज्यादा नुकसान न होगा। लेकिन विज्ञानको बढ़ाना चाहते हों, तो उसके साथ अहिंसा रखनेपर ही दुनिया बचेगी। अहिंसाको विज्ञानके साथ रखनेका मतलब यह है कि मनुष्य-मनुष्यके बीचकी जो समस्याएं हैं, उन्हें हल करनेमें शस्त्रास्त्रोंका उपयोग न किया जाय। वे समस्याएँ अहिंसासे हल की जायँ। तभी वह टिकेगा। अगर विज्ञान और हिंसा, दोनों साथ-साथ रहते हैं, तो मनुष्य और उसका विज्ञान ही खतम हो जायगा।

सार्वभौम विज्ञान

विज्ञानके दायरेमें एक प्रकारसे सारी दुनिया आ जाती है। 'विज्ञान' शब्दका प्रचलित संकुचित अर्थ न लें, उसे विशाल अर्थमें लें तो आत्मा भी उसके ही अन्तर्गत आती है। इन दिनों 'विज्ञान' का अर्थ सृष्टिके बाहरी गुण-धर्मोंसे ही माना जाता है, लेकिन आन्तरिक वस्तुएँ भी उसके क्षत्रमें आ सकती हैं। विज्ञान नीति-निरपेक्ष है। वह न नैतिक है, न अनैतिक ही। इसीलिए उसको मूल्योंकी आवश्यकता है। इस स्थितिमें उसे गलत मार्गदर्शन मिलता है, तो वह नरकका मार्ग बन जाता है और सही मार्गदर्शन मिलता है, तो स्वर्गमें ले जा सकता है। सही मार्गदर्शन आत्मज्ञानसे ही मिल सकता है।

(ख) वैज्ञानिक और वैज्ञानिकता

विज्ञानमें वस्तुकी ओर देखनेका दृष्टिकोण मुख्य है। विज्ञानकी विशेषता उसकी वैज्ञानिकता और शास्त्रीय दृष्टिमें है। हमारा दृष्टिकोण जब वैज्ञानिक (साइंटिफिक) और शास्त्रीय होगा, तब हम जीवनके हर विषयमें खोज करने लगेंगे। आज भारतमें मलेरिया कम हुआ है, क्योंकि यहाँ विज्ञानका उपयोग हुआ। जीवनका प्रत्येक व्यावहारिक अंश शास्त्रीय ढंगसे होना चाहिए। अपने कपड़े, अपने बिस्तर, अपने सामानकी व्यवस्था, इन सबमें विज्ञानका पुट होना चाहिए। कम-से-कम सामानमें ज्यादा-से-ज्यादा व्यवहार चल जाय, मकानकी बनावटमें सादगी हो, स्वच्छताकी व्यवस्था हो, रसोईमें ज्यादा परिश्रम न लगे, समय अधिक न लगे, कोई मनुष्य बीमार न पड़े, भोजन सन्तुलित हो—इस प्रकार हर चीजपर विज्ञानका प्रकाश पड़ना चाहिए। इसके लिए आधुनिक विज्ञान-का अध्ययन होना चाहिए।

जीवन यदि वैज्ञानिक (साइंटिफिक) बनता है, तो सादा होता है। बहुतोंका ख्याल है कि विज्ञानसे जीवन जटिल बनेगा। लेकिन यह ख्याल गलत है। विज्ञान-के बढ़नेसे मनुष्य आकाशका महत्त्व समझेगा। अब मनुष्य रात-दिन कपड़ा पहने

पहले लोग गायका दूध दुहना नहीं जानते थे। शिकार करके प्राणियोंको खाते थे। लेकिन जिस किसीको यह अक्ल सूझी कि गायपर हम प्यार कर सकते है, उसे कुछ खिला सकते है और उसके स्तनोंसे दूध ले सकते हैं, उसने कितनी भारी शोध की होगी ! मतलब यह कि खेतीकी खोज, गोरक्षाकी खोज, अग्निकी खोज, कपाससे कपड़ा बनानेकी खोज---कितनी ही खोजें पहले की गयीं।

पहले भाषाकी शक्तिका आविष्कार हुआ। उसके बाद हम आज एटमतक पहुँच गये हैं। अणुशक्तिसे भी कई प्रकारके कारखाने चलेंगे। विकेन्द्रित उद्योग भी गाँव-गाँव चलाये जा सकेंगे। इस तरह विज्ञान प्राचीनकालसे आजतक लगातार बढ़ता आया है, बढ़ेगा और बढ़ना चाहिए। उससे मानव-जीवनमें सुन्दरता आयेगी। मनुष्यको सृष्टिका जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह सृष्टिका रूप अच्छी तरह समझकर उसकी शक्तिका उपयोग कर सकेगा।

पैसेके लिए विज्ञानकी बिक्री

लेकिन आज विज्ञान बिक रहा है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक विनाशक शस्त्रास्त्र बनानेको महत्त्व देते हैं। ये इतने अक्लवाले होनेपर भी पैसेसे खरीदे जा सकते है। इन्हें पैसा मिले तो जिस प्रकारकी खोज करनेकी आज्ञा दी जाय, उसी प्रकारकी खोज ये कर देंगे, फिर उससे चाहे दुनिया खतम हो जाय, चाहे दुनियाका भला हो। अगर वैज्ञानिक इतना प्रण करें कि किसीके पैसेसे वे खरीदे न जायँगे और ध्वंसात्मक शस्त्रास्त्र बनानेमें हरगिज योग न देंगे, संहारके कामकी कोई भी शोध-खोज न करेंगे, तो दुनिया बच जायगी। लेकिन वैज्ञानिकोंमें यह अक्ल तबतक नहीं आयेगी, जबतक सारा समाज इस तरहके विचार नहीं अपनायेगा। संहारके लिए शोध करनेकी वृत्तिको लोग जब घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे, तभी वह बन्द होगा।

विज्ञानसे अहिंसाका गठबन्धन

यदि विज्ञान बढ़ता जायगा और उसे हम बढ़ने देना चाहते हैं, तो उसके साथ अहिंसाको भी रखना चाहिए। तभी दुनियाका भला होगा। विज्ञान और अहिंसा दोनोंका योग होगा, तो दुनियामें 'जमीनपर स्वर्ग उतर आयेगा।' लेकिन अगर विज्ञान और हिंसाकी जोड़ी बन गयी, उनका गठबन्धन हो गया, तो दुनिया बरबाद हो जायगी। हम अहिंसापर इतना ज्यादा जोर इसलिए देते हैं कि विज्ञान बढ़े। अगर विज्ञानको बढ़ाना है, तो उसके साथ उसकी रक्षाके लिए अहिंसाकी जरूरत रहेगी ही। अगर आप हिंसाको कायम रखना चाहते हैं, तो विज्ञानको नहीं बढ़ाना चाहिए। पहलेके जमानेकी हिंसा अलग तरहकी थी। भीम और जरासन्धकी कुश्ती हुई। जो मरनेवाला था, मर गया, जो बचनेवाला था,

बच गया। दुनियाकी विशेष हानि नहीं हुई। लेकिन आज आणविक अस्त्र हाथमें आये हैं, उससे कुल दुनियाका संहार हो सकता है। अगर विज्ञानको सीमित बनाते हैं, तो हिंसाके बने रहनेपर भी ज्यादा नुकसान न होगा। लेकिन विज्ञानको बढ़ाना चाहते हों, तो उसके साथ अहिंसा रखनेपर ही दुनिया बचेगी। अहिंसाको विज्ञानके साथ रखनेका मतलब यह है कि मनुष्य-मनुष्यके बीचकी जो समस्याएं हैं, उन्हें हल करनेमें शस्त्रास्त्रोंका उपयोग न किया जाय। वे समस्याएँ अहिंसासे हल की जायँ। तभी वह टिकेगा। अगर विज्ञान और हिंसा, दोनों साथ-साथ रहते हैं, तो मनुष्य और उसका विज्ञान ही खतम हो जायगा।

सार्वभौम विज्ञान

विज्ञानके दायरेमें एक प्रकारसे सारी दुनिया आ जाती है। 'विज्ञान' शब्दका प्रचलित संकुचित अर्थ न लें, उसे विशाल अर्थमें लें तो आत्मा भी उसके ही अन्तर्गत आती है। इन दिनों 'विज्ञान' का अर्थ सृष्टिके बाहरी गुण-धर्मोंसे ही माना जाता है, लेकिन आन्तरिक वस्तुएँ भी उसके क्षेत्रमें आ सकती हैं। विज्ञान नीति-निरपेक्ष है। वह न नैतिक है, न अनैतिक ही। इसीलिए उसको मूल्योंकी आवश्यकता है। इस स्थितिमें उसे गलत मार्गदर्शन मिलता है, तो वह नरकका मार्ग बन जाता है और सही मार्गदर्शन मिलता है, तो स्वर्गमें ले जा सकता है। सही मार्गदर्शन आत्मज्ञानसे ही मिल सकता है।

(ख) वैज्ञानिक और वैज्ञानिकता

विज्ञानमें वस्तुकी ओर देखनेका दृष्टिकोण मुख्य है। विज्ञानकी विशेषता उसकी वैज्ञानिकता और शास्त्रीय दृष्टिमें है। हमारा दृष्टिकोण जब वैज्ञानिक (साइंटिफिक) और शास्त्रीय होगा, तब हम जीवनके हर विषयमें खोज करने लगेंगे। आज भारतमें मलेरिया कम हुआ है, क्योंकि यहाँ विज्ञानका उपयोग हुआ। जीवनका प्रत्येक व्यावहारिक अंश शास्त्रीय ढंगसे होना चाहिए। अपने कपड़े, अपने बिस्तर, अपने सामानकी व्यवस्था, इन सबमें विज्ञानका पुट होना चाहिए। कम-से-कम सामानमें ज्यादा-से-ज्यादा व्यवहार चल जाय, मकानकी बनावटमें सादगी हो, स्वच्छताकी व्यवस्था हो, रसोईमें ज्यादा परिश्रम न लगे, समय अधिक न लगे, कोई मनुष्य बीमार न पड़े, भोजन सन्तुलित हो—इस प्रकार हर चीजपर विज्ञानका प्रकाश पड़ना चाहिए। इसके लिए आधुनिक विज्ञानका अध्ययन होना चाहिए।

जीवन यदि वैज्ञानिक (साइंटिफिक) बनता है, तो सादा होता है। बहुतोंका ख्याल है कि विज्ञानसे जीवन जटिल बनेगा। लेकिन यह ख्याल गलत है। विज्ञानके बढ़नेसे मनुष्य आकाशका महत्त्व समझेगा। अब मनुष्य रात-दिन कपड़ा पहने

रहता है, शरीरके कुछ हिस्सोंको सूर्य-किरणोंका स्पर्शतक नहीं होता। इससे शरीर जीर्ण बनता है और प्राणशक्ति-विहीन होता है। यह विज्ञान समझाता है, तो मनुष्य वस्त्रोंका उपयोग कम करने लगेगा और इस तरह जीवन सादा बनेगा। विज्ञानके जमानेमें कोई दस-दस तल्लेवाले मकान नहीं बनायेगा, क्योंकि एक तल्लेवाला मकान अच्छा है, वह भी ऐसा कि जिसमें हवा और प्रकाश अन्दर आ सके, आसपास खुली जगह हो।

विज्ञानसे आरोग्य इतना बढ़ेगा कि मनुष्यको औषधियोंकी आवश्यकता नही रहेगी। उत्तमोत्तम औषधि तैयार करनी होगी, जरूरत होनेपर वह मिलेगी, लेकिन कोई उसको नही लेगा, क्योंकि सब आरोग्यवान् होंगे, और मनुष्यकी वृत्ति वैज्ञानिक (साइंटिफिक) हुई होगी। हवाई जहाज तो होंगे, फिर भी मनुष्य पैदल चलना पसन्द करेगा। हवाई जहाजकी आवश्यकता कम रहेगी। जंगलमें घूम रहे हैं और आनन्द ले रहे हैं। डॉक्टर हैं, लेकिन डॉक्टरोंकी जरूरत नहीं। ऐसे-ऐसे चश्मे तैयार हैं कि अन्धेको भी दीखने लगे, लेकिन कोई उन्हें लेता नहीं है, उनकी जरूरत ही नहीं है, क्योंकि आँख बिगड़ेगी ही नही। विज्ञानके जमानेमें रातको बत्तियाँ नहीं जलेंगी, लोग नक्षत्रोंकी छायामें सोयेंगे। विज्ञानका उपयोग मनुष्य-श्रम कम करनेमें नहीं होगा, मनुष्यका बोझ हलका करनेमें और आरोग्य बढ़ानेमें होगा।

आज विज्ञान राजनीतिज्ञोंके हाथमें है। वे जैसा आदेश देंगे, उसके अनुसार कार्य होता है। वैज्ञानिकोंको राजनीतिज्ञोंके इशारेके अनुरूप खोज करनी होती है। वे पैसा देकर वैज्ञानिकोंको खरीद लेते हैं। यह वैज्ञानिकोंकी गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक (अनसाइंटिफिक) हैं। यदि वैज्ञानिक (साइंटिस्ट) वैज्ञानिक (साइंटिफिक) होंगे, तो ऐसी चीज सहन नहीं करेंगे। आज विज्ञान तो बढ़ा है, लेकिन वैज्ञानिक-वृत्ति निर्माण नहीं हुई है, जीवन वैज्ञानिक (साइंटिफिक) नहीं बना है।

विज्ञानमें दोहरी शक्ति होती है। एक विनाश-शक्ति और दूसरी विकास-शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्निनारायणकी खोज हुई, तो उससे रसोई भी बनती है और घरमें आग भी लगायी जा सकती है। किन्तु अग्निका उपयोग घर फूँकनेमें करना है या चूल्हा जलानेमें, यह अक्ल विज्ञान-में नहीं है। यह अक्ल तो आत्मज्ञानमें है। जैसे पक्षी दो पंखोंसे उड़ता है, वैसे ही मनुष्य आत्मज्ञान और विज्ञान इन दो शक्तियोंसे अग्रसर हो सुखी होता है। हर यंत्रमें दो प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। एक गति बढ़ानेवाली और दूसरी दिशा दिखानेवाली। अगर इनमेंसे एक भी यन्त्र न हो, तो काम नहीं चलेगा। मोटरको दोनों यन्त्रोंकी जरूरत रहेगी। हम पाँवसे चलते हैं, आँखसे नहीं। आँखसे तो दिशा मालूम होती है। आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव। अगर मानवको

आत्मज्ञानकी दृष्टि न हो, तो वह अन्धा न मालूम कहाँ चला जायगा। उसे आँखें हों, लेकिन पाँव न हों, तो इधर-उधर देख सकेगा, पर घरमें ही उसे बैठे रहना पड़ेगा। इसलिए बिना विज्ञानके संसारमें कोई काम ही न हो सकेगा और बिना आत्मज्ञानके विज्ञानको ठीक दिशा ही न मिलेगी।

(ग) भारत विज्ञान का अधिकारी

हमारा देश बहुत पुराना है और दुनियामें इसकी अपनी विशेषता है। दुनिया जानती है कि भारतद्वारा कभी भी दूसरे देशोंपर आक्रमण नहीं हुआ। जिस वक्त भारतमें सत्ताशाली राजा और सम्राट् थे, भारत विद्या और कलासे सम्पन्न हो ऐश्वर्यके शिखरपर पहुँचा हुआ था, तब भी उसके द्वारा दूसरे देशोंपर आक्रमण होनेका एक भी उदाहरण नहीं है। भारत कोई छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा लम्बा-चौड़ा विशाल देश है। फिर भी इतने बड़े देशके इतिहासमें विदेशोंपर आक्रमण करनेकी एक भी घटना नहीं घटी। यहाँसे विद्या और धर्मका सन्देश लेकर जो भारतीय चीन, जापान, लंका, तिब्बत, ब्रह्मदेश और मध्य-एशिया गये, वे साथमें कोई शस्त्र लेकर नहीं गये और न कोई सत्ता लेकर ही गये। वे केवल ज्ञान-प्रचारके लिए गये। भारत अपनी सत्ता दूसरे देशपर चलाना तो चाहता ही नहीं, परन्तु विचारका भी हमला उसने कभी नहीं किया। केवल विचार समझाकर ही सन्तोष रखा। यह भारतकी बड़ी खूबी है। भारतीय इतिहासकी यही खूबी हमारे लिए बड़े गौरवकी बात है।

धर्म-विचारका विज्ञानसे विरोध नहीं

हिन्दुस्तानमें हमने किसी एक पुरुषके नामसे धर्म नहीं चलाया। यह इस देशके लिए अभिमानकी बात हो सकती है। अगर हम किसीका नाम लेकर, उसके कार्यको आगे बढ़ानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, तो उसके नामका गौरव हो सकता है। फिर भी हमने किसी भी महापुरुषके नामके साथ अपने विचारको नहीं बाँधा। अतएव हम भारतीयोंने हमेशा मुक्त-चिन्तन किया है। हिन्दुस्तानके दर्शनने विज्ञानके साथ कभी झगड़ा नहीं किया। शंकराचार्यने तो यहाँतक कह रखा है कि यदि साक्षात् श्रुति भी 'अग्नि ठंढी है' ऐसा कहे, तो हम उसे माननेके लिए बाध्य नहीं, अर्थात् विज्ञानकी प्रत्यक्ष अनुभवकी जो बात होगी, उसके विरुद्ध वेद भी नहीं बोलते और न बोलना चाहते हैं।

इतिहासके जानकारोंको मालूम है कि यूरोपमें धर्म और विज्ञानके बीच बाकायदा लड़ाई चली। विज्ञानका जहाँ ज्यादा-से-ज्यादा विकास हुआ, वहीं उसका घोर विरोध भी हुआ। विज्ञानको धर्मवालोंके खिलाफ खड़ा होना पड़ा और धर्मवालोंने भी विज्ञानवालोंको खूब सताया। गैलिलियोको इसलिए जेलमें डाला

गया कि वह यह नहीं कहता था कि 'पृथ्वी नहीं घूमती'। लेकिन वह समझता था और उसके प्रयोगोंने उसे दिखा दिया था कि पृथ्वी तो घूमती रहती है। आखिर उसे जब बहुत सताया गया, तो उसका दिल थोड़ा कमजोर होने लगा। लेकिन उसकी विवेक-बुद्धि जाग्रत हो गयी और उसने कहा : "नहीं, मैं चाहता हूँ कि पृथ्वी न घूमे। बावजूद इसके वह घूमती है, घूमती है, घूमती है। इसलिए मैं नहीं कह सकता कि पृथ्वी नहीं घूमती।"

किन्तु हिन्दुस्तानमें धर्म-विचारसे विज्ञानके साथ ऐसा कोई विरोध नहीं आया। ज्ञान-शिरोमणि शंकराचार्यने जाहिर कर दिया कि **'ज्ञानं न पुरुषतन्त्रम्, किन्तु वस्तुतन्त्रम्'** यानी ज्ञान मनुष्यकी मर्जीपर नहीं, वस्तुके स्वरूपपर निर्भर है। इसलिए वस्तु-स्वरूपके बारेमें किसीकी आज्ञा नहीं चल सकती। वस्तु-स्वरूपके सामने सारी आज्ञाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। शंकराचार्यने यह कहकर मानो विज्ञान-के लिए 'मेग्नाचार्टा' ही दे दिया कि 'विज्ञान ! खुलकर सामने आओ, हमारे धर्म-विचारसे तुम्हारा कोई विरोध नहीं।' इस तरह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानमें धर्म-विचारसे विज्ञानका कभी भी विरोध नहीं माना गया। अब भारतके सामने मौका है कि वह दिखा दे कि भारतका धर्म-विचार वैज्ञानिक है और हम विज्ञान-का स्वागत करते हैं।

बड़े दुःखकी बात है कि आज हिन्दुस्तानके पास ज्यादा विज्ञान नहीं है। उसे हमें पश्चिमके लोगोंसे सीखना है। उसे सीखनेका हमें पूरा अधिकार है। अहिंसाके तरीकेसे विज्ञानका उपयोग कर हम दिखा दें कि 'भारतकी समस्याएँ प्रेमसे हल की जा सकती हैं। भारतका गाँव-गाँव आजाद बन गया है और सभी प्रेमसे कारोबार चला रहे हैं। हमने विज्ञानका पूरा उपयोग कर फसल बढ़ायी है। हम प्रेमसे एक-दूसरेके साथ रहते हैं। भारतमें आपसका कोई भी झगड़ा है ही नहीं।' आज यूरोप और अमेरिकाके लोग चाहते हैं कि भारत इस दिशामें हमारा पथ-प्रदर्शन करे।

विज्ञानके युगमें अगर हिन्दुस्तानको जीना है, तो क्या-क्या करना होगा ? एक, मानवकी समस्याएँ अहिंसाकी शक्ति, नैतिक शक्तिसे ही हल करनेका निर्णय किया जाय। दूसरा, विज्ञानका उपयोग सेवाके साधनमें करें, संहारके साधन बनानेमें नहीं। और तीसरा, विज्ञानको बड़े यन्त्र बनानेकी आज्ञा देनी है या छोटेकी, यह परिस्थिति देखकर तय किया जाय। ये बातें हम ध्यानमें रखते हैं, तो विज्ञानसे बहुत लाभ होगा।

विज्ञानकी निरपेक्ष शक्ति

मैं विज्ञान और तंत्रशास्त्र (टेक्नालॉजी) में फर्क करता हूँ। विज्ञान और तंत्रशास्त्रका उपयोग व्यवहारमें कहाँतक करना चाहिए, इसका निर्णय विज्ञान

कहते हैं और मैं ब्रह्म हूँ, तो मेरी कोशिश होनी चाहिए कि सबके साथ समान व्यवहार करूँ। इसको 'अहिंसा' कहते ह। मैं समान व्यवहारकी कोशिश ही करूँगा, क्योंकि देहमें हूँ, तो समान व्यवहार सम्भव नहीं होगा। भावनासे समान व्यवहार होगा, लेकिन देह-विग्रह होगा। विचार है कि सबके साथ समान व्यवहार करना है। इसको 'अहिंसा' कहते हैं।

अहिंसा एक आचरण-पद्धति है और वेदान्त एक चिन्तन-पद्धति है। वेदान्त यानी चिन्तन क्या है, यह बताया, और अहिंसा यानी आचरण कैसे करना, यह बताया। दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। आचरणकी बुनियाद वेदान्तकी रहेगी, और वेदान्तकी बुनियादपर मकान अहिंसाका होगा।

गाँव-गाँवमें हमको यही काम करना है। गाँववालोंको यही विचार समझाना है कि हम सब एक हैं और व्यवहारमें समानताकी कोशिश करनी है।

'मैं ब्रह्म हूँ', यह विचार कैसे समझना? पहले मैं ब्राह्मण हूँ, फिर मानव हूँ, फिर प्राणी हूँ, फिर पदार्थ हूँ—यह एक पद्धति है विचार समझनेकी। उसका कभी अन्त आयेगा नहीं और वह पूरी पड़ेगी नहीं। इसलिए वह भेद ही पैदा करेगी। तो ब्रह्म कैसे पहचानना? यह कान है, यह नाक है, यह आँख है, यह मन है, ये इंद्रियाँ हैं, यह बुद्धि है, और इनको पहचाननेवाला 'मैं' हूँ। यानी मैं साक्षी हूँ। मेरी घड़ी रोज दो मिनट पीछे जाती है, यह मैं जानता हूँ, तो उसको ठीक कर लेता हूँ। यानी घड़ीका मैं साक्षी हूँ। वैसे ही मनको मैं पहचानता हूँ, उसकी कमजोरी टालकर उसका अच्छा उपयोग करता हूँ। पहचाननेवाला 'मैं' अलग ही हूँ। इस प्रक्रियासे हम साक्षीरूपेण वहाँतक पहुँच सकते हैं। यही प्रक्रिया है। अपनेको इंद्रियाँ, मन, बुद्धिसे अलग पहचानना, अपनेको अपने स्थानमें पहचानना। यह है वेदान्तकी प्रक्रिया—साक्षीरूपेण रहनेकी।

जो साक्षीरूपेण रहता है, वह दो बाजूसे बोलता है। एक तो वह कहता है कि 'कुल दुनिया मैं हूँ' और 'यह कुल दुनिया है ही नहीं, मैं ही हूँ।' यह है वेदान्त और अहिंसाकी कोशिश, समानताकी कोशिश।

समान व्यवहारकी कोशिश कैसे करेंगे? बाबाका सबसे दुःखी अवयव कान है। उसके लिए सब चिन्तित हैं। शरीरमें हम क्या करते हैं? जो सबसे दुःखी अवयव होता है, उसकी सेवा प्रथम करते हैं, फिर दूसरे अवयवोंकी तरफ देखते हैं। पूरे शरीरका खयाल करके उसको खिलाना है, यह तो है ही। वैसे ही हमको गाँवमें सबसे प्रथम, जो दुःखी हैं, उनकी सेवा करनी है। यह अहिंसाका रहस्य है।

(ख) आत्मज्ञानका ध्येय

हिन्दुस्तानके आत्मज्ञानका ध्येय बहुत ही छोटा पड़ गया है। माया-मोह और पाप-पुण्य हो या न हो, जैसी भी परिस्थिति हो, सन्तोषसे रहना है। बाहरी सुख-

दुःखसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। पूछा जाय कि इतना दुःख है, फिर भी शान्ति कैसे ? तो कहते हैं : "ईश्वरकी लीला ही ऐसी है।" यहाँके निवासी मानते हैं कि मुक्ति उनके नजदीक है। एक भाईने मुझे लिखा था कि "कैसी मायामें, कैसे अहंकारमें पड़े हो ? भला ऐसे भी दुनियाका उद्धार होगा ? ऐसे कामको पटक दो !" उनकी गुरु एक स्त्री थी, जिनसे सात साल पहले मेरी मुलाकात हुई थी। वे बहुत शान्त और बड़ी साध्वी थीं। उस भाईने मुझे लिखा : "तुम उस स्त्रीकी शरण जाओ। वह देवता, परादेवता है।" मैंने पूछा : "वहाँ क्या करना होगा ?" उन्होंने लिखा : "पूछते हो ? ऐसा सवाल पूछना ही अज्ञान है, यही अहंकार है। करना-धरना क्या है ? यहाँ आकर बैठ जाओ, परम शान्ति मिलेगी।" कितना सुन्दर पत्र लिखा ! इस प्रकार हिन्दुस्तानके लोग मुक्तिको नजदीक देखते हैं और कहते हैं कि हमें आत्मज्ञान हासिल हो गया। सिर्फ गांधी ही ऐसा आदमी निकला, जो आखिरतक कहता रहा कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ है। जिस प्रकार विज्ञानके सामने असम्भव ध्येय है, उसी प्रकार आत्मज्ञानके सामने भी होना चाहिए। जैसे विज्ञान कुल ब्रह्माण्डपर स्वामित्व चाहता है, वैसे ही हमें भी कुल आत्मशक्तिपर प्रभुत्व हासिल करनेकी चाह रखनी चाहिए।

हमने धर्म-साहित्यका जो कुछ अध्ययन किया है, उसपरसे यही समझ पाये हैं कि अभीतक मानव-समाजको आत्मज्ञानका छोटासा अंश ही हासिल हुआ है। हमारे सामने किसी आदमीको बिच्छू काटता है, तो ज्यादा-से-ज्यादा हममें थोड़ी-सी करुणा पैदा होती है। यदि आत्मज्ञान हुआ हो—'मैं और वह एक है' यह आत्मानुभूति हुई हो, तो उसे जो वेदना हुई, वही हमें भी होनी चाहिए। इसके बजाय अगर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं, शान्त हैं, तो जिसे बिच्छूने काटा है, उसे भी शान्ति और आनंद पहुँचना चाहिए। दोनोंमेंसे एक तो होना ही चाहिए—बिच्छूका डंक हमारे शरीरपर उभर आये या हमारे आनन्द और शान्तिका भाव बिच्छू काटनेवालेके पास पहुँच जाय। अभी हमें इतना व्यापक आत्मज्ञान नहीं हुआ है। एक अंशमात्र हुआ है। इसीलिए हमारे अन्दर थोड़ी-सी करुणा ही पैदा होती है।

कथनी-करनीमें ऐक्य हो

जबतक अन्दरसे यह अनुभूति नहीं होती कि 'हम सब एक ही हैं—भिन्न-भिन्न आकार दीख पड़नेपर भी एक ही वस्तु है', तबतक इस ऊपरी एकतासे कुछ नहीं बनेगा। हम गांधीवाले प्रार्थना करते हैं, उससे भी कुछ लाभ है। उसमें हम कुछ सुधार भी करते रहते हैं। फिर भी उसमें भक्तिसे हृदय द्रवित होनेकी बात नहीं दीखती। हम बीमारोंकी सेवा करते हैं—दुनियामें दूसरी जो सेवाएँ चलती हैं, उनके मुकाबलेमें बहुत अच्छी सेवा करते हैं। किन्तु उसमें भी हमारा एक क्षेत्र बना है। हम क्षेत्रके अनुसार काम करते हैं। हमारी संस्थाएँ इतनी

शुष्क बनती हैं कि उनमें कुछ आत्मतत्त्व ही नहीं होता। मनुष्योंमें तो होता है, लेकिन क्या संस्थाओंमें भी आत्मा होती है? नहीं। नयी तालीम, खादी-ग्रामोद्योग आदिमें सारा ऊपरका 'टेकनिक' ही होता है। नयी तालीमके साथ क्या जोड़ना चाहिए—इसके बारेमें अनुभव भी बताये जाते हैं, किन्तु ज्ञान और कर्मको बिलकुल एकरूप बनानेकी असली बात तो बनती ही नहीं।

दृष्टिमें मौलिकताका अभाव

बापूने हमारे सामने कुछ ऐसी बातें रखी थीं, जो आध्यात्मिक क्षेत्रमें ही रखी जा सकती थीं, दूसरे क्षेत्रमें नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच यमोंके साथ और कुछ चीजोंको जोड़कर उन्होंने एकादश-व्रत हमारे सामने रखे। यह कल्पना नयी नहीं, पुरानी है। लेकिन समाज-सेवाके काममें व्रत जरूरी है, यह बात बापूने ही प्रथम रखी। पहले ये बातें आध्यात्मिक उन्नतिके लिए जरूरी मानी जाती थीं। योगी, साधक आध्यात्मिक विकास करनेके लिए यम-नियमोंका पालन करते थे। पतंजलिने ये ही बातें कही हैं। बुद्ध, महावीर, पार्श्वनाथ आदिने भी इनपर लिखा है। भक्तोंने सारी दुनियामें इनका विकास किया है। परन्तु ये सारी चीजें समाज-सेवाके लिए जरूरी हैं, उनके बिना समाज-सेवा नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त बापूके आश्रममें ही मैंने प्रथम पाया। बापूने हमारे सामने विश्व-हितके लिए अविरोधी भारतकी सेवाका उद्देश्य रखा और उस ध्येयकी सिद्धिके लिए हम एकादश-व्रत मानते हैं, ऐसा कहा। बापूने उसके साथ आश्रमका कार्यक्रम और कर्मकी विविध शाखाएँ भी हमारे सामने रखीं। इस तरह देश-सेवाके एक मूल उद्देश्य (जो विश्व-हितका अविरोधी—विश्व-हितसे जुड़ा हुआ था) के लिए साधकोंकी जीवन-निष्ठाके तौरपर 'आर्टिकल ऑफ फेथ' एकादश-व्रत और उनके लिए दिनचर्या, उनकी पूर्तिके लिए खेती, गोशाला, खादी आदिका पूरा कार्यक्रम बापूने हमारे सामने रखा। इन स्थूल प्रवृत्तियोंमेंसे जितनी हम उठा सकते हैं, उठाते हैं। विश्व-हितके साथ हमारा विरोध न हो, यह चाहते हैं। परन्तु बीचका जो था, वह गायब हो जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि हम सत्य, अहिंसा आदिको मानते ही नहीं हैं। परन्तु वह मूल वस्तु हममें विकसित होती है या नहीं, इसकी तरफ हम ध्यान नहीं देते।

साधनाकी बुनियाद

बापू तथा दूसरोंके भी जीवनमें हम देखते हैं कि उनके सामने कुछ आध्यात्मिक प्रश्न थे। उन प्रश्नोंकी तृप्ति हुए बिना वे आगे नहीं बढ़ते थे। ईसाकी जिन्दगी सिर्फ ३३ सालकी थी और उसमेंसे वे तीन ही साल फिलस्तीनमें, हिन्दुस्तानके दो-तीन जिले जितने दायरेमें घूमे थे, परन्तु आज उनके विचारोंका असर सारी

दुनियापर है। ईसाइयोंकी संस्थाओंकी उतनी कीमत नहीं है, परन्तु ईसामसीह-का जो असर है, उसकी बात कर रहा हूँ। पहले ३० सालतक ईसामसीहने क्या किया, इसका पता नहीं है। कहा जाता है कि वे बढ़ईका काम करते थे। परन्तु उसमें उन्होंने कौन-सी साधना की, सिवा इसके कि उपवास किये और शैतानके साथ उनका मुकाबला हुआ। इससे ज्यादा हमें कुछ भी मालूम नहीं। बात यह है कि कुछ बुनियादी आध्यात्मिक प्रश्न थे, जिन्हें हल करके ही वे निकले। 'लव दाई **एनिमी'** इन शब्दोंमें उन्होंने शत्रुपर प्यार करनेकी जो जोरदार बात कही है, वह बिना अनुभवके नहीं कही जा सकती। इसी तरह बुद्ध भगवान्‌ने यह सवाल उठा लिया कि 'यज्ञमें हिंसा न हो' और वे बिहार और उत्तर प्रदेशके १२-१४ जिलोंमें घूमे—यह तो हम सभी जानते ही हैं। लेकिन जब उन्होंने तपस्या की तो क्या किया, किसीको मालूम नहीं। वे कितने मण्डलोंमें गये, कितने पन्थोंमें गये, ध्यानके कितने प्रकार उन्होंने आजमाये और इन सबके परिणामस्वरूप उनके चित्तको कैसी शान्ति मिली और कैसे यह निर्णय हुआ कि दुनियामे 'मैत्री' और 'करुणा' ये ही दो शब्द हैं—यह सब हम नहीं जानते।

बापूकी आत्म-कथा हम पढ़ते हैं, तो इसकी कुछ थोड़ी-सी झाँकी मिलती है। रायचन्द्रभाईके साथ उनकी जो चर्चा हुई, वह भी हम जानते हैं। लेकिन उनके मनमें आध्यात्मिक शंकाएँ थीं और उनकी निवृत्तिके बिना वे काममें नहीं लगे थे। 'मिस्टिक एक्सपिरियेन्सेस' (आत्मिक अनुभवों) के बिना बापू सेवामें नहीं लगे थे। वे कहते थे कि सत्य ईश्वर है। इसलिए लोग समझते थे कि यह वैज्ञानिक बात है। परन्तु वह सिर्फ वैज्ञानिक बात नहीं।

(ग) चिन्तनमें दोष

हमारे आध्यात्मिक चिन्तनमें एक दोप रह गया है। महापुरुषोंमें कोई दोष नहीं है। उनका विचार समझने और उसे समझाकर बतानेमें दोप रह गया है। बहुतोंकी यह समझ है कि अध्यात्म-ज्ञान पूर्णतातक पहुँच गया है। अब उसमें किसी तरहकी प्रगतिकी गुंजाइश नहीं रही। वेदान्त और सन्तोंके अनुभवोंके बीच हिन्दुस्तानमें अध्यात्म-शास्त्र परिपूर्णताको प्राप्त कर चुका है। लेकिन वैज्ञानिक लोग यही कहते हैं कि विज्ञान कथमपि पूर्ण नहीं हुआ है। वे कहते हैं कि हमारी प्रगति बहुत ही अल्प, सिन्धुमें बिन्दु-सी है। यद्यपि स्पुतनिक छोड़ा गया है और चन्द्रलोकमें उतरनेकी बातें साकार हो रही हैं, मानवको तरह-तरहकी शक्तियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, फिर भी विज्ञानवादी यही कहते हैं कि सृष्टिका ज्ञान अनन्त है और अभी उसका एक छोटा-सा अंश भी हमारे हाथ नहीं लगा है।

जिस तरह विज्ञान बढ़ रहा है, उसमें नयी-नयी खोजें हो रही हैं और भविष्य-में भी होंगी, उसी तरह अध्यात्ममें भी ऐसी ही खोजें होंगी। वह भी बढ़नेवाला

है तथा आगे भी बढ़ता रहेगा। आजतक जो अध्यात्म-विद्या हमारे हाथ लगी है, वह तो अंशमात्र है। इसलिए पुराने लोगोंने जो लिख रखा है, उसे ही बार-बार पढ़ना और उसकी कथाएँ विभिन्न ढंगोसे गाते रहना ठीक नही। जिसमें नये-नये शोध नहीं हुआ करते, वह विद्या कुण्ठित हो जाती है। अध्यात्मके विषयमें हमारे देशमें यही हुआ।

विज्ञानमें भी कुछ दोष हुआ करते है। लेकिन वे अनुभवसे सुधारे जाते हैं। एक जमानेनें वैज्ञानिक यह मानते थे कि सूर्य पृथ्वीके चारो ओर घूमता है, किन्तु बादमें उन्हें अपने इस कथनका दोष ध्यानमें आ गया और उन्होंने आगे चलकर अपनी वे भूलें सुधार लीं। जो भूलें होती हैं, उन्हें सुधारना ही चाहिए। हमें अध्यात्ममें नया ज्ञान प्राप्त करना है, यह तो एक अलग ही बात है। लेकिन पुराना जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसे ही पूर्ण समझ लेना यह एक बड़ी भूल रह गयी है। इसी कारण हमारे महापुरुषोंका सामाजिक जीवनपर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता।

भूलोंका अर्थशास्त्रपर प्रभाव

भूलोंके कारण ही अर्थशास्त्रमें मानवने संकुचित वृत्ति बना ली है। मेरा घर, मेरा खेत, मेरा धन, मेरे घरका भला, मेरे राष्ट्रका भला—इस तरह 'मेरे' से परे वह सोच ही नहीं पाता। आखिर इसका क्या परिणाम होता है? एक व्यक्तिकी सम्पन्नता दूसरे व्यक्तिके लिए बाधक हो सकती है। अगर मैं सम्पन्न होता हूँ, तो उसके विरुद्ध क्या खड़ा हो जाता है? दूसरेकी विपन्नता! इसी तरह दूसरेकी सम्पत्तिमें मेरी विपत्ति भी खड़ी हो सकती है। इस तरह अर्थशास्त्रमें विरोध खड़ा हो गया है। आज प्रगतिशील राष्ट्रीय अर्थशास्त्र किसे कहते हैं? उसका स्वरूप है—दूसरे राष्ट्रका विरोध कर अपने राष्ट्रको सम्पन्न करना।

अध्यात्ममें भी वही भूल

इस भूलके परिणामस्वरूप जिस तरह अर्थशास्त्रमें व्यक्तिमत्ता और संकुचितता जैसे दोष आ जाते हैं, उसी तरह परमार्थमें भी यह दोष घर कर बैठता है। 'मेरा स्वार्थ', 'मेरा सुख' कहनेमें विचार-दोष होता है, दूसरोंसे अलगाव करना होता है। इसी तरह 'मेरी मुक्ति' यह भी आध्यात्मिक व्यक्तिवाद और स्वार्थ-वाद है। यह दोष पुराने जमानेमें भी लोगोंके ध्यानमें आ चुका था और प्रह्लादने नृसिंहके समक्ष स्पष्ट शब्दोंमें कह भी दिया था। वह कहता है कि "बहुधा देव और मुनि अपनी ही मुक्तिकी कामना करते और विजन अरण्यमें मौनादिका आधार ले मुक्तिका आभासभर कर लेते हैं। लेकिन मैं इन दीन जनोंको छोड़ अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।" प्रह्लादकी यह आलोचना आज भी हम लोगोंपर लागू

हो रही है। कारण, अभीतक हमने इसमें कोई सुधार नहीं किया है। 'मेरी मुक्ति' यह कहना 'वदतो-व्याघात' है। 'मैं' का लोप ही मुक्तिका साधन है। अगर इस साधनपर एकका ही आधिपत्य रखते हैं, तो 'मैं' दृढ़ होता है और दूसरे सभी अज्ञानी रह जाते हैं। अगर मैं यह चाहूँ कि मैं ज्ञानी बनूं और अन्य लोग अज्ञानी ही रहें, तो मैं अपने हाथसे मुक्ति खो देता हूँ। 'मैं' मुक्तिका साधन नहीं हो सकता—बल्कि बन्धनका ही साधन होता है, यह बात अभी हम लोगोंके ध्यानमें नहीं आ पायी है।

सिद्धि-प्राप्ति भी एक पूँजीवाद

हमारे देशमें पारमार्थिक साधना करनेवाले हमेशा कहा करते हैं कि 'अहन्ता' और 'ममता' त्याग देनी चाहिए। लेकिन वे उसके अर्थपर ध्यान नहीं देते। महाभारतमें एक पहेली बूझी गयी है—ऐसे कौन शब्द हैं, जिसके दो अक्षरोंसे बन्ध होता है और तीन अक्षरोंसे मुक्ति होती है? 'न मम' से मुक्ति है और 'मम' से बन्ध है। सारांश, 'मैं' मिटे बिना मुक्ति सम्भव नहीं, लेकिन इसके विपरीत यहाँ 'मैं' ही मजबूत किया जाता है। कुछ सिद्धियाँ हस्तगत की जाती हैं, तो वे भी हठसे ही पायी जाती हैं। यह हठ पकड़ना पैसा कमाने जैसा ही है। मानव अपनी सारी बुद्धि खर्च कर डालता है और परिश्रम करता है, परेशानी उठाता है। तब उसे 'श्री' मिलती है और वह 'श्रीमान्' या पूँजीपति बनता है। इसी तरह यह साधक भी एक तरहसे पूँजीपति ही होता है। आखिर इसका मतलब क्या है? लोग उनसे आशीर्वाद माँगते और कहते हैं कि उनके आशीर्वादसे हमारे बाल-बच्चोंका कल्याण हुआ, घर सम्पन्न हुआ, उनका आशीर्वाद हमें फलीभूत हुआ। यानी वह भी स्वार्थ साधना चाहता है और लोग भी अपना स्वार्थ साधनेकी सोचते हैं। फलतः समाज स्वार्थरत होता है।

इस तरह हिन्दुस्तानमें जो परमार्थ-साधना हुई, उसमें सूक्ष्म स्वार्थ भरा हुआ था। इसलिए वह परमार्थकी साधना ही नहीं थी। यह ठीक है कि पैसा कमानेकी साधनासे वह अधिक उच्चकोटिकी रही। दर्जा ऊँचा था, पर जाति दोनोंकी एक ही थी। स्थूल भेद था, पर सूक्ष्म अर्थमें देखा जाय, तो भेद नहीं था। दोनों व्यक्तिगत ही थीं और दोनों अहन्ता और ममताको बढ़ानेवाली ही रहीं।

क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि देशका बड़ा नेता हुआ, तो वह पारमार्थिक दृष्टिसे ऊँचा उठ गया? नहीं, एक साधारण छोटे किसानकी जैसी संकुचित बुद्धि होती है, वैसी ही उसकी भी हो सकती है।. किसानको लगता है कि पड़ोसके खेतकी हाथभर जगह मुझे मिल जाय, तो अच्छा हो और उसके लिए वह प्रयत्नशील रहता है। इसी तरह कोई राष्ट्रनेता भी यदि यह सोचने लगे कि अपने देशकी सीमा थोड़ी-सी बढ़ जाय, दूसरे देशमें पेट्रोल अधिक है, इसलिए

वह भाग हमारे हाथमें आ जाय, तो क्या यह पारमार्थिक विचार होगा ? जिस तरह उस किसानका विचार स्वार्थी है, उसी तरहका स्वार्थी विचार राष्ट्रनेताका भी है। परिमाण अधिक है, पर जाति एक ही है। $\frac{१}{२}$ कहिये या $\frac{१०}{२०}$, उसमें फर्क क्या पड़ता है ? ऊपर और नीचे बड़ा आँकड़ा होनेपर भी मूल्यमें क्या फर्क पड़ता है ?

'मैं' को 'हम' से मिटायें

हिन्दुस्तानकी साधनामें एक बड़ी भूल रह गयी और वह यही कि 'मैं' कैसे मिटाया जाय, इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया। इस 'मैं' को कैसे मिटाया जाय ? इस 'मैं' को 'हम' से मिटाया जाय। वस्तुतः 'मैं' को 'तू' से मिटाना चाहिए। 'तू' याने परमेश्वर। लेकिन परमेश्वर उपलब्ध कहाँ है ? वह दिखायी कहाँ पड़ता है ? फिर भी लोग उसे ही ढूँढ़ने जाते हैं। इसलिए ईश्वर–यह कोटि अव्यक्त ही है। 'मैं' चला जायगा, तब 'तू' आयेगा। लेकिन ऐसी स्थितिमें 'तू' 'मैं' को कैसे मिटा सकता है ? इसलिए यह सारा गड़बड़घोटाला चलता है। इसलिए 'मैं' को 'हम' से मिटाना ही अच्छा होगा। यही युक्ति अच्छी रहेगी। जब 'हमारी साधना', 'हमारी भक्ति' ऐसा बोला जायगा, तभी यह काम आसान होगा। उससे व्यक्ति और समाज दोनोंका एक साथ उत्थान सधेगा। सच्चे अर्थमें वही साधना होगी।

(घ) आध्यात्मिक निष्ठा

आत्मवाद और प्रेतविद्या

बचपनसे ही आत्मविद्यासे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी साहित्य मिलता, मैं पढ़ लेता था। उन दिनों एक पत्रिका निकलती थी—'रिव्यू ऑफ रिव्यूज'। उसके सम्पादकको आत्मवाद (स्पिरिच्युआलिज्म) में रुचि थी; आजकी आत्म-विद्या (स्पिरिच्युआलिटी) में नहीं। आत्मवादका सम्बन्ध मृत्युके बादके जीवनसे अधिक था, इस जीवनसे नहीं। उस पत्रिकामें महान् वैज्ञानिक सर आलिवर लाजका वह पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ था, जो उन्होंने मृत आत्माओंके साथ किया था। चूँकि वह सारा विवरण एक वैज्ञानिकके द्वारा प्रस्तुत किया गया था, इसलिए उसे भ्रम या निर्मूल कहकर टाल नहीं सकते थे, उनका कुछ महत्त्व अवश्य था; लेकिन वह आध्यात्मिक विचार नहीं था, इसलिए मुझे उसका आकर्षण नहीं रहा। मुझे लगा कि जिस प्रकार विज्ञान बाह्य विश्वकी ही खोजमें लगा है, उसी प्रकार यह आत्मवाद दूसरे ही विश्वकी खोज करनेवाला है। दोनोंमें किसीका सम्बन्ध आंतरिक जीवनसे नहीं था और इसीलिए उनमें मेरी रुचि नहीं रही।

कुछ समयके वाद मैंनें देखा कि यह आत्मवाद (स्पिरिच्युआलिज्म) प्रेतविद्यामें (स्पिरिटिज्म) में वदल गया। अंग्रेजीमें अव यह नया शब्द 'स्पिरिच्युआलिटी' चला है। लेकिन यह शब्द भी अक्सर चैतसिक (साइकिक) प्रयोगों और शोधोंमें सम्बद्ध रहता है और इसमें कुछ गूढ़ता और रहस्यात्मकता रहती है।

पाँच आध्यात्मिक निष्ठाएँ

अध्यात्म मूलभूत श्रद्धा है। उसके पाँच अंश प्राय: ध्यानमें आते रहते हैं: निरपेक्ष नैतिक मूल्योंमें श्रद्धा, प्राणिमात्रकी एकता और पवित्रता, जीवनकी मरणोत्तर अखण्डता, कर्म-विपाक और विश्वमें व्यवस्था और वृद्धि।

१. निरपेक्ष नैतिक मूल्योंमें श्रद्धा—एक श्रद्धा तो यह है कि पूरे जीवनके लिए निरपेक्ष नैतिक मूल्योंपर श्रद्धा (फेथ इन दी एब्सोल्यूट मॉरल वैल्यूज) की जरूरत है। इस प्रकारके शाश्वत नैतिक मूल्योंको माननेमें सव तरहसे लाभ है, उन्हें तोड़नेमें सव प्रकारसे हानि है। यह श्रद्धा इसलिए कही जायगी कि आजके युगमें और किसी भी कालमें मानव-मनको निरपेक्ष नीति कभी जँची नहीं। हिंसा कुछ स्थानोंमें अनिवार्य मानी गयी थी, यह तो एक मिसाल है। ऐसे ही जो दूसरे नैतिक मूल्य शाश्वत माने जायेंगे, उनमें अपवाद निकालनेकी जरूरत मनुष्यको मालूम हुई और वुद्धिसे यह सिद्ध करना अशक्य हुआ कि आप सत्यपर अड़े रहिये और आपका गला रेता जा रहा है, फिर आप विजयी हैं। इसीलिए इसमें श्रद्धा रखनेकी वात आती है।

२. प्राणिमात्रकी एकता और पवित्रता—दूसरी श्रद्धा है प्राणिमात्रकी एकता और पवित्रता (युनिटी एण्ड सैंक्टिटी ऑफ लाइफ)। प्राणिमात्रकी एकता और पवित्रताको जीवनमें लाना अशक्य है। जीवनके लिए हम जन्तुओंका संहार करते हैं, असंख्य जन्तुओंका हमसे घात होता है और प्रत्यक्ष आचरणमें ऊँच-नीचका भेद माना जाता है। यद्यपि यह सच है, तथापि यह श्रद्धा होनी चाहिए कि प्राणिमात्र एक है और पवित्र है।

३. जीवनकी मरणोत्तर अखण्डता—अध्यात्म-श्रद्धाका तीसरा विषय यह होगा कि मृत्युके बाद भी जीवन है (कन्टीनिउटी ऑफ लाइफ आफ्टर डेथ)। मृत्युसे जीवन खण्डित नहीं होता। इसे जिस किसी रूपमें रहना हो, यह तफसीलका विषय है, वुद्धिसे उसका निर्णय नहीं होनेवाला है। तफसीलमें विचार-भेद हो सकता है। लेकिन जीवन मृत्युसे खण्डित नहीं होता, उसके वाद भी रहता है—चाहे सूक्ष्म रूपमें रहे या स्थूलमें रहे, निराकार रूपमें रहे या साकार रूपमें, देहधारी रहे या देह-विहीन रूपमें। ये छह भेद हो सकते हैं और होंगे—लेकिन जीवन अखण्ड है। जाहिर है कि यह विषय श्रद्धाका है। वुद्धि कुछ हदतक इसमें काम करेगी और फिर वह टूट जायगी। जहाँ वह टूट जायगी, वहाँ श्रद्धा काम करेगी। इस प्रकार

जिस मनुष्यमें श्रद्धा नहीं है, उसे आगेका ग्रहण नहीं होगा। जहाँतक बुद्धिकी पहुँच है, वहींतक ग्रहण होगा।

४. **कर्म-विपाक**---चौथी श्रद्धा है कर्म-विपाक।

जीवनका इस सृष्टिमें कब प्रवेश हुआ, मालूम नहीं। वह कबतक इस सृष्टिमें रहेगा, यह भी मालूम नहीं। यदि हम यह मानें कि हम पहले नहीं थे और मरनके बाद नही रहेंगे तो कई समस्याएँ खड़ी होंगी। लेकिन सब समस्याओंका उत्तर मिलेगा, यदि हम यह जान जायँ कि हमारा स्वरूप अनादि-अनन्त है।

यदि हम यह मानें कि हमारा स्वरूप अनादि-अनन्त नहीं तो फिर कर्म-विपाक भी कुंठित हो जायगा। हमने जन्म पाया तो बचपनसे ही हमारे कर्मोका क्षय होने लगा। पहले और आगेकी बातें यदि नही मानते तो कर्म और कर्मफलका नियम टूट जाता है।

ईश्वरकी योजना ऐसी है कि बुरे कर्मका फल बुरा होता है और अच्छे कर्मका फल अच्छा होता है। ईश्वरकी शिक्षण देनेकी यह योजना है। इसीको 'कर्म-विपाक' कहते हैं। कर्म-विपाक कहता है कि 'जैसा बोओ, वैसा पाओ।' बबूल बोकर आम नहीं, बबूल ही पाओगे।

हम लोगोंने कर्म-सिद्धान्तको साधारणतः जिस तरह माना है, उसमें काफी गलतफहमियाँ हैं। मेरे कर्मका फल मुझे अवश्य मिलेगा। यहाँ नहीं तो वहाँ, दूसरे जन्ममें मिलेगा, यह कर्म-सिद्धान्त अटल है। किन्तु मेरे कर्मका फल मुझे ही मिलेगा, आपको नहीं और आपके कर्मका फल आपको ही मिलेगा मुझे नही, ऐसा नहीं है। कुछ कर्म मिले-जुले होते हैं तो कुछ व्यक्तिगत। कुटुम्बमें पाँच मनुष्य हैं, उनमेंसे कभी कोई एक गलत काम करता है तो उसका फल शेष चारोंको भी भुगतना पड़ता है।

हाँ, एक बात समझ लेनेकी है। वह यह कि कर्म भुगते बिना समाप्त नहीं होता। किन्तु यह कार्य-कारण नियम ईश्वरको अबाधित रूपसे लागू नहीं करना चाहिए। ईश्वर चाहे तो कर्मको क्षमा कर सकता है। कर्म-सिद्धान्त दण्ड देनेके लिए नहीं है। सजा देना ईश्वरके प्रेमका ही लक्षण है। वह आपको सुधारना चाहता है। उसमें अपवाद हो सकता है। कानूनसे फाँसी होती है तो राष्ट्रपति क्षमा भी कर सकते हैं। हमारे दुराचरणका फल हमें मिलना ही चाहिए, पर ईश्वरकी कृपा हो जाय तो उससे छुटकारा भी हो सकता है। कुछ कर्म सामूहिक होते हैं, ऐसे कर्मोका भोग सामूहिक ही होता है और उनसे छुटकारा भी मिल सकता है।

५. **विश्वमें व्यवस्था और बुद्धि**---पाँचवी श्रद्धा यह है कि विश्वमें व्यवस्था है अर्थात् रचना है, बुद्धि है। 'देअर इज ऐंन आर्डर इन दि यूनिवर्स'---इतना कहनेसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। लेकिन उसे 'ईश्वर' का नाम देनेका आग्रह ईश्वरका अपना नहीं है, तो मेरा भी नहीं है। इसीका अर्थ होता है, परमेश्वरपर श्रद्धा।

व्यवस्था है—इसका अर्थ यह नहीं कि हम-आप जो कुछ करते जाते हैं, वह सारा अपनी योजनासे करते हैं। कुछ दूसरी योजना है, उसीके अनुसार सारा होता है। जेलके आँगनमें घासका एक हिस्सा था, जिसपर लिखा था १९४५ यानी वह १९४५ में कटेगा और फिर वहाँ लिखा जायगा सन् १९४६। यह दृष्टांत देकर मैं समझाता था कि उस घासमें जो तिनका है, उसका अपना प्रयोजन है, लेकिन कुल मिलाकर सब तिनकोंका प्रयोजन १९४५ बनाना है। वे तिनके यह जानते नहीं। तिनका आता है और जाता है, लेकिन सबका मिलकर एक प्रयोजन है कि जेलमें कौन-सा साल चल रहा है, यह दिखाया जाय। इसी तरह हम भी तिनके-जैसे हैं। हम जानते नहीं कि इस सृष्टिमें हमारा क्या प्रयोजन है। हम अपना-अपना प्रयोजन ही देखते हैं, लेकिन कुछ और प्रयोजन है, जिसके लिए सृष्टिकर्ताने हमें पैदा किया है। लेकिन इतना मानना बस होगा और यह पर्याप्त होगा कि विश्वमें एक रचना है, व्यवस्था है और बुद्धि है।

३. आत्मज्ञान और विज्ञान

इसके आगे दुनियामें विज्ञान और अध्यात्म रहेगा, राजनीति और धर्म मिट जायेंगे। पक्षनिष्ठ राजनीति, सत्ताकी राजनीति और स्थानिक राजनीति सब खतम होंगे। खतम होनेके पहले वे बहुत कष्ट देंगे। लेकिन उनको जाना है, क्योंकि विज्ञानके प्रकाशमें वे टिक नहीं सकते। विज्ञान दुनियाको नजदीक ला रहा है। दूसरे ग्रहोंके साथ सम्बन्ध जोड़ रहा है। इस हालतमें पुराने खयाल नहीं रह सकते। एक तो राजनीतिको जाना है और दूसरा छोटे-छोटे धर्म-पन्थोंको जाना है। नाना प्रकारकी उपासनाएँ पुरानी पड़ गयी हैं, वे हृदयको संकुचित बनाती हैं और एक मानवको दूसरे मानवसे तोड़ती ह। ये सब उपासनाए और तन्मूलक कार्य मिटने चाहिए और उसके बाद धर्म-सार आत्म-विद्या पनपेगी। विज्ञान और आत्म-ज्ञान दो टिकेंगे और मनुष्यको जोड़नेका काम आगे चलेगा।

इस विज्ञानके जमानेमें अब सियासतमें कोई ताकत नहीं रह गयी है। इन्सान-के हाथोंमें नये-नये हथियार आ गये हैं। इसलिए अगर फूट और तफरके बढ़ाने-वाली सियासत बढ़ेगी, तो इन्सानका खात्मा होनेवाला है। राजनैतिक पक्षोंवाले यह बात महसूस नहीं करते, यह उनकी जहालत है। असली बात तो यह है कि आज नये-नये हथियारोंकी ईजाद हो रही है और वे हथियार ऐसे खतरनाक हैं कि उनकी बदौलत एक दिन दुनियाका खात्मा होनेकी नौबत भी आ सकती है, अगर हमारे तफरके बढ़ें। इसलिए समझदार लोगोंको चाहिए कि वे सियासतको दूर करें और रूहानियतसे अपने मसले हल करें। मिली-जुली, जोड़ने-वाली सियासत चाहिए। आजतक जो सियासत रही, वह जोड़नेवाली नहीं, तोड़नेवाली ही रही। इसलिए मैं 'सियासत' लफ्ज ही छोड़ देना चाहता हूँ।

जबतक आप रूहानियतका रास्ता न लेकर सियासतका ही रास्ता लेंगे, तबतक आपके मसले हल होनेवाले नहीं हैं। अल्जीरिया, कोरिया, तिब्बत, ताइवान, हिन्दएशिया, कश्मीर—ऐसे कई मसले हैं ! ये सब सियासतके पैदा किये हुए मसले हैं। पुराने मसले कायम हैं और नये भी पैदा हो रहे हैं। इसलिए सियासतसे आपके मसले हल होनेवाले नहीं हैं। मेरी बात पार्टीवालोंमेंसे कुछ लोग समझ रहे थे। वे रूहानियतका नाम लेते थे। रूहानियतका नाम सबको प्यारा है, उनको भी प्यारा था। इसलिए वे कबूल करते थे। लेकिन कबूल करके फिरसे अपना टट्टू पुरानी राहपर ही लाते थे।

आज सभी जगह पार्टीवाली बात चल रही है। नयी-नयी पार्टियाँ बन रही हैं। लेकिन सियासी पार्टियोंसे काम नहीं बनेगा। इसलिए एक ऐसी स्वतन्त्र जमात चाहिए, जो निष्पक्ष होकर जनताकी सेवा करे। आपको मालूम है कि इस समय मैंने अपनी आवाज इस पार्टीवाली सियासतके खिलाफ उठायी है। इसके लिए गाँव-गाँवकी मिली-जुली ताकत खड़ी करनी होगी। हुकूमत विकेन्द्रित करनी होगी, अपनी सारी ताकत रूहानियतकी राहपर लगानी होगी और जज्बा पैदा किये बिना चर्चा करके मसले हल करने होंगे। मैं यह एक नयी चीज समझा रहा हूँ।

पार्टीवाले लोग भी अच्छी और सच्ची नीयतसे खिदमत करना चाहते हैं, लेकिन वे कर नहीं पाते। एक पार्टी खिदमत करने जाती है, तो दूसरी पार्टी उसकी तरफ शक-शुबहकी निगाहसे देखती है। दूसरी पार्टी खिदमत करती है, तो पहली उसकी तरफ शककी निगाहसे देखती है। इस तरह देखनेका नतीजा यह होता है कि जिनकी खिदमत होनी चाहिए, उनकी खिदमत नहीं होती। सरकारसे थोड़ी खिदमत होती है, पर उससे लोगोंकी ताकत नहीं बन पाती। लोगोंकी ताकत नहीं बनती, यह बहुत बड़ी बात है। पश्चिमसे जो सियासत आयी, उसने हमें तोड़ा है। पहलेसे ही यहाँ तफरके, टुकड़े मौजूद थे, पश्चिमी सियासतने और बढ़ा दिये। मजहबके भेद, भाषाके भेद, जातिके भेद—इस प्रकारसे तरह-तरहके भेद मौजूद थे। वे उस सियासतके कारण और भी बढ़े। अलग-अलग पार्टियाँ बनीं। भेदोंमें इजाफा हुआ। एक-एक पार्टीमें महत्त्वाकांक्षी लोग होते हैं। वे भी अपना-अपना गुट बनाते हैं। एक-एक मन्त्रीका अपना एक-एक गुट रहता है। अनेक पार्टियाँ, फिर एक-एक पार्टीके अलग-अलग गुट, गुटके गुट ! नतीजा यह होता है कि देशकी ताकत नहीं बनती।

पाकिस्तानमें अयूबखाँ आये। उसी वक्त एकदम सब पोलिटिकल पार्टियाँ ख़तम हो गयीं। उनके दफ्तरोंपर ताले लग गये ! यानी ताकतके सामने सियासतकी कुछ नहीं चलेगी। 'मॉडर्न मैशिनाइज्ड आर्मी' जिनके हाथमें रहेगी, कुल सियासत उन्हींके हाथमें जायगी। उनके सामने वह खतम भी हो सकती है। जिनके हाथमें लश्करकी ताकत रहेगी, उन्हींके हाथोंमें ये सियासतदाँ भी रहेंगे। इससे

आगे जो लोग रूहानियतकी राहपर चलेंगे, वे उनकी तलवार छीन लेंगे। उनसे तलवार छीननेके लिए इनको अपन हाथमें तलवार उठानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। जिनके हाथोंमें आज तलवार है, उनके दिल और दिमागमें ये रूहा-नियतकी राहपर चलनेवाले लोग बैठेंगे। नतीजा यह होगा कि जिन्होंने अपने हाथोंमें तलवार उठायी है, वे खुद-ब-खुद वह तलवार कारखानोंमें हल बनानेके लिए भेज देंगे।

आनेवाला जमाना मेरा

मेरी यह खुशकिस्मती है कि मेरी भारत-यात्रामें मुझे लश्करवालोंके सामने बोलनेका भी मौका मिला है। इसका कारण यह है कि मैं सियासतसे अलग हूँ। सियासतवाला कोई हो, तो वह लश्करके सामने बोलनेके लिए नहीं जा सकता। वहाँ भी मैंने अपनी रूहानियतके विचार उनके सामने रखे। रूहानियतकी बात उनको भी जँचती है। मैं मायूस नहीं होता। इसलिए कि मैं जानता हूँ कि आनेवाला जमाना मेरा है, आपका नहीं, नेताओंका नहीं।

आज इन सियासतदाँ लोगोंका बड़ा जोर है। लेकिन आप देखेंगे कि एक वक्त ऐसा आयेगा, जब जिन हाथोंने एटम बम बनाया, वे ही हाथ उन बमोंको छोड़ेंगे और लोगोंकी खिदमतमें लगेंगे। जितने लोग सियासतसे अलग रहकर रूहानियतका आसरा लेंगे, पनाह लेंगे, वे लोग विज्ञानके जमानेमें टिकेंगे। विज्ञानके जमानेमें रूहानियत रास्ता दिखलायेगी और विज्ञान रफ्तार बढ़ायेगा।

आप देख रहे हैं कि हर सूबेमें निर्माणका बहुत बड़ा प्रयत्न हो रहा है। लेकिन क्या नया समाज बन रहा है? क्या पुराने दिमागवाले पुराने इन्सानमें कुछ फर्क पड़ रहा है? क्या कुछ नये मूल्य (वैल्यूज) बन रहे हैं? अगर इन सब सवालोंका जवाब 'नहीं' है और आज भी अगर वे ही पुराने झगड़े, फिरकापरस्ती, तंगदिली, छोटे-छोटे जज्बात हैं, तो फिर मकानात, खेती और सड़कोंमें फर्क होनेसे आखिर क्या होगा? वैसे तो सैलाब आये या जलजला हो जाय, तब भी क्या फर्क नहीं पड़ेगा? सब बदला, लेकिन दिल और दिमागमें कोई बदल नहीं हुआ, तो इतना ही होगा कि पुराने जमानेमें जो झगड़े छोटे पैमानेपर होते थे, वे अब विज्ञानकी वजहसे बड़े पैमानेपर होंगे। दिल और दिमागमें फर्क न पड़नेसे इन्सानकी जिन्दगी-में इन्कलाब नहीं आ सकता। रूसमें कम्युनिज्म आया, तो क्या हुआ? जारके हाथमें जो ताकत थी, उससे ख्रुश्चेवके हाथमें क्या कम है? जार गया और स्टालिन आया। अब स्टालिन गया और ख्रुश्चेव आया। इन्कलाब तब होता है, जब प्यारसे दिल बदलता है।

आज सरकार कुछ काम करती है, लेकिन गाँव-गाँवके लोग क्या करते हैं? क्या वे मिल-जुलकर काम करने लगे ह? जमीनकी मालिकी मिटाने लगे हैं?

अपना मन्सूबा बनाने लगे हैं ? अगर यह सब होता है, तो नया इन्सान बनेगा, नहीं तो नयी दुनिया बन जायगी, तब भी नया इन्सान नही बनेगा ! सरकारकी तरफसे जो काम किया जाता है, उससे दुनिया बनती है, लेकिन नया इन्सान नहीं बनता। नया इन्सान बनानेका काम वे करते हैं, जो रूहानी ताकतको पहचानते हैं। माली हालत बदलनेकी बात बाहरकी चीज है। अन्दरकी चीज बदलनी हो, तो रूहानी ताकत चाहिए। नयी राहपर चलकर रूहानी ताकत बढ़ानेकी हमारी यह एक छोटी-सी कोशिश हो रही है।

हर इन्सानमें ताकत पड़ी है। अगर हम ताकतोंको जोडना चाहते हैं, तो जोड़नेवाली तरकीब चाहिए। जोड़नेवाली तरकीब सियासत या मजहब नही, रूहानियत ही हो सकती है। मैंने मजहब और रूहानियतमें जो फर्क किया है, उसे समझनेकी जरूरत है। मजहब पचास हो सकते है, लेकिन रूहानियत एक ही है। मजहब, सियासत, भाषाएँ चन्द लोगोंको इकट्ठा करती है और चन्द लोगोंको अलग करती हैं। लेकिन रूहानियत कुल इन्सानोंको एक बनायेगी।

४. सामूहिक साधना

आज विज्ञान आध्यात्मिक चिन्तनकी जबरदस्ती कर रहा है। वह कह रहा है कि पुराने ऋषि व्यक्तिगत साधना करते थे, अब तुम सामूहिक साधना करो। यह विज्ञान तभी तुम्हारे लिए कल्याणकारी होगा, अन्यथा तुम्हारा नाश करेगा। विज्ञानकी भूमिकापर जानेवाला ऋषि क्या करता था ? 'मैं' और 'मेरा' छोड़ देता था। वह वेदान्त बोलता था : "यह घर मेरा नहीं, यह खेत मेरा नहीं, यह शरीर मेरा नहीं।" इसी तरह अब हम सब लोगोंको कहना होगा कि "यह घर, यह सम्पत्ति, यह खत मेरा नही, सबका है।" विज्ञानके जमानेमें यह अनिवार्यतः करना ही होगा। आपके सामने दो ही पर्याय हैं--सामूहिक साधना या सर्वनाश। दोनोंमेंसे एक चुन लें--या तो आध्यात्मिक साधना कर पृथ्वीपर स्वर्ग उतारें या पृथ्वीके साथ स्वयं और स्वयंके साथ पृथ्वीको लेकर खतम हो जायँ।

आज सारे मानव-समाजको भगवान् समझकर उसकी पूजाका नाटक करना होगा। पहले हम नाटक करेंगे, तो धीरे-धीरे वह पूरी तरह सध जायगा। हमने ग्रामदानका नाटक शुरू किया है। लोग पूछते है कि क्या ग्रामदानी गाँवके लोगोंने जमीनकी आसक्ति छोड़ दी ? क्या वे इतने वैराग्यवान् बन गये ? क्या वे जितने प्रेमसे अपने लड़कोंकी ओर देखते है, उतने ही प्रेमसे गाँवके सब लडकोंकी ओर देखते हैं ? आखिर एक क्षणमें यह सब कैसे हो गया ? हम कहते हैं कि उन्होंने ग्रामदान दिया, याने एक नाटक किया है। विज्ञानका कहना है कि यह नाटक इस जमानेके लिए बहुत जरूरी है। धीरे-धीरे इस नाटकको वही विज्ञान यथार्थमें भी ला देगा।

ब्रह्म-विद्या सर्व-सुलभ हो

श्री रामानुजाचार्यकी कहानी सभी जानते होंगे। उन्होंने अपने गुरुके मन्त्रको जग-जाहिर करनेके लिए खुद नरक भोगना स्वीकार किया और देशभर घूमकर उसका खुला उपदेश दिया। तब हमारे यहाँ ब्रह्मविद्या गुप्त रखनेकी धारणा प्रचलित थी। वह गलत थी, यह मैं नहीं कहता। उसमें भी कुछ सार था। ब्रह्म-विद्या बाजारमें बेचनेके लिए लानेपर उसका कुछ मूल्य नहीं रहेगा, इसलिए उसे गुप्त रखनेमें ही मिठास है। लेकिन उसे प्रकट करनेकी मिटास भी निराली है। महाराष्ट्रमें ज्ञानदेवने महान् पराक्रम किया, रामानुज और चैतन्यने देशभरमें किया। वे जहाँ-जहाँ भी गये, ज्ञान ही बाँटते गये। स्त्रियों, नन्हें बच्चों और साधारण जनता–सबको ज्ञान बाँटते गये। इसीलिए ऐसी आम भावना है कि चैतन्य भगवान् कृष्णके अवतार हैं, क्योंकि उनमें प्रेम साकार उतरा हुआ था। मैं कहना यह चाहता हूँ कि यह जो प्रेमका धर्म सन्तोंने हमें दिखलाया, हमें अब उसे ही आगे बढ़ाना है। यह उस कालमें जिन मर्यादाओंसे बँध गया था, वे आज नहीं रहीं। इसीलिए आज हम दो कदम आगे बढ़ सकेंगे—सन्तों द्वारा सिखलाये ज्ञानको पहचानेंगे, उसे नया रूप देंगे और सारी दुनियाके सामने रखेंगे। यह इच्छा इस युगके अनुरूप ही है। अब वैदिक धर्मको नया रूप प्राप्त होनेवाला है।

भक्तिका सर्वोदयमें रूपान्तरण

अब भक्तिका रूपान्तर सर्वोदयमें होगा। **'समं सर्वेषु भूतेषु'** इस भक्तिको अब 'परा भक्ति' नहीं रखना है, 'सामान्या भक्ति' बनाना है। पहले किसी एकको ही समाधिमें यह अनुभव होता था कि 'भूतमात्र मेरे सखा हैं, सारे भेद मिथ्या हैं, ये मिटने चाहिए।' किन्तु आज यही अनुभव सबको होना चाहिए। दूसरे शब्दोंमें, आज सामाजिक समाधि सधनी चाहिए। परमात्मा मेरे मुँहसे बहुत बड़ी बातें कहलवा रहा है। बंगालकी यात्रामें मैं एक ऐसी जगह पहुँचा था, जहाँ रामकृष्ण परमहंसको पहली समाधि लगी थी। तालाबके किनारे उसी जगह बैठकर मैंने कहा था कि 'रामकृष्णको जो समाधि लगी थी, उसे अब हमें सामाजिक बनाना है।'

वास्तवमें मोक्ष अकेले पानेकी वस्तु नहीं है। जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियानेकी वस्तु है, वह उसके हाथसे निकल जाता है। 'मैं' के आते ही 'मोक्ष' भाग जाता है। 'मेरा मोक्ष' यह वाक्य ही व्याहत है, गलत है। 'मेरा' मिटनेपर ही मोक्ष मिलता है। यह विषय हम सबके लिए चिन्तन और आचरण करनेके लिए भी है। मुख्य बात यह ध्यानमें रखनी चाहिए कि अबसे हमें अपना जीवन बदलना होगा। इसे दृष्टिमें रखते हुए जीवनके आर्थिक, सामाजिक आदि नाना भेदोंको हम नष्ट कर दें।

मध्ययुगमें तुलसी, चैतन्य, शंकर देव, तुकाराम आदि भक्तिमार्गी लोगोंने मुक्तिकी कल्पनामें संशोधन किया। उन्होंने माना कि देह-मुक्ति ही कोई मुक्ति नहीं है, अहंकार-मुक्ति ही मुक्ति है।

यह बात सब भक्तोंने उठा ली और कहा कि हम जनताकी सेवा करेंगे, हम भक्तिका प्रचार करेंगे। यही भाषा रामकृष्णके शिष्योंने प्रयुक्त की है। **'आत्मनो हिताय जगतः सुखाय च।'**—अपनी आत्माके हितके लिए और जनताके सुखके लिए, ये दो शब्द ध्यानमें रखने योग्य हैं। उन्होंने अपने सुखकी बात नहीं की, अपने हित और जगके सुखकी बात की है।

हित और सुखका विवेक

इसमें एक द्वैत रह जाता है कि हम अपना हित सोचनेके साथ जनताके सुखका भी विचार करेंगे। अगर अपना हित सोचेंगे, तो जनताका हित क्यों नही सोचेंगे? इसलिए कि किसीकी इच्छाके विरुद्ध हम उसपर हित लाद नहीं सकते। मैं अगर वैराग्यको अच्छा मानता हूँ, तो मैं अपने लिए साधना करूँ, लेकिन दूसरा दुःख-मुक्ति चाहता है, तो उसमें मुझे मदद करनी होगी। यह साधककी मर्यादा है। वह अपना हित सोचेगा, लेकिन दुनियाके सुखकी चिन्ता करेगा। भक्तोंने कहा कि हम मुक्ति छोड़कर भक्तिमें लग जायेंगे, वही जनताको सिखायेंगे और जनताके लिए जियेंगे। ये लोग कहते हैं कि हम **'आत्मनो हिताय'** की प्रवृत्ति करेंगे, जिसमें जगत्के सुखकी कल्पना होगी।

एक बार मुक्ति छोड़कर भक्तिमें आ गये और फिर जनताभिमुख हो गये। इसलिए अब जनतापर भक्ति न लादकर उसकी सेवा करना चाहते हैं, उसका दुःख-निवारण-हेतु अस्पताल वगैरह चलाते हैं। उन्होंने मुक्तिका ख्याल नहीं छोड़ दिया है, लेकिन **'आत्मनो हिताय'** भक्ति माना और लोगोंके सुखके लिए सेवा माना।

सामाजिक समाधि

आज हम जिस भक्तिकी चर्चा कर रहे हैं, उसमें द्वैत नहीं है। जनताका सुख और हमारा हित ऐसा भेद नहीं है। हम अपने लिए जो समाधि चाहते हैं, वही समाधि जनताको प्राप्त होनी चाहिए। इसलिए हमने एक विलक्षण शब्दका प्रयोग किया है—'सामाजिक समाधि'।

यह सामाजिक समाधि क्या है? जबतक मनुष्य अपने चित्तमें फँसा रहता है, तबतक वह दूसरेको अपनेसे अलग ही रखता है, क्योंकि हरएकका अपना-अपना चित्त है। दुनियामें तीन सौ करोड़ चित्त हैं। अगर हम इस चित्तकी भूमिकापर काम करेंगे (फिर वह चाहे समाजके हितका विचार हो या अपने चित्तका) तो वह

कुल मिलाकर मनका विचार, वासनाओंका विचार होगा। जबतक हम इस भूमिका-पर काम करेंगे, तबतक मनुष्यका समाधान नहीं होगा।

अब आनेवाला युग विज्ञानका है। उपनिषदोंने समझाया है : '**अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानात्**' और इसके बाद कहा है: '**विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।**' इसमें उपनिषदोंने एक इतिहास बताया है। पहले अन्न ब्रह्म था, फिर प्राण ब्रह्म था, उसके बाद मन ब्रह्म था। इसके भी आगे विज्ञान ब्रह्म होगा। विज्ञान-युगमें व्यक्तिगत या सामाजिक मनका विचार नहीं होगा। उसमें मनका छेद (नाश) हो जायगा। लोग अगर मनकी भूमिकामें सोचते रहेंगे, तो मनके साथ मनकी टक्कर होगी और अन्योन्य विरोध रहेगा, फिर वह मन चाहे जातिका हो, भाषाका हो, उपासना-पन्थोंका हो, धर्मका हो या राष्ट्रका हो। जबतक हम मनकी भूमिकासे ऊपर नहीं उठेंगे, तबतक विज्ञान-के लायक नहीं बन सकेंगे।

उपनिषद्ने समाजका ऐतिहासिक विकास-क्रम दिखाते हुए यही कहा कि प्रारम्भमें सारा मानव-विकास अन्नमय भूमिकामें रहा, फिर प्राण-भूमिकामें आया। जानवरोंसे अपनी रक्षा करनी थी, इसलिए प्राणमय भूमिकामें आना पड़ा था और बादमें समाज मानसिक भूमिकामें आ गया। अब उसके आगे विज्ञान-की भूमिकामें आ रहा है।

आज मनुष्यके सामने प्रश्न है कि वह समत्व-बुद्धिसे सोचेगा या नहीं। अब हम मनके मुताबिक सोचते नहीं रह सकते। यह गा नहीं सकते कि '**सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा**'। सारे संसारमें हमें भारत अच्छा लगता है, क्योंकि वह हमारा है—ये सब छोटे अभिमान अब हमें छोड़ने होंगे। दवा कितनी भी कड़वी क्यों न लगती हो, तो भी उसे लेना ही पड़ेगा; क्योंकि यह विज्ञान है। समाधिका अर्थ है समत्वयुक्त चित्त। जिस चित्तमें विकारका स्पर्श नहीं, अहंता-ममता नहीं, संकुचित भाव नहीं, इस प्रकार जो विज्ञानमय चित्त होगा, उसका नाम है 'समाधि'। सारा समाज ऐसी समाधि पाये अथवा नष्ट हो जाय—ऐसा सवाल आज विज्ञानने उप-स्थित किया है।

ईश्वरकी अनुभूति इस देहमें, इस बुद्धिद्वारा पूरीकी पूरी हो जायगी, यह खयाल ही भ्रान्त है। उसके एक अंगकी अनुभूति आपको आयेगी। उससे आपका समाधान होगा, तो आपका काम भी होगा।

ईश्वरकी पूर्ण अनुभूति ईश्वरको ही है। दूसरे धर्मोंके अनुभवका भी लाभ लेना चाहिए। उससे अपूर्ण पूर्ण होगा। सोचना चाहिए कि ईश्वरी ज्ञानका एक अंश इस्लाममें आ गया। बहुत अच्छा अंश है। लेकिन एक दूसरा भी अंश है, जो हिन्दू-धर्ममें पड़ा है, एक तीसरा भी है, जो क्रिश्चियन धर्ममें पड़ा है और

दूसरे एक-एक धर्ममें भी भिन्न-भिन्न अनुभव है। इसलिए हर धर्मके ज्ञान-अंशका लाभ लेना होगा।

साम्ययोग : पहले शिखर, अब नींव

विज्ञानके युगमें साम्ययोग भी सिर्फ समाधिमें अनुभव करनेकी चीज नहीं रही, बल्कि सारे समाजमें अनुभव करनेकी बात बन गयी है। साम्ययोग पहले 'शिखर' था, पर अब 'नींव' बन गया है। अब हमें साम्ययोगके आधारपर अपना जीवन खड़ा करना होगा। यही विज्ञान-युगकी माँग और आवश्यकता है। इसी-लिए आज हम जैसे साधारण लोगोंको भी ऐसे काम करनेकी प्रेरणा हो रही है।

५. समन्वय

(क) समन्वयकी शक्ति

भारतकी अपनी एक सभ्यता है। उसके पीछे हजारों वर्षोंका इतिहास है। वेद, उपनिषद्, गीता, गुरु-वाणी आदिके जरिये यहाँ एक सद्‌विचारकी अक्षुण्ण परम्परा चालू रही है। उसने यहाँकी हवामें एकताकी भावना उत्पन्न की है। हम उन्हीं विचारोंका सम्बल पाकर आज भी गाते हैं : **'ना कोई बैरी, नाहीं बिगाना, सकल संगी हमको बनि आई।'** यहाँ लोग चाहे झगड़ते रहें, लेकिन सबके दिलोंमें एकताकी ख्वाहिश है। गुरु नानकने यही बात कही है : **'आई पंथी सकल समाजी।'** आओ, इस पन्थमें आ जाओ। हम सब एक ही समाजके हैं।

टूटे हुए दिलोंको जोड़नेकी प्रक्रिया हिन्दुस्तानमें बराबर जारी है। हमने भूदान, ग्रामदान भी इसीलिए चलाया है कि लोगोंके टूटे दिल जुड़ जायँ। दिल टूटनेके कई कारण होते हैं। धार्मिक झगड़ोंसे दिल टूटते हैं, भाषायी झगड़ोंसे दिल टूटते हैं और जमातोंके झगड़ोंसे भी दिल टूटते हैं। आर्थिक संकट आनेसे भी जुड़े दिलोंका सदाके लिए बिलगाव हो जाता है। इसलिए इन सारे कारणोंको मिटाने-के लिए हम चाहते हैं कि आजके गाँव ग्राम-स्वराज्यमें परिवर्तित हो जायँ। ग्राम-स्वराज्य दिल जोड़नेकी एक तरकीब है।

तीन ताकतें

मैंने जाहिर किया है कि इन्सानके लिए जो ताकतें मददगार हो सकती हैं, उनमें सबसे बड़ी ताकत है : विश्वास। यदि आप चाहते हैं कि सर्वत्र शान्ति हो, सुख हो, समृद्धि हो, कहीं कोई कष्ट न पाये, कभी किसीको परेशान न होना पड़े, तो वेदान्त (आत्मज्ञान), विज्ञान और विश्वास, इन तीनोंको अपनाने-

की जरूरत है। बाबाके पास यही जादू है कि वह सबपर विश्वास रखता है। जैसे हिंसामें शस्त्र तीव्रसे तीव्रतम हो जाते हैं, वैसे ही अहिंसामें सौम्यसे सौम्यतम होते हैं। सर्वोदयकी पद्धतिमें दूसरोंपर विश्वास रखना ही बहुत बड़ा शस्त्र है।

विश्वास इस संसारका सबसे अद्‌भुत जादू है। विश्वासपर ही यह 'सारा संसार खड़ा है। यदि विश्वासकी शक्ति न रहे, तो मानव-जाति एक-दूसरेसे लड़-लड़कर समाप्त हो जायगी। एक चोरको भी अपने साथी चोरपर विश्वास करना पड़ता है। यदि हम इस विश्वासपर विश्वास करके उसकी शक्तिको पहचान सकें और तदनुसार बरत सकें, तो दुनियाके झगड़े मिटनेमें देर न लगेगी। आजकी दुनियाके झगड़ोंका सबसे बड़ा कारण अविश्वास है। हमें यही अविश्वास मिटाना है। हम एक पत्थर लेते हैं और मन्त्र बोलकर उसे भगवान् बना देते हैं। भगवान्‌ने हमें बनाया, पर हम भावनासे अभिषिक्त कर पत्थरको ही भगवान् बना देते हैं। बच्चा माँपर विश्वास रखता है, इसलिए माँ बच्चेका खून नहीं कर सकती। विश्वास इस जमानेकी शक्ति है। लोग मेरे शब्दोंपर विश्वास रखते हैं। नहीं तो उनके पास क्या सबूत है कि मैं झूठ नहीं बोलता। किन्तु लोगोंका मुझपर विश्वास है कि मैं झूठ नहीं बोलता और मैं भी उनपर विश्वास रखता हूँ। विश्वास ही मेरा जादू है। इसकी शक्ति महान् है।

विश्वास-शक्ति

तीसरी शक्ति 'विश्वास-शक्ति' है। विज्ञान-युगमें राजनीतिक, सामाजिक योजनाओं और समाज-शास्त्रमें इसकी बहुत जरूरत है। हममें जितनी विश्वास-शक्ति होगी, उतने ही हम इस युगके अनुरूप बनेंगे। किन्तु इन दिनों बहुत ही अविश्वास दीखता है, खासकर राजनीतिक, धार्मिक और पान्थिक क्षेत्रमें। यह पुराना चला आ रहा है, फिर भी टिकनेवाला नहीं है। अगर हम टिकाना चाहें, तो भी न टिकेगा। राजनीतिमें अविश्वासको एक बल माना जाता है। उसे 'सावधानता' का लक्षण माना जाता है। लेकिन मैं मानता हूँ कि जिस क्षण मनमें यत्किंचित् भी अविश्वास पैदा हो, वह क्षण हमारे लिए असावधानताका है। पूर्ण विश्वासके बिना राजनीति सुधर नहीं सकती। राष्ट्रोंमें झगड़े बढ़ेंगे, पान्थिक झगड़े बढ़ेंगे और विज्ञान-युगमें उसका परिणाम बहुत खतरनाक होगा।

इसलिए वेदान्त और विज्ञानके साथ मैंने विश्वासको भी जोड़ दिया है। मैं आजकल इन्हीं तीनों तत्त्वोंकी उपासना करता हूँ। मैंने संस्कृतमें एक श्लोक बनाया है, जो इन दिनों मेरे जपका मन्त्र बन गया है। वह इस प्रकार है:

> वेदान्तो विज्ञानं विश्वासश्चेति शक्तयस्तिस्रः।।
> यासां स्थैर्ये नित्यं शान्तिसमृद्धी भविष्यतो जगति।

यानी वेदान्त, विज्ञान और विश्वास ये तीन शक्तियाँ हैं। इन तीनोंके स्थैर्यसे दुनियामें शान्ति और समृद्धि होगी। आज दुनियाको शांति और समृद्धिकी जरूरत है। वह वेदान्त. विज्ञान और विश्वाससे ही हो सकेगी।

'वेदान्त' यानी वेदका अन्त, वेद का खात्मा। वेद यानी सब प्रकारके काल्पनिक धर्म। दुनियामें जितने धर्म हैं, उन सबका अन्त ही 'वेदान्त' है। इसलिए उसमें इस्लामान्त, जैनान्त, बौद्धान्त, सिखान्त, क्रिस्तान्त, इन सबका अन्त आ जाता है। सत्यकी खोज, सत्यकी पहचान और सत्यको मानना ही 'वेदान्त' है। 'विज्ञान' यानी सृष्टि-तत्त्वकी खोज। अगर हमारा शारीरिक जीवन उसके अनुकूल बने, तो सम्पूर्ण स्वास्थ्यकी उपलब्धि होगी। जबतक यह नहीं होता, तबतक सृष्टि-विज्ञान-तत्त्वका चिन्तन कर उसके अनुसार हम अपना जीवन नहीं बना सकेंगे। इसलिए विज्ञान और परस्पर विश्वास होना चाहिए।

(ख) समन्वयकी योजना

हिन्दुस्तानमें आजादीके बाद जो कुछ हमने छोटा-बड़ा काम किया, उसका असर दुनियापर कुछ-न-कुछ तो हुआ ही। हम किसी गुटमें शामिल नहीं होते, अपनी स्वतन्त्र हस्ती और विचार रखते हैं—इसकी कद्र सारी दुनिया करती है।

भारतमें भूदान-ग्रामदानका जो काम चला है, उससे भी दुनियाके लोगोंको लगता है कि इस काममें कुछ ऐसी चीज है, जिससे आजकी देश-देशकी समस्याएँ हल करनेका मार्ग खुल जायगा। इसीलिए हमारी यात्रामें बीच-बीचमें यूरोप, अमेरिका, एशिया आदि मुल्कोंके कई लोग आते हैं। वे हमारे साथ घूमते हैं, अपने-अपने देशोंमें जाकर ग्रन्थ तथा लेख लिखते हैं और आशा रखते हैं कि दुनियामें शान्ति-स्थापनाके लिए इसमेंसे कुछ तथ्य अवश्य निकलेगा।

अब दुनिया और हमारे बीच कोई पर्दा नहीं रहा। यहाँके अच्छे काम दुनियामें फैलेंगे और उनका दुनियापर असर होगा। बुरे कामका भी दुनियापर असर होगा। अब हमारे अच्छे-बुरे काम सीमित नहीं रह सकते, बल्कि दुनियाके बाजारमें उपस्थित किये जायेंगे। इसलिए हम कदम-कदमपर सोचें और ऐसा काम करें, जिससे औरोंको भी यह मालूम पड़े कि भारतकी ताकत एक काममें जुट गयी है। यहाँकी लगभग ३७ करोड़ लोगोंकी जमात अपने देशका वैभव बढ़ाने और कुल दुनियाकी सेवा करनेके लिए शान्ति और स्वतन्त्रताके स्थापनार्थ अग्रसर हो रही है।

महाराज अशोकने अपने जमानेमें भगवान् बुद्धके धर्म-चक्र-प्रवर्तनका काम हाथमें लिया। वह तो सीमित रहा, क्योंकि उस जमानेमें विज्ञान नहीं था। लेकिन विज्ञानने आज प्रचारका दरवाजा खोल दिया है। विचारका संचार फौरन् दुनियामें हो जाता है। इसीलिए कहना पड़ता है कि अशोकके जमानेमें भी जो

मौका हिन्दुस्तानको नहीं मिला, वह आज मिला है। इसलिए अब आप कोई ऐसा ठोस कदम उठायें, जिससे दुनियाको मार्ग मिले।

विश्व-नागरिकता

पहले कन्याकुमारीमें समुद्रके किनारे बैठकर हमने प्रतिज्ञा की थी कि "जबतक भारतमें ग्राम-स्वराज्यकी स्थापना नहीं होगी, तबतक हम घूमते ही रहेंगे।" यही प्रतिज्ञा हमने 'पीरपंचाल' के बर्फपर ध्यानस्थ बैठकर दुहरायी थी। विचार हवामें फैल गया है। हिन्दुस्तानको ग्राम-स्वराज्यकी दिशामें जाना होगा और वह जायगा। राज्योंकी तरफसे आज कोशिश हो रही है कि ग्रामोंको अधिकार मिले। उन कोशिशोंमें बहुत ढील है। उसमें कई नुक्स हैं, फिर भी दिशा ठीक है। वह सारा विचार सुधारना होगा, फिर देशमें एक हवा बन जायगी। फिर ग्रामदान, भूदान, सर्वोदय, ग्राम-स्वराज्य आदिका विचार गाँव-गाँव पहुँचाया जायगा और हिन्दुस्तानमें ग्राम-स्वराज्य होगा, इसमें कोई शक नहीं है। इसमें हम अपना अधिक-से-अधिक पुरुषार्थ, जितना खर्च कर सकते हैं, करनेकी निरन्तर कोशिश करें।

इस समग्र कार्यकी बुनियाद आध्यात्मिक और नैतिक है। आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंकी स्थापना किये बिना सर्वोदय-विचार प्रतिष्ठित नहीं होगा। वैसे उन मूल्योंको चिन्तन करनेवाले पहलेके ऋषि मानते थे, लेकिन समाजने उनको नहीं माना। हम उन मूल्योंकी स्थापना करना चाहते हैं। उसमें जितना हृदय-प्रवेश और हृदय-परिचय कर सकते हैं, करेंगे। हृदय-प्रवेशकी एक प्रक्रिया होती है, जिसका हमें ज्ञान है। फिर भी वह कितनी सधेगी, हम नहीं कह सकते। प्रक्रिया यह है कि निज देह-बन्धन ढीला पड़े। हम देहके बन्धनमें बँधे हुए हैं, वह ढीला पड़े बिना हृदय-प्रवेश नामुमकिन है। हमारी कोशिश यह रहेगी कि वह बन्धन, जिसमें इस शरीरके साथ जीवात्मा जकड़ा हुआ है, वह छूटे, ढीला पड़े। हम यह कोशिश करते रहेंगे, तो सहज ही बाहरी बहुत सारी चीजोंको हम छोड़ देंगे। अब हम स्थूल विचार लोगोंपर छोड़ेंगे और मूलभूत बुनियादी विचार ही रखते जायेंगे। बाकी जितना करना है, लोग ही करेंगे। हम सिर्फ समझा देंगे, उससे ज्यादा कुछ नहीं करेंगे। इसीसे देशकी ताकत बनेगी।

अब तो इधर विश्व रहेगा और उधर मानव। बीचकी सब कड़ियाँ ढीली होनेवाली हैं। एक ग्रामको समूह मानकर मानव उसमें अपना सब-कुछ समर्पण करेगा, समाजको सारा दान देगा, लेकिन उसका अपना विचार स्वतंत्र रहेगा। स्वतंत्र मानव और विश्व, इन दोनोंके बीच जकड़नेवाली कोई कड़ी विज्ञान सहन नहीं करेगा। आजतक जातियोंने, विधि-विधानोंने मानवको बहिष्कार आदिसे जकड़ रखा था। अनेक धर्म-पन्थोंने मानवको नाना उपासनाओंमें

जकड़ रखा था। अनेक पुस्तकोंने अपना भार सिरपर डालकर मानवको जकड़ रखा था।

अध्यात्म-विद्या और विज्ञानकी एकवाक्यता

अध्यात्म-विद्या इन सबके खिलाफ पहलेसे ही खड़ी थी। लेकिन अब विज्ञान भी इनके खिलाफ बोल रहा है। जाति, धर्म, पन्थ, राष्ट्र——ये सारे काल्पनिक भेद छोड़ो,—यह बात वेदान्त पहलेसे ही कहता आया है। चन्द लोग इसे सुनते थे और बहुत थोड़े लोगोंके दिमागमें वह बात पैठती थी। अब ये विचार बहुत दूरके नहीं रहे हैं। इनके बिना हमारा चल जायगा, हमारे जीवनके लिए उनकी जरूरत नहीं है, ऐसी परिस्थिति अब नहीं रही। अबतक हम इन विचारोंको ऊँचे ताकपर रखते थे और छोड़ देते थे। लेकिन अब जाति, पन्थ, राष्ट्र आदि भेदोंको छोड़नेकी वही बात विज्ञान बोल रहा है। इस तरह एक बाजूसे विज्ञान और दूसरी बाजूसे वेदान्त, ब्रह्म-विद्या, दोनों एक ही चीज कह रही हैं और उन भेदोंपर प्रहार कर रही हैं। इसलिए समझना चाहिए कि सियासी और मजहबी लोगों-ने अबतक अपने जो कुछ फिरके बनाये हैं, वे आखिरी साँस ले रहे हैं। इसके बाद उन्हें खतम होना है।

हम भी आणविक अस्त्रों के खिलाफ हैं। लेकिन हमने कहा है कि हमें विश्व-युद्धका कोई डर नहीं है। हम विश्व-युद्धसे कहते हैं कि तू आना चाहे तो जल्दी आ जा। मुझे तेरा डर नहीं है। मुझे तो डर इन छोटे-छोटे शस्त्रास्त्रोंका है। लाठी, कृपाण, बन्दूक, तलवार——ये सारे भयानक शस्त्र हैं। ये खतम होने चाहिए। इन्हींके कारण दुनियामें अशान्ति और भय पैदा होता है। 'विश्व-युद्ध' मानव नहीं लाता है। वह तो दैवी होता है। जब परमेश्वर चाहता है कि संहार हो, तब वह मानवोंको प्रेरणा देता है। उस हालतमें मेरे जैसेकी क्या मजाल रहेगी कि मैं अहिंसाकी बात करूँ! हम 'विश्व-युद्ध' से डरते नहीं हैं। हम समझते है कि 'वह' अहिंसाके बिलकुल नजदीक है। जैसे वर्तुलके दो सिरे बिलकुल नजदीक होते हैं, वैसे ही 'विश्व-युद्ध' और 'अहिंसा' बिलकुल नजदीक हैं। यह समझनेकी जरूरत है। 'विश्व-युद्ध' खतम होनेपर 'अहिंसा' को ही जगह मिलनेवाली है।

सर्वोदयमें समन्वय

'अहिंसात्मक' और 'सहयोगी' ये दोनों पद्धतियाँ हमारे सर्वोदयके कार्यमें जुट जाती हैं। अहिंसात्मक पद्धति आत्माकी एकताके अनुभवपर आधृत है। वह आध्यात्मिक विचार है, और सहयोगी पद्धति विज्ञानपर आधृत है। इस तरह आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनोंका योग सर्वोदयमें हुआ है। इसीलिए यह नेताओंको मान्य हुआ। सर्वोदयका विचार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक, दोनों

दृष्टियाँ मिलकर बनता है। कुछ लोग समझते हैं कि 'सर्वोदय' का अर्थ दकियानूस है, किसी तरहके वैज्ञानिक शोधोंकी कीमत ही नहीं समझते, मिलकी अपेक्षा चरखेको पसन्द करेंगे, चरखेकी अपेक्षा तकलीको पसन्द करेंगे, लोहेकी तकलीकी अपेक्षा लकड़ीकी तकलीको पसन्द करेंगे। और अगर कोई उससे भी आगे बढ़कर हाथसे ही सूत काते, तो उसे वे सबसे अधिक पसन्द करेंगे। सर्वोदयकी आध्यात्मिकताके विषयमें तो किसीको शक नहीं था, किन्तु इसकी वैज्ञानिकताके बारेमें सन्देह अवश्य था। अब दोनों विषयोंमें निस्सन्दिग्धता हो गयी और हमें द्विविध आशीर्वाद मिले ह।

वैज्ञानिकताके अभावमें अहिंसात्मक आध्यात्मिक योजना कैसे होगी, इसके लिए हम एक मिसाल देते हैं। चीनमें लाओत्से नामक एक दार्शनिक हो गये हैं। उन्होंने आदर्श ग्रामकी कल्पना बतायी है कि ऐसे ग्राममें चीजोंमें स्वावलम्बन होता है, बाहरसे कोई भी चीज लानेकी जरूरत नहीं पड़ती। गाँववाले गाँवसे सभी प्रकारसे परितुष्ट रहते हैं। लेकिन रातमें दूरसे उन्हें कुत्तोंकी आवाज सुनायी देती है, इसलिए वे अनुमान करते हैं कि नजदीकमें जरूर ही कोई गाँव होना चाहिए। यही है वैज्ञानिकताके अभावमें अहिंसात्मक योजना। इसमें कोई गाँव किसी गाँवकी हिंसा नहीं करता। एक गाँववाले दूसरे गाँववालोंसे मिलने नहीं जाते। सम्पर्ककी कोई जरूरत ही नहीं मानते। जब हम सर्वोदयकी बात कहते थ, यहाँके नेता समझते थे कि ये लोग बहुत करके लाओत्सेवाली योजना करना चाहते हैं।

अब आध्यात्मिकताके अभावमें—अहिंसाके अभावमें—वैज्ञानिक योजना कैसी होती है, यह देखिये। उसके लिए रूसका उदाहरण लें। वहाँ सब खेती इकट्ठी कर दी गयी है। किसीसे पूछातक नहीं जाता कि तुम इसके लिए राजी हो या नहीं? खेतीके बारेमें बैलोंसे कभी सलाह नहीं ली जाती। इसी तरह वहाँ योजना बनानेमें साधारण जनताका कोई हाथ नहीं। योजना सरकार ही बनायेगी और तदनुसार सबको काम करना पड़ेगा। बैलोंका धर्म है, पूरा काम करना और व्यवस्थापकोंका काम है, बैलोंको भरपेट खिलाना। इस योजनामें खाना-कपड़ा सबको मिलेगा। भौतिक आवश्यकताओंकी कमी नहीं होगी। लेकिन कोई आपकी सलाह न लेगा, आपको अपने विचारोंको आचारमें उतारनेकी आजादी नहीं रहेगी।

इस तरह लाओत्सेवाली योजना और स्टालिनवाली योजना—ऐसी दो योजनाएँ आपके सामने रखी हैं। लाओत्सेकी योजनापर 'अहिंसात्मक' विशेषण लागू होता है, तो स्टालिनकी पद्धतिको 'सहयोगी' कह सकते हैं। लेकिन सर्वोदयमें दोनोंका समावेश हुआ है। यह 'अहिंसात्मक और सहयोगी' कही गयी है और इसीलिए इसे देशके सभी विभिन्न विचारकोंका आशीर्वाद प्राप्त हो गया है।

हमारा प्रथम कर्तव्य क्या है ? एक दिन पवनारमें 'आजाद-हिन्द-सेना' के एक भाई हमसे मिलने आये थे। आते ही उन्होंने 'जय हिन्द' किया। हमने उत्तर दिया 'जय हिन्द, जय दुनिया, जय हरि।' इस तरह हमने यह सूचित किया कि 'जय हिन्द' में भी खतरा हो सकता है, इसलिए 'जय दुनिया' कहना चाहिए और आखिरमें परमेश्वरका नाम तो होना ही चाहिए। हमें सोचना है कि हम सर्वप्रथम कौन हैं। सर्वप्रथम मानव, फिर भारतीय और उसके बाद प्रान्तीय ? उसके पीछे परिवारवाले और उसके पीछे देहगत ?

मूल्य-परिवर्तनका अमोघ मन्त्र

यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। पहले जब मैं आश्रममें शिक्षकका काम करता था, तो रहता वर्धा जिलेमें ही था। फिर भी बच्चोंसे वर्धा जिलेकी या महाराष्ट्र-की ही बात नहीं करता था। बल्कि यही कहता था कि हम इस जगत्‌के निवासी हैं, विश्व-नागरिक हैं। यह जगत् कितना लम्बा-चौड़ा है ? आकाशके एक हिस्सेमें आकाश-गंगा है और दूसरा हिस्सा कोरा है। करोड़ों गोलकोंके बीच एक सूर्य है। इतने बड़ गोलकोंके सामने वह एक तिनका भी नहीं है। उस सूर्यके इर्द-गिर्द हमारी पृथ्वी घूमती है। उस पृथ्वीपर असंख्य (चतुर्विध) प्राणी हैं। वैज्ञानिक २०-२५ लाख प्रकारके प्राणी मानते हैं, तो हमारे पुराणोंमें उनकी ८४ लाख योनियाँ बतायी गयी हैं। जो भी हो, करोड़ों, लाखोंकी ही बात है, हजारोंकी भी नहीं। इतनी योनियाँ हैं कि उनमें व्यक्तिका कोई हिसाब ही नहीं। उनमें मानव एक छोटी-सी योनि है। उस मानव-समाजमें भारत एक देश है। उसमें एक महाराष्ट्र प्रदेश है। उसके अन्दर वर्धा एक छोटा-सा जिला है। उसके अन्दर यह आश्रम है। उसमें दो खेत हैं और उसके अन्दर हम बिलकुल शून्य हैं। हमारी कोई हस्ती ही नहीं है।

वेदोंमें तीन मन्त्रोंका एक **'अघमर्षण सूक्त'** है। उसे जपनेसे 'अघमर्षण' यानी पाप-निरसन होता है। उस सूक्तमें कहा है कि "प्रारम्भमें ऋत और सत्य था, उससे सूर्य, चन्द्र आदि सृष्टि हुई, नक्षत्र हुए......" बस, खतम हुआ सूक्त। पूछा जा सकता है कि आखिर इस सूक्तके जपका पाप-निवारणसे क्या सम्बन्ध है ? इसका तात्पर्य यही है कि इसको जपनेसे इतने विशाल ब्रह्माण्डकी कल्पना मनुष्यके सामने आती है और इसका भान होता है कि उसके समक्ष हम कितने छोटे हैं, तो अहंकार मिटता है। फिर पापकी प्रेरणा ही नहीं होती।

दिल और दिमाग बराबर हो

आज मनुष्यके हाथमें विशाल शक्ति आयी है। उसके साथ-साथ अगर उसका दिमाग छोटा रहा, तो मनुष्यके अन्तरमें ऐसा विसंवाद पैदा होगा कि उसका

व्यक्तित्व ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। पहलेके जमानेके वड़े-वड़े सम्राटोंको भी दुनियाका भूगोल मालूम नहीं था। अकवर कितना वड़ा सम्राट् था, लेकिन उसका भूगोलका ज्ञान क्या था? जव अंग्रेज यहाँ आये और उसके दरवारमें पहुँचे, तव उसे मालूम हुआ कि 'इंग्लैण्ड' नामका कोई देश है। किन्तु आज छोटे वच्चेको भी दुनियाके भूगोलका ज्ञान रहता है। इतने विशाल और व्यापक ज्ञानके साथ-साथ अगर चित्तमें छोटे-छोटे राग-द्वेष रहें, तो हम टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। ज्ञानकी इस विशालताके अनुकूल हृदय भी विशाल होना चाहिए। तभी मानव यहाँ स्वर्ग ला सकेगा।

आज जो छोटे-छोटे काम हो रहे हैं, वे अलग हैं और समाज-क्रांति, समाजके उत्थानका काम अलग है। थोड़ेसे भूमि-सुधार कर दिये या कहीं राहत या उत्पादन वढ़ानेका काम कर लिया—यह तो दुनियाभरमें चलता ही है। अमेरिकामें काफी उत्पादन होता है, दुनियाकी आधी सम्पत्ति वहाँ है, लेकिन अन्तःसमाधान नहीं है। शान्ति और निर्भयता नहीं है। वहाँ दूसरे देशोंसे कहीं अधिक आत्महत्याएँ होती हैं और तरह-तरहके पागल मिलते हैं। इसलिए इस वातमें कोई मतभेद न होते हुए भी कि हमारे देशमें उत्पादन वढ़ानेकी जरूरत है, उसके साथ-साथ मानव-हृदयका उत्थान भी आवश्यक है। हमारा जीवनका स्तर तो वढ़ना ही चाहिए, क्योंकि आज वह गिरा हुआ है; लेकिन साथ ही चिन्तनका स्तर भी ऊँचा उठना चाहिए।

नये मानवका निर्माण

ग्रामदान, भूदान आदिसे जमीनका मसला हल होता है, यह तो छोटी वात है। वड़ी वात यह है कि इनसे चिन्तनका स्तर ऊपर उठता है। हमारा सारा गाँव एक परिवार वनेगा। वहाँकी हवा, पानी और जमीन—परमेश्वरकी सारी देनें सवके लिए होंगी। हम परस्पर सहयोगसे काम करेंगे। मैं अपने लिए नहीं, समाजके लिए काम करूँगा। सिर्फ अपनी नहीं, सारे समाजकी चिन्ता करूँगा। ऐसी वृत्तिसे सारा नैतिक स्तर विलकुल ही वदल जाता है। इसलिए हमें इस आन्दोलनमें उत्साह मालूम होता है। हमारी उम्र हो चुकी है, फिर भी थकान नहीं मालूम होती, क्योंकि अन्तरमें एक अद्‌भुत आनन्द है। हम उसका शब्दोंमें वर्णन नहीं कर सकते। हम तो निरन्तर अमृत-पान कर रहे हैं और उसका थोड़ा-थोड़ा रस सवको पिलाना चाहते हैं।

हमें नया मानव वनाना है। पुरानी चीजें खतम हो गयीं। अव तो देशोंकी हदें भी टिक नहीं पातीं। एक वार आस्ट्रेलियाके एक भाई हमसे मिलने आये थे। उन्होंने पूछा कि 'दुनियाके लिए भूदानका अर्थ क्या है?' मैंने कहा : 'यही कि आस्ट्रेलियामें काफी जमीन पड़ी है और जापानमें कम है, इसलिए आपको जापान-

वालोंको आमन्त्रण देना चाहिए ।' उसने कहा : 'हाँ, हमारे पास जमीन काफी है, लेकिन हम चाहते हैं कि हमारी संस्कृतिकी रक्षा हो। इसलिए हमारी संस्कृति-से मिलते-जुलते यूरोपके लोग आयें, तो हम उन्हें लेनेके लिए राजी हैं ।' हमने कहा : 'यही जहर है, जिसे खतम करनेके लिए भूदान-यज्ञ चल रहा है ।' जापानकी सभ्यता अलग, आस्ट्रेलिया, यूरोप और हिन्दुस्तानकी सभ्यता अलग, हिन्दुओंकी सभ्यता अलग और मुसलमानोंकी सभ्यता अलग—इन सारी अभद्र बातोंको मिटानेके लिए ही ग्रामदान है। ग्रामदानमें हमारे सामने कोई छोटी चीज नहीं है। हमें मानव-जीवन बदलना और नया विश्व निर्माण करना है।

ग्रामदानसे भूमि-सुधार होता है, भूमि-समस्या हल होती है, यह सब तो ठीक है। किन्तु ये सब छोटे परिणाम हैं। दुनियाभरके लोग हमारी भूदान-यात्रामें शामिल होते ह । वे यह देखनेके लिए नहीं आते कि इससे भूमि-सुधार कैसे होते हैं। वे यहाँ देखने आते है कि किस तरह यहाँ आध्यात्मिक मूल्य स्थापित हो रहे हैं। इस वक्त दुनिया हिंसासे बिलकुल बेजार और हैरान है। सनिक शक्तिसे मसले हल नहीं हो सकते, यह निश्चित हो चुका है, फिर भी पुराना रवैया ही चल रहा है। हम आध्यात्मिक मल्य स्थापित करनेकी बातें करते हैं, लेकिन न सेना कम करते हैं और न पुलिसका कार्य ही सीमित करते हैं। आजकी हालतमें तो हमारा बोलना, बोलना ही रह जायगा। इसलिए हिन्दुस्तानमें जनता-की ओरसे यह प्रयत्न होना चाहिए कि हम नैतिक तरीके चाहें। इसीके लिए शान्ति-सेना और ग्रामदान है।

६. समन्वयका साधन : साहित्य

दुनियाको बनानेवाली तीन शक्तियाँ

मुझसे पूछा जाता है कि परमेश्वरके अलावा इस दुनियाको बनानेवाले और कौन-कौन हैं ? कोई समझते हैं कि राजनीतिक पुरुषोंने दुनिया बनायी। ये दुनियाके बनानेवाले नहीं हो सकते। दुनियाको बनानेवाली तो तीन शक्तियाँ हैं : विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य।

विज्ञानकी शक्ति

वैज्ञानिक दुनियाके जीवनको रूप देता है। आज मेरे सामने यह लाउड-स्पीकर खड़ा है, इसलिए शान्तिसे सब सुन रहे हैं। अगर यह न होता, तो मेरी आवाज इतने लोगोंतक नहीं पहुँच पाती। विज्ञानसे न केवल जीवनमें स्थूल परिवर्तन होता है, बल्कि मानसिक परिवर्तन भी होता है। प्रिंटिंग प्रेस (छापा-खाने) के कारण विज्ञानका कितनी आसानीसे प्रचार हो सकता है, इसका कोई खयाल हमारे पूर्वजोंको नहीं रहा होगा। उससे गलत बातोंका भी प्रचार हो सकता है, यह अलग बात है। लेकिन जीवनको बदलनेवाली चीजें विज्ञानसे पैदा होती हैं और वैज्ञानिकोंने जीवनको आकार दिया है, इसमें कोई शक नहीं। अग्निकी खोजके बाद सारे ऋषिगण भक्तिभावसे अग्निके गीत गाने लगे। ये गीत वेदोंमें आते हैं। अब शायद अणुशक्तिके गीत गानेवाले ऋषिगण पैदा होंगे। आज तो वह संहार करनेके लिए आयी है, संहारकके रूपमें ही हमारे सामने खड़ी है। लेकिन उसका शिवरूप भी है, केवल रुद्ररूप ही नहीं। जब वह शिवरूपमें प्रकट होगी, तब दुनियाका जीवन ही बदल देगी।

आत्मज्ञानकी सामर्थ्य

दूसरी शक्ति जो जीवनको आकार देती है, वह है आत्मज्ञान। आत्मज्ञानी दुनियामें जहाँ-जहाँ पैदा हुए, उनकी बदौलत पूरा-का-पूरा जीवन बदल गया। ईसामसीह आये, गौतम बुद्ध आये, लाओत्से आये, मुहम्मद पैगम्बर आये, नाम-देव आये, तुलसीदास आये, माणिक्य वाचकर आये, जगह-जगह ऐसे महात्मा आये। ऐसे एक-एक शख्सके आगमनसे लोगोंके जीवनका स्वरूप बदल गया। लोगोंके जीवनका स्वरूप बदलनेवाली यह दूसरी ताकत है।

साहित्यकी शक्ति

दुनियाको बनानेवाली तीसरी शक्ति है, साहित्य।

साहित्यसे मुझे हमेशा बहुत उत्साह मिलता है। साहित्य-देवताके प्रति मेरे मनमें बड़ी श्रद्धा है। एक पुरानी बात याद आ रही है। बचपनमें करीब १० साल-तक मेरा जीवन एक छोटे-से देहातमें ही बीता। बादके १० साल बड़ौदा जैसे बड़े शहरमें बीते। जब मैं कोंकणके देहातमें था, तब पिताजी कुछ अध्ययन और कामके लिए बड़ौदा रहते थे। दीवालीके दिनोंमें अक्सर घर आया करते थे। एक बार माँने कहा: 'आज तेरे पिताजी आनेवाले हैं, तेरे लिए मेवा-मिठाई लायेंगे।' पिताजी आये। फौरन् मैं उनके पास पहुँचा और उन्होंने अपना मेवा मेरे हाथमें थमा दिया। मेवेको हम कुछ गोल-गोल लड्डू ही समझते थे। लेकिन यह मेवेका पैकेट गोल न होकर चिपटा-सा था। मुझे लगा कि कोई खास तरहकी मिठाई होगी। खोलकर देखा, तो दो किताबें थीं। उन्हें लेकर मैं माँके पास पहुँचा और उसके सामने धर दिया। माँ बोली: "बेटा! तेरे पिताजीने तुझ आज जो मिठाई दी है, उससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती।" वे किताबें रामायण और भागवतकी कहानियोंकी थीं, यह मझे याद है। आजतक वे किताबें मैंने कई बार पढ़ीं। माँका यह वाक्य मैं कभी नहीं भूला कि 'इससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती।' इस वाक्यने मुझे इतना पकड़ रखा है कि आज भी कोई मिठाई मुझे इतनी मीठी मालूम नहीं होती, जितनी कोई सुन्दर विचारकी पुस्तक!

साहित्य: कठोरतम साधनाकी सिद्धि

वैसे तो भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ हैं, पर साहित्यमें उन शक्तियोंकी केवल एक ही कला प्रकट हुई है। भगवान्‌की शक्तिकी यह कला कवियों और साहित्यिकोंको प्रेरित करती है। कवि और साहित्यिक ही उस शक्तिको जानते हैं, दूसरोंको उसका दर्शन नहीं हो पाता। मुहम्मद पैगम्बरके बारेमें कहा गया है कि वे समाधिमें लीन होते, तो पसीना-पसीना हो जाते थे। उनके नजदीकके लोग एकदम घबरा उठते कि यह कितना घोर तप चल रहा है। कितनी तकलीफ हो रही होगी! लेकिन वह चीज 'वही' थी, जिसे अरबीमें 'वह् ई' कहते हैं। 'वह ई' यानी पुस्तक या किताब नहीं। 'वह् ई' उस चीजको कहते हैं, जो परमेश्वरका सन्देश मनुष्यके पास पहुँचाती है। जब वह परमेश्वरका सन्देश मनुष्यके हृदयपर सवार होता है, तब बहुत ही यन्त्रणा (टार्चर), तीव्र वेदना होती है, जिसकी उपमा प्रसूति-वेदनासे दे सकते हैं। प्रसूतिमें बहनोंको जो वेदना होती है, उससे यह वेदना बहुत ज्यादा है। यह तो मैं अपने अनुभवसे ही कह सकता हूँ कि कुछ ऐसा महसूस होता है कि हम अपनेको बिलकुल खो रहे हैं। कोई चीज हमपर हावी हो रही है।

ऐसी कोई चीज, जिसे हम टाल नहीं सकते, टालना चाहते हैं। लगता है कि टले तो अच्छा है। लेकिन वह टल नहीं पाती, टाली नहीं जा सकती। ऐसी वेदनाके अन्तमें जो दर्शन होता है, वही लोगोंको चखनेको मिलता है। वह वेदना लोगोंको मालूम नहीं होती, उसे तो कवि और साहित्यिक ही जानते हैं।

कविकी व्याख्या

मेरे अर्थमें 'कवि' दो-चार कड़ियाँ, तुकबन्दियाँ, जोड़ देनेवाला नहीं है। कवि क्रान्तदर्शी होता है। जिसे उस पारका दर्शन होता है, वही कवि है। इस पार देखनेवाली तो ये दो आँखें हैं। इनका हमपर बड़ा उपकार है ही। ये सजी-सजायी सारी दुनिया हमारे सामने पेश करती हैं, दुनियाकी रौनक दिखाती हैं। सृष्टिका सौंदर्य हम इन्हीं दो आँखोंसे ग्रहण करते हैं। लेकिन ये गुनहगार भी हैं। इन दो आँखोंसे परे एक तीसरी चीज भी है, जो इनकी बदौलत छिप जाती है। इस खूबसूरत दुनियासे और भी निहायत खूबसूरत एक दुनिया है, जिसे ये दो आँखें छिपा रखती हैं। इन आँखोंकी वहाँ पहुँच नहीं है। इनके कारण मानव उस दुनियाकी ओर आकृष्ट नहीं होता। लेकिन जब तीसरी आँख खुल जाती है, तो इस दुनियाका दर्शन होता है। दुनियाके सर्वसाधारण व्यवहारोंके पीछे, उनके अन्दर और उनकी तहमें जो ताकतें काम करती हैं, उनका दर्शन होता है। उसमेंसे काव्य-स्फूर्ति होती है, साहित्यकी स्फूर्ति होती है। इसीलिए मेरी साहित्यिकोंपर बहुत श्रद्धा है।

वाल्मीकि आये। व्यास आये। दांते आये। होमर आये। शेक्सपियर आये। रवीन्द्रनाथ आये। ऐसे लोग दुनियामें आये और दुनियाको ऐसी चीज दे गये, जो सदाके लिए जीवनको समृद्ध बना दे। दुनियाको उन्होंने ऐसी विचार-शक्ति दी, जिससे दुनियाका जीवन बदल गया। दुनियाको शान्तिकी जरूरत हुई, तो शान्तिका विचार दिया। उत्साहकी जरूरत हुई तो उत्साह दिया। आशाकी जरूरत हुई तो आशा दी। जिस समय समाजको जिस चीजकी जरूरत थी, वह चीज उन्होंने समाजको दी। दुनियामें जो बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हुईं, उनके पीछे ऐसे विचारकोंके विचार ही थे। ऐसे साहित्यिकोंका साहित्य था, जिन्होंने पारदर्शन किया था।

वाणी : विज्ञान-आत्मज्ञानके बीचका पुल

इन तीन ताकतोंने आजतक दुनिया बनायी। इसके आगे भी जीवनके ढाँचेको स्वतन्त्र रूप देनेवाली ये ही तीन ताकतें हो सकती हैं : विज्ञान, आत्म-ज्ञान और साहित्य या वाक्शक्ति, जिसे 'वाणी' भी कहते हैं। विज्ञानसे जीवनका स्थूल रूप बदलता है और वह मनुष्यके मनपर असर करनेवाली परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। लेकिन वह सीधे मनपर असर नहीं करता। वाणी विज्ञानसे

साहित्यकी शक्ति

दुनियाको बनानेवाली तीसरी शक्ति है, साहित्य।

साहित्यसे मुझे हमेशा बहुत उत्साह मिलता है। साहित्य-देवताके प्रति मेरे मनमें बड़ी श्रद्धा है। एक पुरानी बात याद आ रही है। बचपनमें करीब १० साल-तक मेरा जीवन एक छोटे-से देहातमें ही बीता। बादके १० साल बड़ौदा जैसे बड़े शहरमें बीते। जब मैं कोंकणके देहातमें था, तब पिताजी कुछ अध्ययन और कामके लिए बड़ौदा रहते थे। दीवालीके दिनोंमें अक्सर घर आया करते थे। एक बार माँने कहा : 'आज तेरे पिताजी आनेवाले हैं, तेरे लिए मेवा-मिठाई लायेंगे।' पिताजी आये। फौरन् मैं उनके पास पहुँचा और उन्होंने अपना मेवा मेरे हाथमें थमा दिया। मेवेको हम कुछ गोल-गोल लड्डू ही समझते थे। लेकिन यह मेवेका पैकेट गोल न होकर चिपटा-सा था। मुझे लगा कि कोई खास तरहकी मिठाई होगी। खोलकर देखा, तो दो किताबें थीं। उन्हें लेकर मैं माँके पास पहुँचा और उसके सामने धर दिया। माँ बोली : "बेटा ! तेरे पिताजीने तुझ आज जो मिठाई दी है, उससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती।" वे किताबें रामायण और भागवतकी कहानियोंकी थीं, यह मझे याद है। आजतक वे किताबें मैंने कई बार पढ़ीं। माँका यह वाक्य मैं कभी नहीं भूला कि 'इससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती।' इस वाक्यने मुझे इतना पकड़ रखा है कि आज भी कोई मिठाई मुझे इतनी मीठी मालूम नहीं होती, जितनी कोई सुन्दर विचारकी पुस्तक !

साहित्य : कठोरतम साधनाकी सिद्धि

वैसे तो भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ हैं, पर साहित्यमें उन शक्तियोंकी केवल एक ही कला प्रकट हुई है। भगवान्‌की शक्तिकी यह कला कवियों और साहि-त्यिकोंको प्रेरित करती है। कवि और साहित्यिक ही उस शक्तिको जानते हैं, दूसरोंको उसका दर्शन नहीं हो पाता। मुहम्मद पैगम्बरके बारेमें कहा गया है कि वे समाधिमें लीन होते, तो पसीना-पसीना हो जाते थे। उनके नजदीकके लोग एकदम घबरा उठते कि यह कितना घोर तप चल रहा है। कितनी तकलीफ हो रही होगी ! लेकिन वह चीज 'वही' थी, जिसे अरबीमें 'वह् ई' कहते हैं। 'वह् ई' यानी पुस्तक या किताब नहीं। 'वह् ई' उस चीजको कहते हैं, जो परमेश्वरका सन्देश मनुष्यके पास पहुँचाती है। जब वह परमेश्वरका सन्देश मनुष्यके हृदयपर सवार होता है, तब बहुत ही यन्त्रणा (टार्चर), तीव्र वेदना होती है, जिसकी उपमा प्रसूति-वेदनासे दे सकते हैं। प्रसूतिमें बहनोंको जो वेदना होती है, उससे यह वेदना बहुत ज्यादा है। यह तो मैं अपने अनुभवसे ही कह सकता हूँ कि कुछ ऐसा महसूस होता है कि हम अपनेको बिलकुल खो रहे हैं। कोई चीज हमपर हावी हो रही है।

ऐसी कोई चीज, जिसे हम टाल नहीं सकते, टालना चाहते हैं। लगता है कि टले तो अच्छा है। लेकिन वह टल नहीं पाती, टाली नहीं जा सकती। ऐसी वेदनाके अन्तमें जो दर्शन होता है, वही लोगोंको चखनेको मिलता है। वह वेदना लोगोंको मालूम नहीं होती, उसे तो कवि और साहित्यिक ही जानते हैं।

कविकी व्याख्या

मेरे अर्थमें 'कवि' दो-चार कड़ियाँ, तुकवन्दियाँ, जोड़ देनेवाला नहीं है। कवि क्रान्तदर्शी होता है। जिसे उस पारका दर्शन होता है, वही कवि है। इस पार देखनेवाली तो ये दो आँखें हैं। इनका हमपर बड़ा उपकार है ही। ये सजी-सजायी सारी दुनिया हमारे सामने पेश करती हैं, दुनियाकी रौनक दिखाती हैं। सृष्टिका सौंदर्य हम इन्हीं दो आँखोंसे ग्रहण करते हैं। लेकिन ये गुनहगार भी हैं। इन दो आँखोंसे परे एक तीसरी चीज भी है, जो इनकी बदौलत छिप जाती है। इस खूबसूरत दुनियासे और भी निहायत खूबसूरत एक दुनिया है, जिसे ये दो आँखें छिपा रखती हैं। इन आँखोंकी वहाँ पहुँच नहीं है। इनके कारण मानव उस दुनियाकी ओर आकृष्ट नहीं होता। लेकिन जब तीसरी आँख खुल जाती है, तो इस दुनियाका दर्शन होता है। दुनियाके सर्वसाधारण व्यवहारोंके पीछे, उनके अन्दर और उनकी तहमें जो ताकतें काम करती हैं, उनका दर्शन होता है। उसमेंसे काव्य-स्फूर्ति होती है, साहित्यकी स्फूर्ति होती है। इसीलिए मेरी साहित्यिकोंपर बहुत श्रद्धा है।

वाल्मीकि आये। व्यास आये। दांते आये। होमर आये। शेक्सपियर आये। रवीन्द्रनाथ आये। ऐसे लोग दुनियामें आये और दुनियाको ऐसी चीज दे गये, जो सदाके लिए जीवनको समृद्ध बना दे। दुनियाको उन्होंने ऐसी विचार-शक्ति दी, जिससे दुनियाका जीवन बदल गया। दुनियाको शान्तिकी जरूरत हुई, तो शान्तिका विचार दिया। उत्साहकी जरूरत हुई तो उत्साह दिया। आशाकी जरूरत हुई तो आशा दी। जिस समय समाजको जिस चीजकी जरूरत थी, वह चीज उन्होंने समाजको दी। दुनियामें जो बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हुईं, उनके पीछे ऐसे विचारकोंके विचार ही थे। ऐसे साहित्यिकोंका साहित्य था, जिन्होंने पारदर्शन किया था।

वाणी : विज्ञान-आत्मज्ञानके बीचका पुल

इन तीन ताकतोंने आजतक दुनिया बनायी। इसके आगे भी जीवनके ढाँचेको स्वतन्त्र रूप देनेवाली ये ही तीन ताकतें हो सकती हैं : विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य या वाक्शक्ति, जिसे 'वाणी' भी कहते हैं। विज्ञानसे जीवनका स्थल रूप बदलता है और वह मनुष्यके मनपर असर करनेवाली परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। लेकिन वह सीधे मनपर असर नहीं करता। वाणी विज्ञानसे

आगे जाकर हृदयपर ही सीधा प्रहार करती है। वह हृदयतक पहुँच जाती है। फिर आत्मज्ञान अन्दर प्रकाश डालता है। विज्ञान बाहरसे प्रकाश डालता है, तो आत्मज्ञान भीतरसे प्रकाश करता है। इन दोनोंके बीच वाणी पुलका काम करती है। वह दोनों किनारोंका संयोग कराती और दोनों तरफ रोशनी डालती है। तुलसीदासजी कहते हैं :

'राम-नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहुं जो चाहसि उजियार॥'

—"अगर तू अन्दर और बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है, प्रकाश चाहता है, तो यह राम-नामरूपी मणिदीप जिह्वारूपी देहरी-द्वारपर रख ले। इस द्वारपर दीया जलाते ही बाहर और भीतर, दोनों तरफ प्रकाश फैल जाता है।" इतना अधिक उपकार वाणी करती है। मनुष्यको भगवान्‌की यह अप्रतिम देन है।

वाणीका सदुपयोग

वाणीकी यह देन मनुष्यकी बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्तिका जहाँ दुरुपयोग होता है, वहाँ समाज गिरता है और जहाँ उसका सदुपयोग होता है, वहाँ समाज आगे बढ़ता है। ऋग्वेदमें कहा गया है :

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।'

यानी हम अनाज छानते हैं, तो उसमेंसे ठोस बीज ले लेते हैं और ऊपरका छिलका, कचरा फेंक देते हैं। वैसे ही जिस समाजमें वाणीकी छानबीन होती है, ज्ञानी पुरुष मननपूर्वक वाणीकी छानबीन करते हैं और उत्तम, पावन, पवित्र, शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ, खालिस शब्द ढूंढ़ निकालते हैं, उस शब्दका प्रयोग करते हैं, उस समाजमें लक्ष्मी रहती है।

बहुतोंका खयाल है कि सरस्वती और लक्ष्मीका विरोध है, लेकिन ऋग्वेदने इससे बिलकुल उलटी बात कही है। यह कहना कितने अज्ञानकी बात है कि लक्ष्मी और सरस्वतीका वैर है। वाणी तो संयोजन-शक्ति है। वह तो अन्दरकी दुनिया और बाहरकी दुनियाको, आत्मज्ञान और विज्ञानको जोड़नेवाली कड़ी है। दुनियामें जितनी शक्तियाँ मौजूद हैं, उन सब शक्तियोंको जोड़नेवाली अगर कोई कड़ी है, तो वह वाणी ही है। फिर उसका किसीके साथ वैर कैसे हो सकता है? वाणी सूक्ष्म-शक्ति है। इसलिए उसके भीतर दूसरी शक्तियाँ छिपी रहती हैं। मेरा तो वाणीपर बहुत भरोसा है। निरन्तर बोलता ही रहता हूँ, सुनता भी जाता हूँ। इसीमें वाणीकी महिमा है। श्रवण और कीर्तन दोनों मिलकर वाणी बनती है।*

* पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) में ता० ३०-५-'५७ को किये गये प्रवचनसे।

७. अशोभनीय पोस्टर

देशका आधार : शील

मैं चाहता हूँ कि सारे भारतकी स्त्रियाँ शान्ति-रक्षा और शील-रक्षाका काम करें। इस समय भारतमें चरित्रभ्रंशका कितना आयोजन हो रहा है! उसका विरोध और प्रतिकार अगर बहनें नहीं करेंगी, तो फिर परमेश्वर ही भारतको बचाये, ऐसा कहनेकी नौबत आयेगी।

शहरोंकी जो दशा है, वह अत्यन्त खतरनाक है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ शहरके रास्तोंपर चलती हैं, तो लड़के उनके पीछे लगते हैं, यह क्या बात है? यह जो शील-भ्रंश हो रहा है, जिसमें गृहस्थाश्रमकी प्रतिष्ठा ही गिर रही है, उसका विरोध करनेके लिए बहनोंको सामने आना चाहिए। माताओंको समझना चाहिए कि अगर देशका आधार शीलपर नहीं रहा, तो देश टिक नहीं सकता। शिवाजी महाराजकी सुप्रसिद्ध कहानी है। उनके एक सरदारने लड़ाई जीती और एक यवन-स्त्रीको वे शिवाजी महाराजके पास ले आये। शिवाजी महाराजने उसकी तरफ देखकर कहा : "हे माँ, अगर मेरी माता तेरे जैसी सुन्दर होती, तो मैं भी सुन्दर होता!" ऐसा कहकर उन्होंने उसे आदरपूर्वक विदा किया। ऐसी संस्कृति जिस देशमें चली, उस देशमें इतना चारित्र्य-भ्रंश हो और सारे लोग देखते रहें, यह कैसे हो सकता है?

हम कहाँ जा रहे हैं?

मैं इंदौर आकर इतना दुःखी हुआ कि उसका वर्णन नहीं कर सकता। यहाँपर दीवालोंपर इतने भद्दे चित्र देखे कि जिनके स्मरणसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। माता-पिता इन चित्रोंको कैसे सहन करते हैं? इससे पहले नौ सालतक मुझे किसी शहरमें घूमनेका मौका नहीं मिला, इसलिए शहरकी हालतको मैं जानता नहीं था। लेकिन यहाँ जो मैंने देखा, उससे मेरा हृदय बहुत ही व्याकुल हुआ। तबसे मेरे ध्यानमें आया कि शील-रक्षाकी मुहिम होनी चाहिए और स्त्रियोंको शांति-रक्षा और शील-रक्षाका दुहरा काम करना होगा। उसके बिना संस्कृति नहीं टिकेगी।

मनु महाराजने स्मृतिमें स्त्रियोंके लिए कितना आदर व्यक्त किया है :

'उपाध्यायान् दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते।।'

आगे जाकर हृदयपर ही सीधा प्रहार करती है। वह हृदयतक पहुँच जाती है। फिर आत्मज्ञान अन्दर प्रकाश डालता है। विज्ञान बाहरसे प्रकाश डालता है, तो आत्मज्ञान भीतरसे प्रकाश करता है। इन दोनोंके बीच वाणी पुलका काम करती है। वह दोनों किनारोंका संयोग कराती और दोनो तरफ रोशनी डालती है। तुलसीदासजी कहते हैं :

'राम-नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहुं जो चाहसि उजियार॥'

—"अगर तू अन्दर और बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है, प्रकाश चाहता है, तो यह राम-नामरूपी मणिदीप जिह्वारूपी देहरी-द्वारपर रख ले। इस द्वारपर दीया जलाते ही बाहर और भीतर, दोनों तरफ प्रकाश फैल जाता है।" इतना अधिक उपकार वाणी करती है। मनुष्यको भगवान्‌की यह अप्रतिम देन है।

वाणीका सदुपयोग

वाणीकी यह देन मनुष्यकी बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्तिका जहाँ दुरुपयोग होता है, वहाँ समाज गिरता है और जहाँ उसका सदुपयोग होता है, वहाँ समाज आगे बढ़ता है। ऋग्वेदमें कहा गया है :

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।'

यानी हम अनाज छानते हैं, तो उसमेंसे ठोस बीज ले लेते हैं और ऊपरका छिलका, कचरा फेंक देते हैं। वैसे ही जिस समाजमें वाणीकी छानबीन होती है, ज्ञानी पुरुष मननपूर्वक वाणीकी छानबीन करते हैं और उत्तम, पावन, पवित्र, शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ, खालिस शब्द ढूँढ़ निकालते हैं, उस शब्दका प्रयोग करते हैं, उस समाजमें लक्ष्मी रहती है।

बहुतोंका खयाल है कि सरस्वती और लक्ष्मीका विरोध है, लेकिन ऋग्वेदने इससे बिलकुल उलटी बात कही है। यह कहना कितने अज्ञानकी बात है कि लक्ष्मी और सरस्वतीका वैर है। वाणी तो संयोजन-शक्ति है। वह तो अन्दरकी दुनिया और बाहरकी दुनियाको, आत्मज्ञान और विज्ञानको जोड़नेवाली कड़ी है। दुनियामें जितनी शक्तियाँ मौजूद हैं, उन सब शक्तियोंको जोड़नेवाली अगर कोई कड़ी है, तो वह वाणी ही है। फिर उसका किसीके साथ वैर कैसे हो सकता है? वाणी सूक्ष्म-शक्ति है। इसलिए उसके भीतर दूसरी शक्तियाँ छिपी रहती हैं। मेरा तो वाणीपर बहुत भरोसा है। निरन्तर बोलता ही रहता हूँ, सुनता भी जाता हूँ। इसीमें वाणीकी महिमा है। श्रवण और कीर्तन दोनों मिलकर वाणी बनती है।*

---

* पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) में ता० ३०-५-'५७ को किये गये प्रवचनसे।

७. अशोभनीय पोस्टर

देशका आधार : शील

मैं चाहता हूँ कि सारे भारतकी स्त्रियाँ शान्ति-रक्षा और शील-रक्षाका काम करें। इस समय भारतमें चरित्रभ्रंशका कितना आयोजन हो रहा है! उसका विरोध और प्रतिकार अगर बहनें नहीं करेंगी, तो फिर परमेश्वर ही भारतको बचाये, ऐसा कहनेकी नौबत आयेगी।

शहरोंकी जो दशा है, वह अत्यन्त खतरनाक है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ शहरके रास्तोंपर चलती हैं, तो लड़के उनके पीछे लगते हैं, यह क्या बात है? यह जो शील-भ्रंश हो रहा है, जिसमें गृहस्थाश्रमकी प्रतिष्ठा ही गिर रही है, उसका विरोध करनेके लिए बहनोंको सामने आना चाहिए। माताओंको समझना चाहिए कि अगर देशका आधार शीलपर नहीं रहा, तो देश टिक नहीं सकता। शिवाजी महाराजकी सुप्रसिद्ध कहानी है। उनके एक सरदारने लड़ाई जीती और एक यवन-स्त्रीको वे शिवाजी महाराजके पास ले आये। शिवाजी महाराज-ने उसकी तरफ देखकर कहा : "हे माँ, अगर मेरी माता तेरे जैसी सुन्दर होती, तो मैं भी सुन्दर होता!" ऐसा कहकर उन्होंने उसे आदरपूर्वक विदा किया। ऐसी संस्कृति जिस देशमें चली, उस देशमें इतना चारित्र्य-भ्रंश हो और सारे लोग देखते रहें, यह कैसे हो सकता है?

हम कहाँ जा रहे हैं?

मैं इंदौर आकर इतना दुःखी हुआ कि उसका वर्णन नहीं कर सकता। यहाँपर दीवालोंपर इतने भद्दे चित्र देखे कि जिनके स्मरणसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। माता-पिता इन चित्रोंको कैसे सहन करते हैं? इससे पहले नौ सालतक मुझे किसी शहरमें घूमनेका मौका नहीं मिला, इसलिए शहरकी हालतको मैं जानता नहीं था। लेकिन यहाँ जो मैंने देखा, उससे मेरा हृदय बहुत ही व्याकुल हुआ। तबसे मेरे ध्यानमें आया कि शील-रक्षाकी मुहिम होनी चाहिए और स्त्रियोंको शांति-रक्षा और शील-रक्षाका दुहरा काम करना होगा। उसके बिना संस्कृति नहीं टिकेगी।

मनु महाराजने स्मृतिमें स्त्रियोंके लिए कितना आदर व्यक्त किया है :

'उपाध्यायान् दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥'

—'दस उपाध्यायके बराबर एक आचार्य होता है। सौ आचार्योंके बराबर एक पिता होता है और हजार पिताओंसेभी एक माताका गौरव बड़ा है।'

इतना महान् शब्द जिस भूमिमें प्रवृत्त हुआ, जहाँकी संस्कृतिमें स्त्रियोंके लिए इतना आदर था, वहाँपर ऐसे गंदे चित्र खुलेआम दिखाये जायँ और लड़कोंके दिमाग इतने विषय-वासनासे भरे हुए हों कि कन्याओंके पीछे लगनेमें ही उन्हें पुरुषार्थ मालूम होता हो, यह कितनी शोचनीय और लज्जाजनक बात है! आप जरा सोचिये कि हम कहाँ जा रहे हैं?

मातृत्वपर प्रहार

हमें इस हालतको रोकना होगा। आपकी पचास राजनीतिक पार्टियाँ आज क्या कर रही हैं? परन्तु किसीको यह सूझता नहीं है कि शील-रक्षा हो! जिस भारतमें स्त्रियोंके लिए इतना आदर है कि वेदमें कहा है: "स्त्री अधिक सूक्ष्म बुद्धिवाली होती है, पुरुषोंसे उदार होती है, क्योंकि पुरुष परमेश्वरकी आराधना, भक्ति, दातृत्वमें कम पड़ता है। स्त्री माता होती है, वह पुरुषका दुःख जानती है। किसीको प्यास लगती है, तो वह जानती है। किसीको पीड़ा होती है, तो जानती है और अपना मन हमेशा भगवान्‌की भक्तिमें लगा रखती है।" वेदको हमारे यहाँ मातृ-स्थान कहा है। ज्ञानदेवने लिखा है: **'नाही श्रुति परवुति माउली।'** श्रुतिके जैसी माता नहीं है। जो दुनियाको अहितसे बचाती है और हितमें प्रवृत्त करती है, इस तरह श्रुतिको 'माता' की उपमा दी गयी है। इस मातृत्वपर आज इतना प्रहार होता है और हम सब खुलेआम उसे सहन कर रहे हैं। मैं नहीं मानता कि इससे प्रगतिकी राह खुलेगी! आपकी पचासों पंचवार्षिक योजनाएँ चलती हों, तो भी कोई काम नहीं होगा। केवल भौतिक उन्नतिसे देश ऊँचा नहीं उठता। जब शील ऊँचा उठता है, तब देश उन्नति करता है।

बहनें प्रतिज्ञा करें

आज तमाम माताएँ और बहनें प्रतिज्ञा करें कि **'शांति और शील-रक्षाके लिए हम प्रयत्नशील रहेंगी।'** पुरुषगण माताओंकी इस प्रतिज्ञामें मदद करें, जिससे कि भारतमें फिरसे धर्मका उत्थान हो।

अभीतक धर्म बना ही नहीं था, केवल श्रद्धाएँ ही बनी थीं। ऐसा धर्म नहीं बना था, जिसके विरोधमें जानेकी किसीकी इच्छा ही न हो। आज न सत्य-निष्ठा मान्य है, न अहिंसा-निष्ठा। लोग कहते हैं कि अमुक मौकेपर सत्य ठीक है और अमुक मौकेपर बे-ठीक। हमेशा सत्य ठीक ही है, ऐसा नहीं कहा जाता। आज निरपवाद हर परिस्थितिमें सत्यपर चलनेमें फायदा ही होनेवाला है और सत्यपर न चलें, तो नुकसान ही होनेवाला है—ऐसा न व्यक्तिगत क्षेत्रमें माना

गया है और न सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रमें। सभी क्षेत्रोंमें अहिंसाके लिए ऐसा निःशंक विश्वास पैदा होना अभी बाकी है। आजतक जो तरह-तरहके धर्म बने, वे धर्म नहीं, श्रद्धाएँ थीं। कहा जाता है कि बहुत करके सत्य, अहिंसा लाभदायी हैं, लेकिन वे अवश्य ही लाभदायी हैं और उनपर नहीं चलेंगे तो अवश्य हानि होगी, ऐसी निष्ठा और विश्वास मानवके हृदयमें अभीतक प्रतिष्ठित नहीं हुआ है। भले ही हिंदू, मुसलमान आदि धर्मोंके आचार्योंने धर्मको समझानेकी कोशिश की हो, फिर भी वह सफल नहीं हुई। अब विज्ञानका जमाना आया है। अतः सारी दुनियाको अध्यात्मका आधार लेना होगा। पांथिकता खतम करनी होगी। विज्ञानके जमानेमें राजनीति और पांथिक धर्मको छोड़ना होगा और आध्यात्मिकता स्वीकार करनी होगी। सबको इसपर सोचना चाहिए। इसका मूलारंभ शांति-रक्षा और शील-रक्षाके कार्यसे होगा। हम अगर इस कामको उठायेंगे, तो फिर पचासों मसले हल करनेकी शक्ति भगवान् हमें देगा।

बच्चोंको क्या जवाब देंगे ?

शहरोंमें बड़े-बड़े इश्तिहार लगे रहते हैं, उनका बच्चोंपर असर होता है। वे सहज ही पूछ लेते हैं कि यह क्या है ? बच्चोंपर ज्यादा असर बाहरी दृश्यका होता है। खाने बैठा है और चिड़िया उड़ रही है, तो उसका ध्यान फौरन् चिड़ियाकी तरफ जायगा। भूख लगी है, खाना मीठा भी लग रहा है, फिर भी चिड़ियाको उड़ते देखता है तो फौरन् उसका ध्यान उसीकी तरफ आकर्षित हो जाता है। वैसे ही बाहर कोई भी स्वरूप बच्चा देखता है, तो वह आकर्षित होता है। वह आपसे पूछेगा कि "यह 'हनीमून' क्या है ? यह चित्र किस चीजका है ?" उसके दिमागपर देखनेका असर होता है। इसलिए नागरिकोंको चाहिए कि वे इस बारेमें सोचें। मकानवाले अपने मकानपर बड़े-बड़े अक्षरोंमें इश्तिहार लगाने देते हैं, तरह-तरहकी तसवीरें लगाने देते हैं, उसके उनको पैसे मिलते होंगे, लेकिन यह पैसा विनाशक है। वे अपने मकानपर चाहें तो 'ओम्', 'श्रीराम' या 'बिस्मिल्लाहिर्-रह्मानिर्रहीमि' लिखवा सकते हैं। लेकिन इस प्रकारके और इश्तिहार नहीं होने चाहिए।

नागरिक सोचें

शहरमें रहनेवालोंकी नजर तारोंकी तरफ नहीं जाती, जो हमारी आँखोंके लिए और चित्तके लिए पवित्र चीजें हैं। जहाँ देखो वहाँ आग ही आग लगी है, तब तारोंकी ओर नजर कैसे जायगी ? इसके बदले बड़े-बड़े चित्र लगे होते हैं। बच्चा सहज ही पूछ बैठता है कि 'यह क्या है ?' ऐसे चित्र हटानेकी हम लोगोंको सूझती ही नहीं। शहरोंमें लोग रातमें देरसे सोते हैं और देरसे उठते हैं। रातको

खराब चित्र देखते है, तो उसका खराब असर लेकर सोते हैं, उससे दिमागमें अस्वच्छ विचार रहते हैं। हम मुहल्लोंकी स्वच्छताकी बात करते हैं। मुहल्लेकी स्वच्छता सधनी चाहिए, लेकिन दिमागकी स्वच्छता भी सधनी चाहिए। दिमागकी स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है।

नागरिकोंकी आँखोंपर आक्रमण

इंदौरमें बहुत दिन रहनेके कारण मैंने वहाँ भद्दे पोस्टर देखे, तो मेरी आत्मामें बहुत गहरी ग्लानि पैदा हुई। मैंने कहा कि ये पोस्टर हटने चाहिए। यदि कानूनसे नही हट सकते हैं, तो धर्मसे हटें। धर्म कानूनसे ऊँचा होता है, बढ़कर होता है। जो कानून धर्मका रक्षण नहीं कर सकता, उस कानूनकी दुरुस्तीके लिए कानून-भंग करनेकी जरूरत महसूस होती है।

इंदौरकी कुछ प्रतिष्ठित बहनें सिनेमावालोंके पास गयी थीं। उन्होंने बहनोंसे पूछा कि "'अशोभनीय' की आपकी व्याख्या क्या है ?" तब बहनोंने जवाब दिया : "जिन पोस्टरोंको माता-पिता अपने बच्चोंके साथ नहीं देख सकते हैं, ऐसे पोस्टर अशोभनीय है और वे हटने चाहिए।" इससे अधिक माकूल जवाब नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि कानून उनके पक्षमें है, तो अब परमेश्वरसे पूछना होगा ! सबसे बेहतर कानून परमेश्वरका है। हम उससे पूछेंगे कि कौन-सा कानून हमारे पक्षमें है ?

आँखोंपर हमला

हमने गलत सिनेमाके खिलाफ आवाज नहीं उठायी है, इसके माने यह नही है कि गलत सिनेमा चलने चाहिए। उन्हें बंद करना हो, तो वैसा जनमत पैदा करना होगा। बड़ी चीजको बदलनेका वही मार्ग है। सत्याग्रहमें कम-से-कम चीज होती है और वह ऐसी चीज कि जिसके लिए सबकी करीब-करीब एक राय हो सकती है। सिनेमा देखनेके लिए तो लोग पैसा देकर जाते हैं। अच्छा सेंसर हो, यह माँग की जा सकती है। इसके लिए मन-परिवर्तन करना होगा, प्रचार करना होगा। उसमें सत्याग्रहकी बात नहीं आती।

लेकिन ये पोस्टर तो रास्तेमें होते हैं और हरएककी आँखोंपर उनका आक्रमण होता है। शहरोंमें नागरिकोंको, सड़कपर चलनेवाली बहनोंको शरमिंदा होना पड़ता है, नीची निगाहें करनी पड़ती हैं। इससे बढ़कर कौन-सी चीज हो सकती है ? आम रास्तेपर चलनेवाले नागरिकोंकी आँखोंपर हमला करनेका किसीको क्या हक है ? अगर किसीको ऐसे पोस्टर लगाने हों, तो अपने रंगमहलोंमें लगायें ! सौन्दर्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न हो सकती है।

लेकिन हरएक नागरिकको अपने कर्तव्यके बारेमें जागरूक रहना चाहिए।

अपने अधिकारोंके बारेमें इतनी मन्दता नागरिकोंमें आयी है, यह ठीक नहीं है। सब लोग इस चीजको महसूस करते हैं, शिकायत करते हैं, पर कुछ कर नहीं सकते हैं! यह लाचारी बरदाश्त नहीं करनी चाहिए।

रचनात्मक कार्यकर्ताओंने मुझसे कहा : "अगर हम इस काममें लगेंगे, तो क्या रचनात्मक कार्य ढीला नहीं पड़ेगा ?" मैंने कहा : "रचनात्मक कार्य नर्मदामें जाय ! यह बुनियादी चीज है। वह नहीं बनती है, तो मुझे ऐसे रचनात्मक कार्यमें कोई रस नहीं रहा है कि घरमें बैठे-बैठे सूत कातें और बाहर ऐसे पोस्टर लग हों।"

'अशोभनीय' और 'अश्लील' का अन्तर

मैं 'अश्लील' शब्दका प्रयोग नहीं करता हूँ। अश्लील तो कहीं भी बरदाश्त नहीं होगा। मैं 'शोभनीय' और 'अशोभनीय' की बात कहता हूँ। मुमकिन है कि जो चीज यहाँ अशोभनीय होगी, वह लंदनमें शोभनीय मानी जाय। हिन्दुस्तान और लंदनमें अश्लील तो करीब-करीब एक ही होगा। लेकिन शोभनीय और अशोभनीयमें फर्क हो सकता है। ऐसे अशोभनीय पोस्टर या चित्र कोई खुलेआम उपस्थित करे और लोग उसे बर्दाश्त करें, यह अनुचित है।

मैं सिनेमा-उद्योगके खिलाफ सत्याग्रह नहीं कर रहा हूँ। मैं तो विज्ञान (साइन्स) का कायल हूँ। उसके अंतर्गत सिनेमाका विकास हो, ऐसा चाहूँगा। अच्छे-अच्छे सिनेमा या चित्र निकलें, निकलते भी हैं। तुलसीदास और तुकारामके जीवन-चरित्रकी फिल्में बनी हैं। मैं कहता हूँ कि अध्यात्म और विज्ञानका समन्वय हुए बिना विकास संभव नहीं है। उसके बिना दुनिया नहीं बचेगी।

अशोभनीय पोस्टर हटे बिना चैन नहीं

मैं चाहता हूँ कि रातमें १० बजेके बाद 'शो' न चले। मैं इलाहाबाद गया था। वहाँ लोगोंने मुझे 'मान-पत्र' दिया। मैंने कहा कि आपको तो दान-पत्र देना चाहिए। सभा टंडन पार्कमें हुई थी और टंडनजी उस सभामें हाजिर थे।

उस 'मान-पत्र' में म्युनिसिपैलिटीने कहा था कि सिनेमाके दो 'शो' नहीं होने चाहिए। इस तरहका प्रस्ताव म्युनिसिपैलिटीने किया था। लेकिन वह प्रस्ताव लखनऊ-सरकारने नामंजूर किया। ऐसी शिकायत उस मान-पत्रमें थी। अब मुझे नहीं मालूम कि सरकारने उसे नामंजूर क्यों किया ? आमदनीका सवाल था कि विधानका, मुझे मालूम नहीं। इन दिनों जहाँ धर्म आता है, वहाँ बुद्धिका निधन हो जाता है, बुद्धि गायब होती है।

मैं नहीं जानता कि कौनसा सवाल था। लेकिन उसमें मन-परिवर्तन हो सकता है।

विषयासक्तिकी मुफ्त और लाजिमी तालीम

इन्दौरमें जगह-जगह गंदे पोस्टर हमने देखे। हमने कहा कि ये पोस्टर याने बच्चोंके लिए '**फ्री एण्ड कम्पलसरी एजूकेशन इन सेन्स्युअलिटी**'—विषयासक्तिकी मुफ्त और लाजिमी तालीम—है। इसका दूसरा कोई अर्थ नहीं है। बच्चोंके लिए बड़े-बड़े अक्षर पढ़नेके लिए हम लेते हैं—'ग' याने 'गधा' और उसका चित्र भी रहता है, जिससे बच्चा दिलचस्पीसे पढ़े। लेकिन पाठ्य-पुस्तकमें जितना बड़ा अक्षर होता है, उससे बहुत बड़ा अक्षर और चित्र पोस्टरपर होता है। ऐसी मुफ्त और प्राथमिक तालीम बच्चोंको जहाँ दी जाती है, वहाँ बच्चोंके अक्षर-ब्रह्मविद्यामें प्रवेशका यह इन्तजाम देखकर मेरे दिलमें अत्यन्त व्यथा हुई और चित्तमें इतना तीव्र आवेश हुआ कि ऐसे कामके लिए प्राण-त्याग भी कर सकते हैं, ऐसा लगा।

इसके रहते 'बुनियादी तालीम' का कोई अर्थ ही नहीं रहता है और मुझे आश्चर्य होता है कि इसके रहते हमारी सरकार इतनी गाफिल कैसे है! कितना अंधाधुंध कारोबार है, कितना अज्ञान है! ऐसी सरकारकी हस्ती भी समाजके लिए भयानक मालूम होती है। इसके रहते समाजमें नैतिक वातावरण नहीं रह सकता है और देश फिरसे गुलाम हो सकता है।

जहाँ इतना दारिद्र्य है, दवाका इन्तजाम नही, तालीम अच्छी नहीं है, विज्ञान जहाँ नहीं है, जहाँ पौष्टिक खुराक नहीं, उस देशमें बच्चोंको बचपनसे ऐसी तालीम मिलती है, तो उससे समाज निर्वीर्य होगा। वह न हिंसाकी लड़ाई लड़ सकेगा, न अहिंसाकी लड़ाई। इसलिए मैं इससे बहुत व्यथित हुआ। इससे मेरे लिए एक कार्यक्षेत्र खुल गया।

वासनाकी यह अनिवार्य शिक्षा फौरन् बन्द हो

आश्रम-संस्थाकी रीढ़, उसकी बुनियाद, जिसपर वह खड़ी है, वह है गृहस्थाश्रम। गृहस्थाश्रमके दो तत्त्व हैं: कारुण्य और पावित्र्य। इसीके आधारपर वह उज्ज्वल बनता है और देशको तेजस्वी संतान देता है। हमने कारुण्यको प्रेरणा देनेवाला कार्यक्रम दस सालसे शुरू किया है। भूदानका करुणामूलक कार्यक्रम हिन्दुस्तानको मिला है। यह संतप्त दुनियाके लिए अमृत-वर्षाके समान है। इसीलिए दुनियाने इसमें दिलचस्पी बतायी है।

इस कार्यक्रमके साथ-साथ हमें पावित्र्यका कार्य सूझा। वह न सूझता, अगर हम इंदौर न जाते। वहाँ मने दीवालोंपर गंदे पोस्टर देखे और मैं बिलकुल शर्मिन्दा हुआ। गंदे पोस्टर देखकर मेरे दुःखकी सीमा नहीं रही। वहाँ मैंने सिनेमावालोंको बुलाया और पूछा कि इस तरहसे आप विज्ञापन क्यों करते हैं? उन्होंने कबूल किया कि हम वहाँसे चित्र हटायेंगे। वहाँ हमने एक 'शुभाशुभ निर्णय समिति'

बनायी। वह समिति तय करेगी और उस मुताबिक अशोभनीय चित्र हटेंगे।

इस सिलसिलेमें ऊपरवालोंसे भी बात चल रही है। मैं किसी धंधेके खिलाफ नहीं हूँ, लेकिन मेरी आँखपर हमला करनेका अधिकार आपको नहीं है। मुझे दुःख इस बातका है कि इससे गृहस्थाश्रमकी बुनियाद ही उखाड़ी जा रही है। इस परिस्थितिके रहते न नयी तालीमका कोई अर्थ होता है, न पुरानी तालीमका। बच्चा अक्षर सीखता है, तो एकाग्र होकर पढ़ता है और चित्र देखता है। ऐसे अपरिपक्व मनके बच्चेपर इन गंदे चित्रोंका क्या संस्कार होता होगा? ऐसी हालतमें तालीमका कोई अर्थ ही नहीं रहता। इसलिए मैं बहुत तीव्रतासे सोचता हूँ। मैंने तो यहाँतक सोचा था कि इंदौरके मेरे साथी अगर जरा इधर-उधर करते याने सत्याग्रह करनेमें हिचकिचाते, तो मैं आसामका रास्ता छोड़कर ट्रेनमें बैठकर इंदौर जाता। मेरी समझमें नहीं आता कि एक दिन भी उसे कैसे सहन किया जाता है? इसे मैं पावित्र्यका आंदोलन मानता हूँ।

लोग कहते हैं कि कैलेण्डर भी इन दिनों भद्दे बनाये जाते हैं। उनमें राधा-कृष्ण, महादेव-पार्वतीके भद्दे चित्र दिखाते हैं। वह बात भी इसमें आती है, लेकिन ये गंदे इश्तिहार तो बाहर दीवालपर होते हैं। इसलिए जो रास्तेमें चलता है, उसकी आँखोंपर आक्रमण होता है। सिनेमा भी गंदे नहीं होने चाहिए। इतना ही नहीं, सिनेमा गन्दे न हों और अच्छे सिनेमा हों, तो भी रातको दस बजेके बाद न हों। पर यह लोक-शिक्षणका विषय है। सार्वजनिक स्थानोंमें ऐसे इश्तिहार रखना रास्तेमें घूमनेवाले मुसाफिरकी आँखपर आक्रमण करना है। इसीलिए मैंने इसे '**फ्री एण्ड कम्पलसरी एजूकेशन इन सेन्स्युअलिटी**' यानी 'वासनाका निःशुल्क अनिवार्य शिक्षण' कहा है। इस प्रकार जो शिक्षण चल रहा है, वह फौरन् बन्द होना चाहिए।*

---

* अगस्त १९६० में इन्दौर-प्रवासमें तथा उसके उपरान्त जबलपुर आदिमें किये गये प्रवचनोंसे।

८. त्रिविध कार्यक्रम

हम समाजमें सर्वसाधारण लोग हैं, लेकिन हमसे समाजमें बहुत अधिक अपेक्षा है। इसका कारण क्या है? सब लोग जानते हैं कि हम जो विचार पेश करते हैं, वह भले ही व्यवहारमें लाने लायक न हो, लेकिन इन विचारोंको माने बिना दुनिया आगे नहीं बढ़ सकती, बल्कि टिक ही नहीं सकती। लोग कहते हैं कि जो समाज कालक्रमेण अवश्य आनेवाला है, उस जमानेको लानेकी कोशिश करनेवाले ये अग्रदूत हैं। इसी नाते वे बहुत ही उत्सुकतासे हमारी ओर देखते हैं। वे समझते हैं कि हम कालात्माके प्रतिनिधि हैं। यह शाश्वत कार्य है, अमर कार्य हैं, क्योंकि अगर यह कार्य न टिका, तो समाज ही नहीं टिकेगा।

सर्वोदय-समाजका सार : सबकी एकात्मता

सर्वोदय-समाजका क्या नियम है? उसका क्या लक्षण है? उसका लक्षण है कि सब सुखी हों, सबके हितकी रक्षा हो। केवल बहुमतकी अथवा अल्पमतकी नहीं, सबकी रक्षा हो। इसपर जिनकी श्रद्धा है, उन्हींका यह समाज है। सबको इस समाजमें सुलभ प्रवेश है। यदि आप इतना कह दें कि 'हम इस समाजमें हैं', तो इस समाजमें आ गये। इतना यह है आस्तिक समाज। 'अस्ति' यानी सबपर विश्वास रखनेवाला। इसमें मनुष्यके शब्दपर निष्ठा रखी जाती है। मानव-समाजमें जीवनके जो आधारभूत आध्यात्मिक मूल्य रखे जाते हैं, उनमें मानव सबसे

त्रिविध कार्यक्रम

हमने अभिनव ग्रामदान, खादी और शांति-सेनाका 'त्रिविध कार्यक्रम' बनाया है। उस कार्यक्रममें हमें अपनी पूरी ताकत लगानी है।

१. ग्रामदान

हमने तय किया है कि ग्रामदानमें जमीनकी मालिकी ग्राम-सभाकी होगी। भूमिहीनोंको भूमिका हिस्सा देनेके बाद जो जमीन रहेगी, उसका वे उपयोग करते रहेंगे, पर उसकी मालकियत ग्रामसभाको समर्पित कर देंगे।

ग्रामदानमें प्रत्यक्ष समर्पण करना है। ग्रामसभाको मातृदेवता बनाकर समर्पण करना है और प्रसादके स्वरूप हमारे पास जो आये, उसका हमें सेवन करना है। यह एक भव्य, दिव्य और रमणीय कल्पना है। **'गुरु गुड़ दिया मीठा।'** मधुर गुड़ मुँहमें डाला तो फौरन् मधुरता महसूस होती है। उसकी कल्पना भी इतनी मधुर है कि श्रवणमात्रसे उसके माधुर्यका अनुभव आता है। जिस कल्पनाके श्रवणमें इतना आनन्द होता है, उसके अमलमें कितना आनन्द होगा।

प्रेमसे हृदयमें प्रवेश

तेलंगानामें जब भूदानका आरम्भ हुआ, तब मैं कहता था कि 'आपको प्रेमसे लूटने आया हूँ।' यहाँ लूटनेकी दूसरी प्रक्रिया पहले हो चुकी थी, उसी सिलसिलेमें मैंने यह 'प्रेमसे लूटने' की बात चलायी। लेकिन अब कहता हूँ कि 'केवल प्रेम करने आया हूँ', उससे सबके हृदयमें प्रवेश मिलता है। किसी एक पक्षके सामने खड़े होकर हम केवल प्रेमका प्रहार करें, ऐसा नहीं, बल्कि उभय पक्षोंपर प्रेम किया जाय। इसका दर्शन हमें अभिनव-ग्रामदानमें होता है। अकसर समझा जाता है कि इससे हमने अपने विचारको निम्न गति किया, नीचे उतारा। लेकिन सोचता हूँ कि पहले हम पाँच करोड़ एकड़ जमीन हासिल करते और छठा हिस्सा जमीन माँगते थे। अब बीसवाँ हिस्सा माँगते हैं, तो उससे डेढ़ करोड़ एकड़ जमीन हो जाती है। लेकिन यह जो जमीन होगी, वह जोतकी जमीनका हिस्सा होगी, जब कि उस पाँच करोड़ एकड़में अच्छी और रद्दी भी जमीन मिलती थी। इसपर पूछा जायगा कि क्या यह कार्यक्रम पूरा हो सकेगा? यह तो उस पुराने कार्यक्रमके बारेमें भी पूछा जाता था। दोनों कार्यक्रम समान ही शक्य हैं या समान ही अशक्य। अलावा इसके एक बहुत बड़ी महत्त्वकी चीज इस कार्यक्रमके साथ जुड़ी है। वह यह कि हर साल अपनी फसलका बीसवाँ हिस्सा ग्रामसभाको मिल जाता है। इसमें सिर्फ जमीन ही नहीं, वरन् परिश्रमके साथ जमीन मिलती है, यह बहुत बड़ी चीज है।

८. त्रिविध कार्यक्रम

हम समाजमें सर्वसाधारण लोग हैं, लेकिन हमसे समाजमें बहुत अधिक अपेक्षा है। इसका कारण क्या है? सब लोग जानते हैं कि हम जो विचार पेश करते हैं, वह भले ही व्यवहारमें लाने लायक न हो, लेकिन इन विचारोंको माने बिना दुनिया आगे नहीं बढ़ सकती, बल्कि टिक ही नहीं सकती। लोग कहते हैं कि जो समाज कालक्रमेण अवश्य आनेवाला है, उस जमानेको लानेकी कोशिश करनेवाले ये अग्रदूत हैं। इसी नाते वे बहुत ही उत्सुकतासे हमारी ओर देखते हैं। वे समझते हैं कि हम कालात्माके प्रतिनिधि हैं। यह शाश्वत कार्य है, अमर कार्य है, क्योंकि अगर यह कार्य न टिका, तो समाज ही नहीं टिकेगा।

सर्वोदय-समाजका सार: सबकी एकात्मता

सर्वोदय-समाजका क्या नियम है? उसका क्या लक्षण है? उसका लक्षण है कि सब सुखी हों, सबके हितकी रक्षा हो। केवल बहुमतकी अथवा अल्पमतकी नहीं, सबकी रक्षा हो। इसपर जिनकी श्रद्धा है, उन्हींका यह समाज है। सबको इस समाजमें सुलभ प्रवेश है। यदि आप इतना कह दें कि 'हम इस समाजमें हैं', तो इस समाजमें आ गये। इतना यह है आस्तिक समाज। 'अस्ति' यानी सबपर विश्वास रखनेवाला। इसमें मनुष्यके शब्दपर निष्ठा रखी जाती है। मानव-समाजमें जीवनके जो आधारभूत आध्यात्मिक मूल्य रखे जाते हैं, उनमें मानव सबसे श्रेष्ठ मूल्य है। लेकिन यह खुदरा है और मानवता स्टर्लिंग है। भाषा, जाति, पंथ, वर्ग आदि अनेक प्रकारके भेद न माननेवाला यह समाज है। इसका सार-तत्त्व पूछा जानेपर उपनिषद्की भाषामें कहना हो तो एकात्मता है। **'अव्यवहार्यम् एकात्मप्रत्ययसारम्'** यह ब्रह्मका वर्णन है, जिसमें सबकी एकात्मता बतायी है। हम सब मानव एक हैं, संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ अनेक प्रकारकी कही जाती हैं। वे छोटी निगाहोंसे भिन्न-भिन्न लगती हैं। लेकिन बड़ी निगाहसे देखनेपर ध्यानमें आता है कि मानवता सर्वत्र एक ही है और हमारे लिए वही परम मूल्य है। सबकी एकात्मता हो, यही उसका सार है। यह चीज आज व्यवहारमें नहीं आ सकती, ऐसा दीखेगा। एकात्मता उत्तरोत्तर आगे दौड़ती जा रही है। फिर भी समाज पहचानता है कि यह आज भले ही अव्यवहार्य हो, पर कलके लिए व्यवहार्य है।

त्रिविध कार्यक्रम

हमने अभिनव ग्रामदान, खादी और शांति-सेनाका 'त्रिविध कार्यक्रम' बनाया है। उस कार्यक्रममें हमें अपनी पूरी ताकत लगानी है।

१. ग्रामदान

हमने तय किया है कि ग्रामदानमें जमीनकी मालिकी ग्राम-सभाकी होगी। भूमिहीनोंको भूमिका हिस्सा देनेके बाद जो जमीन रहेगी, उसका वे उपयोग करते रहेंगे, पर उसकी मालकियत ग्रामसभाको समर्पित कर देंगे।

ग्रामदानमें प्रत्यक्ष समर्पण करना है। ग्रामसभाको मातृदेवता बनाकर समर्पण करना है और प्रसादके स्वरूप हमारे पास जो आये, उसका हमें सेवन करना है। यह एक भव्य, दिव्य और रमणीय कल्पना है। **'गुरु गुड़ दिया मीठा।'** मधुर गुड़ मुँहमें डाला तो फौरन् मधुरता महसूस होती है। उसकी कल्पना भी इतनी मधुर है है कि श्रवणमात्रसे उसके माधुर्यका अनुभव आता है। जिस कल्पनाके श्रवणमें इतना आनन्द होता है, उसके अमलमें कितना आनन्द होगा।

प्रेमसे हृदयमें प्रवेश

तेलंगानामें जब भूदानका आरम्भ हुआ, तब मैं कहता था कि 'आपको प्रेमसे लूटने आया हूँ।' यहाँ लूटनेकी दूसरी प्रक्रिया पहले हो चुकी थी, उसी सिलसिलेमें मैंने यह 'प्रेमसे लूटने' की बात चलायी। लेकिन अब कहता हूँ कि 'केवल प्रेम करने आया हूँ', उससे सबके हृदयमें प्रवेश मिलता है। किसी एक पक्षके सामने खड़े होकर हम केवल प्रेमका प्रहार करें, ऐसा नहीं, बल्कि उभय पक्षोंपर प्रेम किया जाय। इसका दर्शन हमें अभिनव-ग्रामदानमें होता है। अकसर समझा जाता है कि इससे हमने अपने विचारको निम्न गति किया, नीचे उतारा। लेकिन सोचता हूँ कि पहले हम पाँच करोड़ एकड़ जमीन हासिल करते और छठा हिस्सा जमीन माँगते थे। अब बीसवाँ हिस्सा माँगते हैं, तो उससे डेढ़ करोड़ एकड़ जमीन हो जाती है। लेकिन यह जो जमीन होगी, वह जोतकी जमीनका हिस्सा होगी, जब कि उस पाँच करोड़ एकड़में अच्छी और रद्दी भी जमीन मिलती थी। इसपर पूछा जायगा कि क्या यह कार्यक्रम पूरा हो सकेगा? यह तो उस पुराने कार्यक्रमके बारेमें भी पूछा जाता था। दोनों कार्यक्रम समान ही शक्य हैं या समान ही अशक्य। अलावा इसके एक बहुत बड़ी महत्त्वकी चीज इस कार्यक्रमके साथ जुड़ी है। वह यह कि हर साल अपनी फसलका बीसवाँ हिस्सा ग्रामसभाको मिल जाता है। इसमें सिर्फ जमीन ही नहीं, वरन् परिश्रमके साथ जमीन मिलती है, यह बहुत बड़ी चीज है।

इससे भी बड़ी चीज यह है कि इसमें सिर्फ दान नहीं, दान-धारा बहती है। एक दफा हमने दान दे दिया और काम हो गया, ऐसी बात नहीं। हर साल दान दिया जायगा, दानधारा बहेगी। इस तरह कुल प्रजाको—बच्चे, बूढ़े, बहनें, भाई सबको निरंतर शिक्षा मिलेगी। आज दुनियामें केवल भोग ही नहीं चलता, भोग-धारा बह रही है। इस पापकी निष्कृतिके लिए दान-धारा बहनी चाहिए और वह इसमें बहती है।

इसके अलावा इसमें और भी जमीन मिलनेकी गुंजाइश है, क्योंकि हम प्रेम-से हृदयमें प्रवेश करते हैं। जब ग्राम-समाजके सामने समस्या आयगी और अधिक जमीनकी जरूरत होगी, तब उतनी जमीन अवश्य मिलेगी। यह बात अनुभवसे कह रहा हूँ।

और अधिक भूदान

उड़ीसामें एक ग्रामदानका संकल्प-पत्र लेकर गाँववाले मेरे पास आये। गाँवमें जमीन कितनी है? बेजमीन कितने हैं? यह सारा हिसाब मैंने उनसे पूछा और उन्होंने बताया भी। मालूम हुआ कि वे बीसवें हिस्सेका जो दानपत्र लेकर आये, उतनेसे पूरा काम नहीं होता था, सब बेजमीनोंको जमीन नहीं मिल पाती थी। तब उन्होंने उसका दसवाँ हिस्सा कर दिया। हृदयमें प्रवेश करके जब हम सब कुछ गाँववालोंपर छोड़ देते हैं और वे ग्राम-स्वराज्य पूरा करनेमें अपनी जिम्मेवारी महसूस करते हैं, तो जितना देना जरूरी और शक्य होता है, उतना देते हैं।

फिर भी यह होता है कि हमने इसमें ग्राम-समाजको मालकियत समर्पण करने-को कहा है, लेकिन इसमें भूमिका समानीकरण करनेकी प्रक्रिया कुंठित की है। 'समा-नीकरण' शास्त्रीय शब्द है। इस तरहकी शंका होनेका कारण यह है कि जिनके हाथमें आज जमीन रहेगी, उन्हींके हाथमें रहनेवाली है। उनकी सम्मति और अनुमतिके बिना वह हस्तांतरित नहीं होगी। यही न्याय उनके वारिसोंपर भी लागू होगा। इससे लगता है कि इसमें हम एक तरहसे अपना मालकियत-विसर्जनका विचार सीमित करते हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। जब दानधारा बहेगी और ग्रामकी चिन्ता करनेकी जिम्मेवारी जारी रहेगी, साथ-साथ हमारा आन्दोलन भी जारी रहेगा, तो काम आगे बढ़ता जायगा।

क्रांतिकी प्रक्रिया

हम अहिंसाके आधारपर सोचते हैं, तो ध्यानमें आता है कि सच्ची क्रांतिकी प्रक्रिया अहिंसामूलक हो सकती है, हिंसामूलक क्रांतिकी प्रक्रिया अपक्रांतिकी प्रक्रिया है। उसकी प्रतिक्रियामेंसे अपक्रांति आ सकती है। हमें समझना चाहिए कि जिस

प्रक्रियामें फैलनेकी अधिक शक्ति भरी है, वह क्रांतिकी दृष्टिसे अधिक ग्राह्य है। इसमें हमने क्रांतिकी प्रक्रियाको कम नहीं किया, बल्कि बढ़ाया है। इसका और अच्छा तथा बेहतर सबूत क्या पेश किया जाय, सिवा इसके कि हम लोगोंमें क्रांतिकी प्रेरणा किसीसे कम नहीं, बल्कि अधिक है।

२. खादी

हम लोग सोच रहे हैं कि ग्रामदानकी पृष्ठभूमिमें सब लोग सूत कातें और द्विज बनें। अक्सर कहा जाता है कि महत्त्वकी चीजोंमें पहला नम्बर अन्नका है और दूसरा कपड़ेका। लेकिन ऐसा माना नहीं जाता। वस्त्र केवल शीत-रक्षाका ही नहीं, बल्कि शील-रक्षाका भी काम करता है। शीत-रक्षा तो उसका व्यावहारिक उपयोग है। हमारी संस्कृति है कि हम वस्त्र पहनते हैं, नग्नताको ढाँकते हैं। यह मानवताका संस्कार है। एक छोटी-सी लँगोटी हो तो भी चलेगा, लेकिन कुछ तो चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि कपड़ेका महत्त्व अन्नसे भी ज्यादा है।

भूदान-ग्रामदान और उद्योगका समन्वय

हम चाहते हैं कि हर गाँव अपने पाँवपर खड़ा हो, अपना अनाज पैदा करे, अपना कपड़ा बनाये। हमने खादी-कमीशनसे प्रार्थना की और उन्होंने इसपर सोचा। अभी सरकारके सामने योजना रखी गयी है और उसे सरकारने स्वीकार किया है, जिससे बुनाई मुफ्त होगी। यानी बुनाईका खर्चा सरकार देगी। यह कोई उसका उपकार नहीं है, बल्कि कर्तव्य है। गाँव-गाँवका बचाव करनेकी आज जो उसपर जिम्मेदारी है, सब प्रकारका माल सप्लाई करनेकी जो उसकी जिम्मेवारी है, उसमेंसे उसे थोड़ी-सी मुक्ति मिलेगी, उसकी थोड़ी चिन्ता दूर होगी और गाँव अपने पाँवपर खड़े होंगे।

सरकारने इसे मंजूर किया और ऊपरसे सुझाव आया कि ६ अप्रैलसे यह काम शुरू करो। यानी मंगल मुहूर्त भी बता दिया। उस दिनसे भारतमें जितने भाई-बहनें और बच्चे हैं, उनका सूत मुफ्त बुनवाया जायगा। तबतक सूत का ढेर लगाकर तैयार रखें, ताकि वह फौरन् बुना जा सके। उसका जो खर्चा सरकारपर पड़ेगा, वह बिलकुल ही तुच्छ है। हमने हिसाब लगा लिया कि भारतके दो-तिहाई लोग अपना कपड़ा खुद तैयार कर लेंगे। यह मानकर हिसाब करें तो जो खर्चा आयेगा, उससे शतगुना लाभ देशको मिलेगा। इसलिए यह चीज ग्रामदानके साथ जोड़नी चाहिए। भूदान-ग्रामदान 'सीता' है और उद्योग 'राम', तो फिर 'सीताराम' हो गया। यह सारा कार्यक्रम लेकर हम यहाँसे जा रहे हैं। अभी जो अम्बर-चरखा बना है, उसका उपयोग करो और गाँव-गाँवमें अपना कपड़ा बनाओ।

इससे भी बड़ी चीज यह है कि इसमें सिर्फ दान नहीं, दान-धारा बहती है। एक दफा हमने दान दे दिया और काम हो गया, ऐसी बात नही। हर साल दान दिया जायगा, दानधारा बहेगी। इस तरह कुल प्रजाको—बच्चे, बूढ़े, बहनें, भाई सबको निरंतर शिक्षा मिलेगी। आज दुनियामें केवल भोग ही नही चलता, भोग-धारा बह रही है। इस पापकी निष्कृतिके लिए दान-धारा बहनी चाहिए और वह इसमें बहती है।

इसके अलावा इसमें और भी जमीन मिलनेकी गुंजाइश है, क्योंकि हम प्रेम-से हृदयमें प्रवेश करते है। जब ग्राम-समाजके सामने समस्या आयगी और अधिक जमीनकी जरूरत होगी, तब उतनी जमीन अवश्य मिलेगी। यह बात अनुभवसे कह रहा हूँ।

और अधिक भूदान

उड़ीसामें एक ग्रामदानका संकल्प-पत्र लेकर गाँववाले मेरे पास आये। गाँवमें जमीन कितनी है? बेजमीन कितने हैं? यह सारा हिसाब मैंने उनसे पूछा और उन्होंने बताया भी। मालूम हुआ कि वे बीसवें हिस्सेका जो दानपत्र लेकर आये, उतनेसे पूरा काम नही होता था, सब बेजमीनोंको जमीन नहीं मिल पाती थी। तब उन्होंने उसका दसवाँ हिस्सा कर दिया। हृदयमें प्रवेश करके जब हम सब कुछ गाँववालोंपर छोड़ देते हैं और वे ग्राम-स्वराज्य पूरा करनेमें अपनी जिम्मेवारी महसूस करते हैं, तो जितना देना जरूरी और शक्य होता है, उतना देते हैं।

फिर भी यह होता है कि हमने इसमें ग्राम-समाजको मालकियत समर्पण करने-को कहा है, लेकिन इसमें भूमिका समानीकरण करनेकी प्रक्रिया कुंठित की है। 'समा-नीकरण' शास्त्रीय शब्द है। इस तरहकी शंका होनेका कारण यह है कि जिनके हाथमें आज जमीन रहेगी, उन्हींके हाथमें रहनेवाली है। उनकी सम्मति और अनुमतिके बिना वह हस्तांतरित नहीं होगी। यही न्याय उनके वारिसोंपर भी लागू होगा। इससे लगता है कि इसमें हम एक तरहसे अपना मालकियत-विसर्जनका विचार सीमित करते हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। जब दानधारा बहेगी और ग्रामकी चिन्ता करनेकी जिम्मेवारी जारी रहेगी, साथ-साथ हमारा आन्दोलन भी जारी रहेगा, तो काम आगे बढ़ता जायगा।

क्रांतिकी प्रक्रिया

हम अहिंसाके आधारपर सोचते हैं, तो ध्यानमें आता है कि सच्ची क्रांतिकी प्रक्रिया अहिंसामूलक हो सकती है, हिंसामूलक क्रांतिकी प्रक्रिया अपक्रांतिकी प्रक्रिया है। उसकी प्रतिक्रियामेंसे अपक्रांति आ सकती है। हमें समझना चाहिए कि जिस

खादीका ग्रामदानके साथ सम्बन्ध

अब संभव है कि लोग इस कार्यक्रमको भी अव्यवहार्य मानें। यह मशीन-युग कहलाता है। कहा जाता है कि मशीन-युगमे छोटा-सा औजार लेनेसे कैसे काम चलेगा? लेकिन अब पंडितजी (जवाहरलाल नेहरू) बोल रहे हैं, जब कि उन्होने देखा कि भारतके सबसे नीचे तबकेको अबतक ऊपर उठानेमें हम समर्थ नही हुए, सोलह सालके प्रयोगके बाद भी वह नही बन सका। योजना-कुशल लोगोको यह विश्वास न रहा कि जिस तरह यह सारा चल रहा है, उसी तरह चले तो और पचीस सालमें हम उन्हें ऊपर उठानेमें समर्थ हो सकेंगे। इस तरह चालीस साल बीतते चले जायँ और हम नीचेके तबकेको इतना भी न दे सकें, जितना कि देह-प्राणको इकट्ठा रखनेके लिए जरूरी है तो क्या कहा जाय? हरएकको जो न्यूनतम चाहिए, खाना, कपड़ा, छोटा-सा घर, काम करनेके लिए औजार और थोड़ा मनोरंजनका साधन, यानी बिलकुल न्यूनतम यानी कम-से-कम चालीस साल योजना चलनेके बाद भी हम उसे सुलभ नही कर सके, तो यह सर्वथा अशोभनीय होगा। कहा जाता है कि आज हमारे नेता यह महसूस कर रहे हैं। पंडित नेहरू-ने अभी जो यह कहा कि 'गांधीजी छोटे-छोटे औजारोंके जरिये करोड़ों हाथोंसे उत्पादन करानेकी बात सोचते थे, शायद वह तरीका अब अपनाना होगा', उसे सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई।

नेता समझने लगे हैं कि शायद यह करना पड़ेगा। वे मानने लगे हैं कि खादी-ग्रामोद्योग आदि भी हमारे देशकी रक्षाके लिए अत्यन्त जरूरी हैं। कम-से-कम पचास सालतकके लिए जरूरी हैं, ऐसा वे मानते हैं।

खादी : अहिंसाका प्रतीक

ग्रामीण खादी ही दरअसल सही खादी है। अभीतक जो चली, वह खादी नही। जिसके विषयमें दावा किया गया था कि यह अहिंसाका प्रतीक है, वैसी खादी अभीतक नहीं चली। अभीतक जो चली, उसमें अहिंसाका बहुत थोड़ा-सा हिस्सा है। कुछ तो है, लेकिन अंग्रेजीमें जिसे 'चैरिटी' कहते हैं, उतना ही है। संस्कृत-में जिसे 'करुणा' कहते हैं, उस स्वरूपका नही है। 'करुणा' याने वह चित्तवृत्ति, जो कुछ काम करनेकी प्रेरणा देती है, चुप बैठने नही देती। अबतकका काम अच्छा था। लेकिन अहिंसाका जो दावा है, वह सिद्ध करनेवाली खादी नहीं थी। चालीस-बयालीस साल हुए, फिर भी लोगोंमें जो एकता, चेतना लानी चाहिए थी, वह उसके द्वारा नही आयी। इसलिए यह नया विचार आया और बहुत खुशी-की बात है कि इसे सब लोगोंने स्वीकार कर लिया है।

जब मुझसे कहा गया कि हमारे अर्थ-मंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारीने कहा कि 'यह योजना ठीक है, इसे चलाओ', तो मुझे खुशी हुई। हम खादीकी,

इस योजनाको ग्रामदानके साथ जोड़ना चाहते हैं। ग्रामदानके बाद ग्रामसभा बनेगी। मजदूर, महाजन और मालिक तीनों 'मकार' उस ग्रामसभामें शामिल होंगे और तीनों मिलकर मजबूत सूतकी पक्की रस्सी बनेगी। तीनों मिलकर परिपुष्ट ग्राम बनायेंगे। घर-घर उद्योग पहुँचेगा और घर-घरमें खादी चलेगी।

ग्रामदानके साथ व्याज-निरसन, ऋण देना, व्याज न लेना, घटावकी तैयारी रखना, इसके साथ-साथ खादी और फिर शान्ति-सेना, यह सारा कार्यक्रम होगा।

३. शान्ति-सेना

तीसरी चीज है---शान्ति-सेना। इसके बिना हमारा गुजारा नहीं है। सर्वोदय-सम्मेलनके अध्यक्ष श्री जुगतरामभाईने विचार रखा है कि हर मनुष्य अपने जीवनमेंसे एक साल शान्ति-सेनाके लिए दे। यह पागलोंकी जमात किस तरह सोच रही है? उस बेचारेका घर है, पत्नी है, बच्चे हैं, उनकी सारी आसक्तियाँ हैं। उसमें बीचमें एक पच्चर हो गयी कि 'एक साल दो।' एक गृहस्थको अपने सारे माया-मोहसे अलग होकर एक-दो सालकी जेल काटना कठिन हो जाता है, इसमें कोई शक नहीं। यह कोई सामान्य वस्तु नहीं, बड़ी कठिन चीज है।

शान्ति-विचारके दीक्षित

फिर भी जुगतरामभाई यह विचार पेश कर रहे हैं कि हर कोई इस कामके लिए एक साल दे। उसके खाने-पीनेका इन्तजाम वे करेंगे। सालमें दो माह उसे शान्ति-सेनाकी तालीम देंगे और बाकी दस महीने काम। बीच-बीचमें काम देंगे। इस तरह सालभरकी ट्रेनिंग चलेगी। फिर उसे छोड़ देंगे कि अब समाजमें जाओ। वह खमीर बनेगा। उसके गुण-संपर्कसे समाजमें गुण-वृद्धि होगी। फिर दूसरे लोग भी इस कामके लिए आयेंगे। जहाँ अशान्ति होती है, वहाँ ये लोग काम करेंगे। जो लोग तालीम लेकर जायेंगे, वे अपनी जगहपर काम करेंगे और अपना-अपना धन्धा करेंगे। लेकिन उनके मनमें यह प्रेरणा रहेगी कि कहीं 'इमरजेन्सी' हो तो वे दौड़े आयेंगे। इस तरह शान्ति-विचारसे शिक्षित हजारों लोग समाजमें छोड़ दिये जायेंगे। उन्होंने यह कल्पना रखी है। हम उसमें कितना कर पायेंगे, यह अलग बात है। लेकिन इसके सिवा त्राण नहीं है, रक्षा नहीं है।

शान्ति-सेना : पंथसे परे

कल हमने शान्ति-सेनाकी रैली या पंक्ति देखी। उसमें कुछ नयी बातें हैं, ऐसा कुछ लोगोंको आभास होता है। बड़ी फजर जब हम उस पंक्तिको देखने जा रहे थे, तब शफी साहब मिले। हमने सहज पूछा कि 'अब पीला साफा पहननेमें बाकी

क्या रहा?' हँसते हुए उन्होंने जवाब दिया कि 'कोई कसर नही रही।' यह कहकर वे उठे और उन्होंने पीला साफा लगा लिया।

यह सब एक प्रेरणा काम कर रही है। लेकिन हम लोग केवल प्रेरणाशील नही, चिन्तनशील भी हैं। इसलिए कुछ लोगोंको लगता है कि पीला साफा वगैरह पहननेसे एक पंथ बन सकता है। मेरा खयाल है कि पंथका जितना वैरी मैं हूँ, उतना और कोई नहीं होगा। यद्यपि मैं निर्वैर हूँ, फिर भी पंथोंका वैरी हूँ। लेकिन कलके दृश्यसे बड़ा उत्साह मालूम हुआ। उसमें कोई पाथिक दर्शन नहीं हुआ। कहीं दंगा-फसाद हो रहा हो, सारा मामला अव्यवस्थित, अशांत हो और वहाँ शांति-सैनिक शांति-स्थापनाके लिए जा रहे हों, तो उनके लिए कुछ चिह्न चाहिए, यह अनुभवसे सिद्ध हुआ। दंगा मिटानेके लिए जो लोग जायँ, उनकी कुछ पहचान होनी चाहिए। इसलिए इसमें कोई सम्प्रदाय या पंथकी बात नही है। शांति-सेना सबसे परे है।

लोक-सम्मतिका निर्देशक : सर्वोदय-पात्र

हम चाहते हैं कि प्रत्येक गाँव और नगरमें शांति-सेना खड़ी हो। उसको हम विचार और प्रेमके सिवा और कुछ भी नही देनेवाले हैं। लेकिन इसके लिए हमने एक छोटी-सी चीज रखी है। अगर सर्वोदय-पात्र सर्वत्र रखे जायँ, तो शांति-सेनाके लिए अत्यंत निर्दोष आधार मिलेगा, क्योंकि अहिंसा प्रकट रूपसे चन्द लोगोंके जरिये भले ही काम करती हो, लेकिन कुछ जनता द्वारा काम करनेका अनुभव प्राप्त होनेपर सफलता मिलती है। तो, शांति-सेनाके कामके पीछे लोक-सम्मति-का बल है, जो सर्वोदय-पात्र द्वारा प्रकट होता है। यानी लोग काम करते हैं, ऐसा मान सकते हैं। अन्यथा वे पराधीन ही रहेंगे। जैसे सिपाहियोंके आधार-पर लोग पराधीन रहते हैं, वैसे ही शांति-सेनाके आधारपर भी रहेंगे तो काम नहीं चलेगा। इसलिए इसके पीछे लोक-सम्मति चाहिए। उसका निर्देशक है--सर्वो-दय-पात्र।

त्रिमूर्तिकी उपासना

ग्रामदान, खादी और शांति-सेना—इस त्रिविध कार्यक्रममें हमें लगना है। इस त्रिमूर्तिकी उपासना करनी है। लेकिन ये तीनों मिलकर एक हैं, यह समझ-कर यह उपासना करनी होगी। तीन टुकड़े करके सोचा जायगा, तो तीनों खतम हो जायेंगे। इसलिए यह एकरूप है, ऐसा समझकर काम करना होगा।*

---

* रायपुरके सर्वोदय-सम्मेलनमें किये गये २८ और २९ दिसम्बर १९६३ के प्रवचनोंसे।

१. आचार्य-कुल

प्राक्कथन

गत ७-८ दिसम्बर '६७ को पूसारोडमें बिहारके तत्कालीन शिक्षा-मंत्री श्री कर्पूरी ठाकुरने विनोबाजीके सान्निध्यमें बिहारके सभी विश्वविद्यालयोंके उप-कुलपतियों, प्राचार्यों एवं प्रमुख शिक्षा-विशारदोंकी एक विद्वत् परिषद्का आयोजन किया था, जिसे सम्बोधन करते हुए विनोबाजीने शिक्षकोंको अपनी स्वतंत्र शक्ति खड़ी करनेके लिए कृतसंकल्प होनेकी प्रेरणा दी। आपने कहा कि "शिक्षकोंके हाथमें सारे देशका मार्गदर्शन होना चाहिए। उन्हें देशमें व्याप्त दुःख, दारिद्रय, कलह और फूट तथा नित्यप्रति बढ़ती हुई हिंसाको दूर करनेमें अपना पराक्रम प्रकट करना चाहिए।"

पूसारोडसे विनोबाजी मुजफ्फरपुर आये। वहाँ बिहार-विश्वविद्यालयके उप-कुलपति एवं प्रमुख प्राध्यापकोंके बीच विश्वविद्यालयोंके अहातोंमें पुलिसके प्रवेश और हस्तक्षेपपर चर्चा करते हुए विनोबाजीने कहा कि इसकी मुझे व्यथा है, परन्तु युनिवर्सिटीके लोगोंने अपना 'कैम्पस' इतना छोटा क्यों माना, इसका मुझे आश्चर्य है। सारा भारत ही युनिवर्सिटी-कैम्पस है और उसमें पुलिस काम करती है तो वह आचार्यों एवं शिक्षकोंके लिए लांछन है। शिक्षकोंको शांति-शमनके लिए कृत-संकल्प होना चाहिए।

इन्हीं भावनाओंसे प्रेरित होकर मुजफ्फरपुरके अध्यापकोंने एक संकल्प-पत्र बनाया एवं १५० अध्यापकोंने निष्ठा-पत्रपर हस्ताक्षर किये। पटनामें भी शिक्षा-विदोंने इस निष्ठा-पत्रका स्वागत किया। विनोबाजी मुंगेर कॉलेजमें दस दिनोंतक रहे, तो वहाँके अध्यापकोंने भी एक संगठनकी रूपरेखा बनायी।

गत ६ मार्च '६८ को विनोबाजी भागलपुर पधारे। वहीं ८ मार्चको प्राचीन विक्रमशिलाके समीप कहोल मुनिके नामसे प्रसिद्ध कहल गाँवमें 'आचार्यकुल' की स्थापना की घोषणा विनोबाजीने की, जिससे शिक्षकोंके जीवन-निर्माणकी दिशामें एक नया आरोहण आरम्भ हुआ।

शिक्षकोंकी नैतिक प्रतिष्ठा बने और बढ़े एवं उनकी सामाजिक हैसियतका उन्नयन हो, न्याय-विभागकी भाँति शिक्षा-विभागकी स्वायत्तता सर्वमान्य हो, हिंसा-शक्तिकी विरोधी और दण्ड-शक्तिसे भिन्न लोक-शक्तिका निर्माण हो, विश्व-शांतिके लिए आवश्यक वृत्ति एवं दृष्टिकोण बने तथा शिक्षामें अहिंसक क्रांति-का श्रीगणेश हो, ऐसे कुछ उद्देश्योंसे 'आचार्यकुल' का प्रारम्भ हुआ है।

—कृष्णराज मेहता

१. शिक्षाकी समस्याएँ

इन दिनों मैंने सूक्ष्ममें प्रवेश किया है। स्थूलका प्रयोग पचास साल किया। फिर मनमें विचार आया कि सूक्ष्म संशोधन होना चाहिए। विज्ञानमें भी जबसे 'न्यूक्लीयर एनर्जी' (आणविक शक्ति) आयी है, तबसे ध्यानमें आया है कि स्थूल शस्त्रोंके बनिस्बत सूक्ष्म शस्त्र ज्यादा परिणामकारी होते हैं। जैसे उन्होंने विज्ञानके क्षेत्रमें सूक्ष्म शस्त्र निकाले, वैसे ही अध्यात्मके क्षेत्रमें भी सूक्ष्म-शोधन हो सकता है। उस दृष्टिसे मैंने सूक्ष्म कर्म-योगमें प्रवेश किया और जाहिर किया कि सार्वजनिक सभाओंमें अब नहीं बोलूंगा। वैसे बहुत बोल चुका हूँ। साढ़े तेरह साल पदयात्रा हुई, हर रोज औसत तीन तकरीरें तो हुईं। सालभरकी हजार तकरीरें, यानी १३ सालमें तेरह-चौदह हजार भाषण हो चुके। तो सार्वजनिक सभाओंमें बोलता नहीं। पत्रोंका जवाब नहीं देता हूँ। कोई मिलने आते हैं, और बात पूछ लेते हैं, तो जैसा सूझता है, समझाता हूँ।

एक दिन कर्पूरीजी आये और कहने लगे कि "यहाँ बिहारमें कई समस्याएँ हैं। उन सबपर सोचनेके लिए अगर शिक्षा-विशारद लोग आयेंगे तो क्या आप समय देंगे ?" तब ऐसा पूछनेपर यह कहना कि मेरे पास लोग आयेंगे, फिर भी मैं समय नहीं दूंगा, तो यह सूक्ष्म प्रवेश नहीं होगा, शून्य प्रवेश होगा। इसलिए मैंने कह दिया, "ठीक है भाई।" इस वास्ते आज आप सब शिक्षा-विशारदोंके सामने नम्रतापूर्वक कुछ विचार पेश कर रहा हूँ।

मैं तो ज्ञापक हूँ

मेरे विचार वर्षोंसे सोचे हुए और प्रयोगके बाद निश्चित हुए हैं। लेकिन फिर भी मैं यह अपेक्षा नहीं करता कि वे सब विचार सरकारको मान्य होंगे या विशारदोंको मान्य होंगे या जनताको भी पसंद होंगे। अपने विचारोंका मुझे कोई आग्रह नहीं है। अगर विचार लोगोंको जँचें, मान्य हों और लोगोंने उनपर अमल किया तो अच्छी बात है, नहीं जँचे और अमल नहीं किया तो भी कोई खास दुःखकी बात नहीं है। बाबा यह नहीं चाहता कि **'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्'** चले। वह यही चाहता है कि लोग सोचें, समझें और सोच-समझकर जैसा उचित हो, वैसा करें। यह मैंने इसलिए कहा कि एक पुराना वाक्य है, जो मेरी प्रवृत्तिके लिए अनुकूल है। **'ज्ञापकं शास्त्रं न तु कारकम्।'** जो शास्त्रकार होते हैं, वे हाथ पकड़कर करवाते नहीं। जैसे साइनबोर्ड रास्ता दिखाताभर है कि यह रास्ता यहाँसे दरभंगा जा रहा है, आपका हाथ पकड़कर वह आपको दरभंगा ले नहीं जायगा। जो शास्त्रीय वृत्ति रखता है, वह हमेशा ज्ञापक होता है, ज्ञापक यानी जतानेवाला, समझानेवाला, सुझानेवाला होता है।

वह कारक नहीं होता, यानी करानेवाला नहीं होता। तो यह मेरी वृत्ति है। इसलिए आपको निर्भयतापूर्वक मेरे विचार सुनने हैं।

भारतका शिक्षा-शास्त्र

आप जानते हैं कि इन दिनों यूरोप और अमेरिकामें अनेक नये शास्त्रोंकी खोज हुई है और वहाँसे हमको बहुत सीखना है, इसमें कोई शक नहीं। खास करके अनेकविध विज्ञानका विकास इन पाँच-पचास सालोंमें वहाँ बहुत ज्यादा हुआ है। वह तो हमको सीखना ही चाहिए, लेकिन फिर भी भारतकी अपनी भी कुछ विद्याएँ हैं और कुछ शास्त्र यहाँपर प्राचीनकालसे विकसित हैं। उन शास्त्रोंमें शिक्षा-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जिसका भारतमें काफी विकास हुआ था। ऐसा नहीं है कि उस सिलसिलेमें हमको कुछ सीखना नही है, सीखना तो है ही। बल्कि वेद भगवान्‌ने आज्ञा दी है : **'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'**—दुनियाभरसे मंगल विचार हमारे पास आयें। हम सब विचारोंका स्वागत करते हैं और यह नहीं समझते कि यह विचार स्वदेशी है या परदेशी है, पुराना है या नया है। हम इतना ही सोचते हैं कि वह ठीक है या बेठीक है। जो विचार ठीक है वह पुराना हो, तो भी लिया जाय। इसमें कोई शक नही कि हमको बहुत लेना है। लेकिन जो अपने पास है, उसे भी पहचानना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि जो यहाँका होता है, वह यहाँकी परिस्थिति और चारित्र्यके लिए अनुकूल होता है। यहाँका आयुर्वेद यहींकी वनस्पतिकी चर्चा करता है। इसलिए गाँव-गाँवमें उसका अधिक उपयोग हो सकता है। उसी तरह यहाँका बना हुआ जो शिक्षा-शास्त्र है, वह हमारे स्वभावके अनुकूल होनेके कारण हमें काफी मदद दे सकता है।

पातंजल योगशास्त्रम्

शिक्षा-शास्त्रके ऐसे जो ग्रन्थ संस्कृत भाषामें हैं, उन सबमें शिरोमणि ग्रन्थ है—पतंजलिका 'योगशास्त्र'। उसमें शिक्षाके विषयमें मानस और अतिमानस दोनों दृष्टियोंसे विचार किया गया है। 'साईकोलाजिकली' (मानसशास्त्रीय दृष्टिसे) सोचना शिक्षाके लिए बहुत जरूरी होता है। उसके बिना शिक्षा-शास्त्र शुरू नही होता। लेकिन शुरूके लिए यद्यपि मानसशास्त्रकी जरूरत होती है, तो भी उसकी आखिरी मंजिल क्या है, कहाँ तक ले जाती है, यह समझनेके लिए अतिमानस-भूमिकाका भी ज्ञान होना जरूरी होता है। पतंजलिने योगशास्त्रमें वृत्तियोंका परीक्षण करके वृत्तियोंके अनुकूल कैसे बरता जाय और वृत्तियोंसे परे कैसे हुआ जाय, ये दोनों बातें बतायी हैं। वृत्तियोंके अनुकूल अगर हम नही बरतते, तो संसारमें कोई कार्य नहीं कर सकते। इसलिए वृत्तियोंके अनुकूल सोचना पड़ता है। वृत्तियोंसे परे होकर अगर नहीं सोचते तो तटस्थ दर्शन होता

नहीं और इसलिए नजदीकके ही छोटे-से चिन्तनमें हम गिरफ्तार रहते हैं, तो दूर-दृष्टिका अभाव हो जाता है। इस वास्ते अतिमानस दृष्टिकी भी जरूरत रहती है और मानस दृष्टिकी भी जरूरत होती है। दोनों दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर पतंजलिने बहुत थोड़ेमें योगशास्त्रमें बात रखी है। इसपर अनेक भाष्य हुए हैं और यह योगशास्त्र आजतक विकसित होता आया है। भारतमें आज भी इसका विकास हो रहा है।

परमात्मा गुरुरूप

पतंजलि परमात्माको गुरुरूपमें देखते हैं। **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः'**—यह परमात्मा कौन है? अपने जो प्राचीन ज्ञानी हो गये हैं, उनका वह गुरु है। मुझे बहुत-सी भाषाएँ पढ़नेका मौका मिला है। लेकिन किसी धर्मग्रन्थमें या किसी मानस-शास्त्रीय ग्रन्थमें परमात्माको गुरुरूपमें मैंने नहीं देखा। परमात्माको प्रायः पिताके रूपमें तो देखा ही जाता है। **'पितासि लोकस्य'** इत्यादि कहा जाता है। परमात्मा के लिए **'फादर'**—यह तो क्रिश्चियानिटीमें हमेशा आता ही है। 'माता' के रूपमें भी आता ही है। लेकिन योगशास्त्रमें 'गुरु' के रूपमें देखा है। तो आप सारे लोग गुरुकी हैसियत रखते हैं, यह बहुत बड़ी बात है। परमात्मा गुरुरूप तो है ही, वह 'परमगुरु' है। वह हम सबको शिक्षा देता है। वैसा ही हमको उसका अनुकरण करके सीखना-सिखाना है। गुरु अत्यन्त तटस्थ होकर सिखाता है। उसके सिखानेकी जो दृष्टि है, वह तटस्थताकी है। वह कोई चीज लादता नहीं।

शिक्षाके लिए खतरा

परन्तु इन दिनों हमारे यहाँ या दूसरे देशोंमें सरकारी तौरपर जो कुछ भी प्रयत्न हो रहे हैं, वे ऐसे हो रहे हैं कि जिन-जिन विचारोंकी सरकारें बनी हुई होती हैं, वे अपने विचारोंका विद्यार्थियोंपर असर डालना चाहती हैं और अपनी पकड़में विद्यार्थियोंको रखना चाहती हैं। वे विद्यार्थियोंको अपने साँचेमें ढालना चाहती हैं। मान लीजिये कि कहीं कम्युनिज्मका राज हुआ, तो वहाँ कम्युनिज्मका आदर्श सिखाया जायगा। इतिहास-शास्त्र भी नये ढंगसे सिखाया जायगा। स्टालिनके जमानेमें रूसमें एक इतिहास-शास्त्र चलता था। जब स्टालिन पदच्युत हो गया, तब वहाँके गुरुओंने चार-छह महीने वह इतिहास सिखाना बन्द कर दिया। फिरसे नया इतिहास लिखा गया, जिसमें स्टालिन देवता नहीं रहा, दूसरे देवताका अधिष्ठान हुआ। यह नया इतिहास स्कूलोंमें पढ़ाया जाने लगा। आपको आश्चर्य होगा कि इतिहास भी क्या नया-नया बनता है? जो हुआ सो इतिहास। लेकिन यहाँ तो जो हुआ सो इतिहास नहीं रहा। यहाँ तो हम जो ध्यानमें रखना चाहते हैं, सो इतिहास। इसलिए हमारे अनुकल जो चीजें हैं, उन्हें रखना, जो प्रतिकूल चीजें

हैं, उन्हें छोड़ना और इस तरहका इतिहास बनाकर छात्रोंको पढ़ाना। अगर फासिज्म हुआ तो सारे विद्यार्थियोंको फासिज्म सिखाया जायगा। इसी प्रकारसे भिन्न-भिन्न राज्य-व्यवस्थाएँ आती हैं, तो वे अपने बने-बनाये विचारोंमें विद्यार्थियोंके दिमागोंको ढालनेकी कोशिश करती हैं। लोकशाहीपर यह सचमुच बहुत बड़ा संकट उपस्थित है। लोकशाही कहती है कि हर आदमीको एक वोटका अधिकार है। अरे भाई, वोटका, मतका अधिकार देते हो, तो मनन-स्वातंत्र्य भी तो होना चाहिए। अगर मनन-स्वातंत्र्य नही है तो एक हाथसे आपने वोटका अधिकार दिया और दूसरे हाथसे उसे निकाल लिया, इतना ही होगा। यह बहुत बड़ा खतरा सब देशोंमें मौजूद है और अपने देशमें भी है। अतः आप गुरुओंको सावधान होना चाहिए।

शिक्षकके तीन गुण

शिक्षकोंमें कम-से-कम तीन गुणोंकी आवश्यकता रहती है। एक गुण, जिसका उल्लेख श्री त्रिगुण सेनने किया, यह है कि विद्यार्थियोंपर उनका प्रेम होना चाहिए, वात्सल्य होना चाहिए, अनुराग होना चाहिए। यह शिक्षकोंका बहुत बड़ा गुण है। इसके बिना शिक्षक बन ही नहीं सकता। शिक्षकका दूसरा बड़ा गुण यह है कि उसे नित्य निरन्तर अध्ययनशील होना चाहिए। रोज नया-नया अध्ययन जारी रहे और ज्ञानकी वृद्धि सतत होती चली जाय। इस प्रकारसे उसे ज्ञानका समुद्र बनना है। उसे ज्ञानकी उपासना करनी है।

ये दो गुण शिक्षकमें सबसे पहले चाहिए। अगर आपमें वात्सल्य है और ज्ञान नहीं है तो आप उत्तम माता बन सकते हैं। माताओंमें वात्सल्य भरा होता है, पर ज्ञान होता ही है, ऐसा नही। परन्तु कुछ माताएँ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें ज्ञान भी होता है। कपिल महामुनिकी माता ऐसी ही हो गयी है, जिसे कपिल महामुनिने उपदेश दिया। ऐसी माताएँ और भी होंगी, लेकिन यों सामान्यतया माताओंसे ज्ञानकी अपेक्षा हम नहीं करते, प्रेम और वात्सल्यकी करते हैं। आपमें अगर वात्सल्य है और ज्ञान नहीं है तो आप प्रवृत्ति-परायण बन सकते हैं। माताके नाते उत्तम प्रवृत्ति आप कर सकते हैं। अगर आपमें प्रेम नहीं है, वात्सल्य नहीं है, तटस्थता है और ज्ञानकी साधना आप करते हैं, तो आप तत्त्वज्ञानी बन सकते हैं, विचारक बन सकते हैं, निवृत्तिनिष्ठ बन सकते हैं। देशको आपका बहुत बड़ा लाभ मिल सकता है, लेकिन आप गुरु नहीं बन सकते। इसीलिए गुरुके लिए जरूरी है निरन्तर चिन्तनशीलता—ज्ञानकी वृद्धि प्रतिदिन होती रहे। यह दृष्टि तथा शिष्योंके लिए अत्यन्त वात्सल्य और प्रेम, ये दो गुण तो गुरुमें होने ही चाहिए।

गुरुमें एक तीसरा गुण भी होना चाहिए। इन दिनों विद्यार्थियोंके दिमागपर राजनीतिका बड़ा आक्रमण है, और ये विद्यार्थी शिक्षकोंके हाथमें हैं। यदि शिक्षक

ही राजनीतिमें रँगे हों और राजनीतिका वरदहस्त उनके सिरपर पड़ा हो तो समझना चाहिए कि गंगामैया समुद्रकी शरण गयीं, लेकिन समुद्रने उसे स्वीकार नहीं किया। तो जो हालत गंगाकी होगी, वही हालत विद्याकी होगी। विद्या प्रोफेसरोंकी, आचार्योंकी और शिक्षकोंकी शरण गयी और उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया। राजनीतिके खयालसे ही सोचा। समझना चाहिए कि शिक्षकोंका बहुत बड़ा अधिकार है, इसलिए वे सब राजनीतिसे मुक्त रहें। मान लीजिये कि कोई अस्पतालका सेवक है, जो कांग्रेस या किसी राजनैतिक नेताका दोस्त है। यदि वह पार्टी-पॉलिटिक्सका खयाल करके रोगीकी पक्षपातपूर्ण सेवा करता रहेगा, किसीको ज्यादा और किसीकी कम, तो वह अस्पतालकी सेवाके लिए नालायक है। अस्पतालकी सेवा करनेवाला जो आदमी है, उसे पक्षमुक्त होना चाहिए। यदि वह पक्षयुक्त है तो समझना चाहिए कि उस कामके लिए वह लायक नहीं है। इसी प्रकार न्यायाधीशको लीजिये। क्या कोई न्यायाधीश किसी पक्षका हो सकता है? न्यायमें क्या पक्षपात कर सकता है? नहीं कर सकता। असेम्बलीके स्पीकर—अध्यक्ष—क्या किसी पक्षका पक्षपात कर सकते हैं? नहीं कर सकते। अगर उन्होंने किया तो गलत माना जायगा। यही हैसियत शिक्षकोंकी है। अगर शिक्षक राजनीतिमें पड़े हुए हैं, तो समझना चाहिए कि वे कर्ता नहीं हैं, कर्म हैं। उनको करनेवाले दूसरे कर्ता हैं, और वे उनके कर्म हैं। उनके हाथमें कर्तृत्व नहीं है। वह कर्मणि प्रयोग है, कर्तरि प्रयोग नहीं। उस हालतमें शिक्षकका व्यवसाय बेकार हो जायगा। उसका अपना जो स्थान है, वह नहीं रहेगा।

सबके लिए एक-से विद्यालय

प्राचीनकालमें शिक्षाकी यह स्थिति नहीं थी। भगवान् कृष्णकी कहानी है। कृष्णने देशको कंससे मुक्ति दिलायी। भारतमें इतना बड़ा पराक्रम उन्होंने अपने बचपनमें ही किया। फिर उनके पिताजीको याद आया कि इसको तालीम नहीं मिली है और इसके पास कोई डिग्री भी नहीं है। इस वास्ते इसे किसी गुरुके पास भेजना चाहिए। तब गुरुके पास तालीमके लिए भेज दिया। गुरुने सोचा कि "यह एक महान् अवतार है। इसके हाथसे कंस-मुक्ति हो गयी। इसे तालीम देनेके लिए मेरे पास भेजा है। अच्छी बात है। इसे देंगे तालीम।" ऐसा सोचकर उसे एक गरीब ब्राह्मण विद्यार्थीके क्लासमें रखा और दोनोंको कहा कि तुम दोनों जंगलसे लकड़ी चीरकर लाना। यह ब्राह्मण अत्यन्त दरिद्र था। इसका नाम था सुदामा। कृष्ण था एक महान् राजपुत्र। दोनोंको एक ही क्लासमें रखा। यह नहीं कि अमीरके लिए पब्लिक स्कूल और गरीबके लिए दूसरा स्कूल। इन दिनों ऐसा होता है कि कुछ लोगोंके लिए 'पब्लिक स्कूल' होता है। 'पब्लिक स्कूल' वह, जहाँ 'पब्लिक' नहीं जा सकती! वैसा भेद तो उस गुरुने किया नहीं और दोनोंको

शरीर-श्रम (फिजिकल लेवर) का वरावरका काम दे दिया। दोनोंने यह काम अच्छी तरह किया और दोनोंको गुरुने छह महीनेमें सर्टिफिकेट दे दिया। कृष्णसे कहा—"तुम्हारा काम वहुत अच्छा रहा, ज्ञानी तो तुम हो ही, केवल मेरा आदर वढ़ानेके लिए तुम आये थे। लेकिन तुमने सेवाका वहुत अच्छा काम किया और जो सेवाका काम करता है, उसे जरूर ज्ञान मिलता है। इसलिए सारा ज्ञान तुम्हारे पास पहुँच चुका। अव मैं तुम्हें विदा करता हूँ।" फिर कृष्ण भगवान् गुरुको नमस्कार करने गये। गुरुने कहा—"मुझसे कुछ माँग लो।" कृष्णने सोचा—"क्या माँगें?" उन्होंने माँगा—**"मातृहस्तेन भोजनम्"**—मुझे मरनेतक माताके हाथसे भोजन मिले।

शिक्षा-विभाग शासनसे ऊपर

यह सारी कहानी मैंने इसलिए सुनायी कि अपने यहाँ जो कुछ विचार था, उसमें राज्य-सत्ताकी सत्ता गुरुपर नहीं थी। गुरु उससे परे था। तो होना तो यह चाहिए कि जिस तरह न्यायालय शासनसे विलकुल ऊपर है, और जहाँ ठीक लगे, वहाँ शासनके खिलाफ भी निर्णय ले सकता है, उसी तरह शिक्षा-विभागको भी शासनसे ऊपर होना चाहिए। न्याय-विभागको शासनकी तरफसे तनख्वाह मिलती है, लेकिन फिर भी उसपर शासनका अंकुश नहीं है। यह बात न्याय-विभागके बारेमें जिस तरह मान्य हो गयी है, उसी तरह शिक्षाके बारेमें भी मान्य होनी चाहिए। तव शिक्षा पनपेगी। अगर यह वात ध्यानमें आये कि आजकल हम राजनीतिज्ञों-की पकड़में हैं, तो उस पकड़से छूटे विना शिक्षाका कोई मसला हल नहीं होगा।

तालीमका पुराना ढाँचा अशोभनीय

पुरानी बात है, १९४७ के १५ अगस्तकी—स्वातंत्र्य-दिवसकी। मैं उन दिनों वर्धाके नजदीक पवनारमें रहता था। लोगोंने मुझको व्याख्यान देनेके लिए वर्धा बुलाया। मैंने उनसे पूछा कि "देखो भाई, स्वराज्य मिल गया। तो क्या पुराना झण्डा एक दिनके लिए भी चलेगा?" वे बोले, "नहीं चलेगा।" अगर पुराना झण्डा चले तो उसका अर्थ होगा कि पुराना राज्य ही चल रहा है। जैसे नये राज्यमें नया झण्डा होता है, वैसे ही नये राज्यमें नयी तालीम चाहिए। अगर पुरानी ही तालीम चली तो समझना चाहिए कि अभी भी पुराना राज्य ही चल रहा है, नया राज्य आया ही नहीं। गांधीजीने दूरदृष्टिसे 'नयी तालीम' नामकी एक पद्धति सुझायी—और वह गांधीजीने सुझायी, इसलिए मान्य करनी चाहिए, ऐसी बात नहीं। इसकी जिम्मेदारी हमपर नहीं कि वह बात हमें वैसी-की-वैसी माननी चाहिए, न गांधीजी स्वयं वैसा मानते थे कि उनकी चीज वैसी-की-वैसी मानें।—अगर मेरे हाथमें राज्य होता—जिसके होनेका सम्भव था नहीं, और अव तो है ही नहीं,—लेकिन अगर मेरे हाथमें राज्य होता तो सारे विद्यार्थियोंको मैं

तीन महीनेकी छुट्टी देता और कहता कि खेल-कूद लीजिये, जरा मजबूत बनिये, जरा खेती-उद्योगका काम कीजिये, स्वराज्यका आनन्द भोगिये, और इस बीच शिक्षा-शास्त्रियोंका सम्मेलन कराया जायगा और उनसे कहा जायगा कि तीन महीनेके अन्दर उन्हें हिन्दुस्तानकी तालीमका ढाँचा तैयार करना होगा। वह तैयार हो जायगा तो तालीम शुरू हो जायगी। अगर मेरी चलती तो मैं ऐसा करता। इसके वदले एक पंचवार्षिक, दो पंचवार्षिक, तीन पंचवार्षिक, चार पंचवार्षिक योजनाएँ चलीं, और तालीमका ढाँचा पुराना-का-पुराना ही रहा। कोई वदल नहीं।

आजकलकी सरकार कहती है कि शिक्षाके वारेमें वड़े-वड़े प्रश्न हैं। 'एजुकेशन'—शिक्षा—का 'एक्सप्लोजन' हुआ है। भारतमें शिक्षाका वहुत ज्यादा विस्तार हुआ है। इसलिए नयी-नयी समस्याएँ हमारे सामने आ खड़ी हैं। तो मैं पूछता हूँ: "क्या अच्छी वस्तुका कहीं 'एक्सप्लोजन' होता है? अगर शिक्षाका 'एक्सप्लोजन' हुआ है, तो मतलव यह है कि शिक्षा कोई वुरी चीज है। आज दरअसल ऐसा है। आज भारतकी हालत ऐसी है कि अगर आप तालीम वढ़ाते नहीं तो लोग वेवकूफ रहेंगे, और अगर तालीम वढ़ाते हैं तो वेकार वनेंगे। अव या तो वेवकूफ रहो, या वेकार वनो। दोमेंसे एक तो वनना ही पड़ेगा। दोनोंमेंसे आप क्या मंजूर करेंगे? आप देख लीजिये।" यह वात मैंने जाकिर साहवके सामने रखी, जव वे पिछली वार हमसे मिलने आये थे। वोले, "विनोवाजी, आपने कहा, जिनको यह तालीम मिलती है, वे वेकार वनते हैं। वे सिर्फ वेकार नहीं वनते, वेकार भी वनते हैं, वेवकूफ भी वनते हैं।" मेरी वातमें इतना उन्होंने सुधार कर दिया। उन्होंने कहा कि अशिक्षित लोग वेवकूफ और शिक्षित लोग वेकार, ऐसा नहीं। अशिक्षित लोग वेवकूफ हैं और शिक्षित लोग वेवकूफ और वेकार दोनों हैं। इस वास्ते शिक्षाका ढाँचा तुरत वदलना चाहिए था। जो हुआ सो हुआ, अव तो वदलना चाहिए।

शिक्षाकी समस्या

कहा जाता है कि भारतमें शिक्षाकी वड़ी समस्या है। मैंने कहा कि शिक्षा वह चीज है, जिससे समस्याओंका हल होता है, पर यहाँ तो शिक्षा भी समस्या हो गयी है! ऐसा क्यों? अव क्या कहा जाय? इसका कारण है—राज्यके हाथमें शिक्षा चली गयी। जो अधिकार आपने शंकराचार्यको नहीं दिया, जो अधिकार आपने तुलसीदासको नहीं दिया, वह अधिकार आपने शिक्षा-संचालकको दे दिया। वह कोई भी किताव वनायेगा, वह पाठ्यपुस्तकके रूपमें सारे प्रान्तमें चलेगी। हर लड़केको वह किताव पढ़नी पड़ेगी। जमशेदपुरसे जयनगरतक और दुमकासे दुर्ग्वतीतक, सारे विहारमें एक ही किताव चलेगी। अगर वच्चे ठीक

अध्ययन नहीं करेंगे, तो फेल होंगे। शिक्षाविभागवाले आदमियोंने जो किताब तय कर दी, जो पास कर दी, उसे पढ़ना पड़ेगा। यह अधिकार आपने न शंकराचार्यको दिया, न तुलसीदासको। तुलसीदासजी यह नहीं कर सके कि जबरदस्ती हरएकको रामायण पढ़नी पड़ेगी। काफी लोग रामायण पढ़ते हैं, पर अपनी स्वेच्छासे पढ़ते हैं। परन्तु यह अनिवार्य किताब सबको पढ़नी ही पड़ेगी, शिक्षा-अधिकारीकी आपने इतनी योग्यता मानी !

सार इसका यह है कि हरएकका अपना-अपना स्थान होता है। शिक्षाका सारा-का-सारा क्षेत्र शासनमुक्त होना चाहिए। इसे मुक्त रखना आपके अधिकारमें है। आप स्वयं मुक्त हो जायँ, तो शिक्षा भी मुक्त हो जाय।

शिक्षा : ज्ञान और कर्मका योग

गांधीजीने, कृष्णने, पतंजलिने, सबने हमें सिखाया कि ज्ञान और कर्म के दो टुकड़े नहीं होने चाहिए। ज्ञान कर्मसे अलग नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा हुआ कि कुछ लोगोंके पास ज्ञान और कुछ लोगोंके पास कर्म हो, तो राहु-केतुका समाज बनेगा। राहु यानी सिर-ही-सिर, उसको रुण्ड नहीं, सिर्फ मुण्ड। और केतु यानी रुण्ड-ही-रुण्ड, नीचेका हिस्सा, उसके मुण्ड ही नहीं। देहातके सारे लोग केतु बनेंगे और शहरके लोग राहु बनेंगे। ऐसा राहु-केतु-समाज बना तो बड़ी मुश्किल होगी। देशमें पहलेसे ही जातिभेद है, प्रांतभेद है, भाषा-भेद है। एक नया पक्ष-भेद और दाखिल हो जायगा। इसमें अगर यह भी एक भेद हो जाय कि कुछ लोग तो काम ही काम करें, कुछ लोग ज्ञान ही ज्ञान हासिल करें—ज्ञानवालेको काम नहीं, कामवालेको ज्ञान नहीं, काम करनेकी शक्ति किसानके हाथमें और ज्ञानकी शक्ति शहरवालेके हाथमें—तो क्या हालत होगी ? इस वास्ते अगर उत्पादन बढ़ाना है, पराक्रमका काम करना है, विकास करना है, तो ज्ञान और कर्मको इकट्ठा होना चाहिए। गांधीजीके कहनेका तात्पर्य यही था।

आश्चर्यकी बात है कि यह जो गांधीजीकी बात है, उसका स्वीकार भारतमें अभीतक नहीं हुआ, लेकिन चीनने उसका पूरा स्वीकार कर लिया। गांधीने कहा और चीनने सुना। गांधी और माओ इस मामलेमें एकमत हो गये। चीनवासियोंने सारे देशके तमाम लोगोंको एक ही स्कूलमें रखा है। उन्होंने बड़े-बड़े स्कूल नहीं बनाये। उन्होंने अपने स्कूलका नाम दिया 'हाफ-हाफ स्कूल'। उसमें तीन घंटे काम करना पड़ेगा और तीन घण्टे पढ़ना पड़ेगा। वहाँ तो कम्युनिज्म है। जो बात कहते हैं, उसपर फौरन् अमल करते हैं। यह कम्युनिज्मका एक बहुत बड़ा गुण है। इधर हम लोग हमेशा डाँवाडोल रहते हैं, सोचते रहते हैं, चिन्तन करते रहते हैं, कानून बनाते रहते हैं। तो चीनमें सब-के-सब एक ही स्कूलमें पढ़ते हैं। वे कन्धेसे कन्धा लगाकर काम करते हैं। बराबरीके नातेसे आपसमें

वर्ताव करते हैं। ऊँच और नीचका भेद वहाँ खतम है। सभीको कर्म और ज्ञान, दोनों मिलता है। यह और बात है कि उनका कम्यनिज्मवाला और सोशलिज्म-वाला ज्ञान रंगीन होता है। परन्तु सबको ज्ञान, सबको काम, दोनों आधा-आधा, —यह चीज चीनवालोंने की। यहाँपर भी हमें इस वातका आयोजन करना होगा कि हमारे सब बच्चोंको काम और ज्ञान समान रूपसे मिले। जैसे कृष्ण भगवान् सारथी होनेके लिए भी तैयार हैं, लड़नेके लिए भी तैयार हैं, 'भगवद्गीता' कहनेके लिए भी तैयार हैं, गुरु बननेको भी तैयार हैं, शिष्य बननेको भी तैयार हैं। अर्जुनसे कृष्ण भगवान् १९ साल बड़े थे। अर्जुन कृष्णसे पूछता है—"क्यों भैया, मेरा सारथी—शोफर बनेगा ? तब तो मैं लड़ सकता हूँ।" भगवान् कृष्णको सारथी बननेके लिए कहना कितनी विलक्षण बात है! लेकिन कृष्ण भगवान् इतने नम्र थे कि उन्हें लेशमात्र भी अहंकार नहीं था। हर कोई उनको काम वता सकता था। तो वे सारथी बन गये। अर्जुन क्षत्रिय था। युद्ध समाप्त होता, तो शामको सन्ध्यावन्दन करता था। उधर कृष्ण भगवान्का काम था अर्जुनके घोड़ेकी मालिश करना। उनकी सन्ध्योपासना यही थी। यह सारा दृश्य आपको महाभारतमें मिलता है। जैसे भगवान् कृष्ण दोनों शक्तियोंसे सम्पन्न हो गये, जैसे व्यास भगवान् दोनों शक्तियोंसे सम्पन्न हो गये, वैसे ही हमारे सारे शिक्षा-शास्त्रियों और विद्यार्थियोंको दोनों शक्तियोंसे संपन्न होना चाहिए, तब अपना काम बनेगा।

मजहब और राजनीतिके स्थानपर अध्यात्म और विज्ञान

एक और बात। मुझे उत्तम प्रचारक मिले थे—पण्डित जवाहरलाल नेहरू। रूसमें, अमेरिकामें, जहाँ-जहाँ भी गये, उन्होंने कहा कि बाबाका (विनोबाका) कहना है कि विज्ञान और अध्यात्म दोनोंको इकट्ठा होना चाहिए। 'पॉलिटिक्स एण्ड रिलीजन आर आउटडेटेड'—राजनीति और धर्म अब पुराने पड़ गये। उनके दिन लद गये। धर्म-पन्थोंके दिन लद गये। भिन्न-भिन्न धर्मोंकी जगह अध्यात्म आना चाहिए और राजनीतिकी जगह विज्ञान आना चाहिए, तब काम होगा। पंडितजीने इस विचारका खूब प्रचार किया।

मेरा खयाल है कि पटनामें उनका एक व्याख्यान हुआ था, जिसे मैंने अखबारमें पढ़ा था। उसमें उन्होंने कहा था कि "मैं यद्यपि राजनीतिमें मुब्तिला हूँ, तो भी बाबाके विचारोंको स्वीकार करनेकी मेरी इच्छा होती है। राजनीति छोड़नी होगी, धर्मपंथ छोड़ने होंगे। व्यापक विज्ञान और व्यापक अध्यात्म स्वीकार करना होगा, तभी बुनियादी मसले हल होंगे।" अन्यथा क्या होगा ? राजनीतिज्ञ एकताके लिए जो काम करेंगे, वे फूट डालनेवाले होंगे। उन्हें सूझता नहीं कि उन्होंने क्या किया। उन्होंने बंगला भाषाके दो टुकड़े कर दिये। उर्दूके दो टुकड़े कर दिये। पंजाबीके दो टुकड़े कर दिये। जोर्डन, कोरिया, बर्लिनके

जमानेका अत्यन्त ज्ञानी। जो महान् ज्ञानी है, उसका नाम है विदुर। विदुर इतना बड़ा ज्ञानी था कि पाणिनिको उसके लिए स्वतंत्र सूत्र बनाना पड़ा : '**यथा विदुरभिदुरौ**।' 'विदुर' और 'भिदुर', दो खास शब्द हैं। 'विद्' धातुको 'उर' प्रत्यय लगाकर 'विदुर' शब्द बनता है। जो अत्यंत ज्ञानी, महाज्ञानी, उसका नाम विदुर। फिर भिदुर यानी अत्यन्त भेदन करनेवाला, प्रखर भेदन करनेवाला। एक है 'विदुर', एक है 'भिदुर'। दो शब्द हैं संस्कृतमें। ऐसे दोनोंको इकट्ठा करके पाणिनिने सूत्र बनाया—'**यथा विदुरभिदुरौ**।' इतना महान् ज्ञानी भी विस्मित हो गया, निर्णय नहीं ले सका। आजका बच्चा भी निर्णय देगा—"स्त्री क्या कोई सम्पत्ति है, जो द्यूतमें लगा सकते हैं ? बिलकुल गलत काम।"

तो सार यह है कि पुराने जो विचारक हो गये हैं, उनके विचारोंको जैसा का तैसा सनातन धर्मके नामपर स्वीकार कर लेनेमें सार नहीं है। इसमें अध्यात्मका आधार लेना चाहिए।

अपने यहाँ क्या होता है ? अध्यात्म-विद्याका तो अपने यहाँ स्कूलोंमें कोई सवाल ही नहीं। एक चीज है 'सेक्युलर' (धर्मनिरपेक्ष) के नामसे। 'सेक्युलरिज्म' (धर्मनिरपेक्षता) है, इसलिए रामायण सिखा नहीं सकते, बाइबिल सिखा नहीं सकते, कुरान सिखा नहीं सकते। फिर क्या सिखा सकते हैं ? इसके लिए अंग्रेजीमें एक सुन्दर शब्द है—'लिटरेचर' (साहित्य) के तौरपर रामायणका 'पीस' (अंश) हो सकता है। ऐसा 'पीस'-'पीस' लेकर कोई अध्यात्म बनेगा ? तो हमारे यहाँ जो सर्वोत्तम साहित्य है, वह सबका सब त्याज्य हो जाता है, क्योंकि यह सब 'सेक्युलरिज्म' में नहीं आता है। यह 'सेक्युलरिज्म' का गलत खयाल है। सर्वोत्तम अध्यात्म-विद्या जो भारतमें थी, उसका अध्ययन-अध्यापन स्कूलोंमें होना चाहिए और उसके साथ-साथ वर्तमान विज्ञानका भी अध्ययन होना चाहिए।

छात्रोंकी अनुशासनहीनता

विद्यार्थियोंके बारेमें मैं ज्यादा नहीं कहूँगा, क्योंकि अपने यहाँ एक सूत्रमें सारा उत्तर दे दिया है—'**शिष्यापराधे गुरोर्दण्डः**'। यदि शिष्यसे कोई अपराध हुआ है तो गुरुको डण्डा। इस वास्ते विद्यार्थियोंके कितने भी अपराध हों, उनके गुनहगार शिक्षक लोग हैं। यह अपने यहाँका न्याय है। अगर तालीम ठीक रही और विद्यार्थियोंको शिक्षामें कोई लक्ष्य मालूम हुआ, तो निश्चय है कि वे अध्ययन अच्छा करेंगे, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन आजकी हालत तो यह है कि उनकी सारी शिक्षा लक्ष्यहीन (पर्पजलैस) है। सीखकर क्या करना है, उनको मालूम ही नहीं। इसलिए उनके बारेमें मैं अभी कुछ नहीं कहूँगा।

भाषाका प्रश्न

एक बात और। और वह है भाषाकी। मुझे भाषाओंके लिए अत्यन्त प्रेम है। कोशिश करके मैंने अनेक भाषाओंका अध्ययन किया। हिन्दुस्तानके संविधानमें १५ भाषाओंके नाम हैं। उन सब भाषाओंका अध्ययन बाबाको हुआ है। उसके बाद फारसी और अरबी,——इन दोनों भाषाओंका भी अच्छा अध्ययन बाबाको है। अरबी भाषाका तो बाबा पंडित ही कहा जायगा। उसने कुरानका एक सार भी निकाला है। उसके अलावा चीनी और जापानी भाषाओंके अध्ययनकी भी बाबाने थोड़ी कोशिश की है। जापानके एक भाई हमारी यात्रामें आये थे। उन्होंने महीनों मुझे जापानी सिखायी। मेरे ध्यानमें आया कि यदि नागरी लिपि भारतमें चलेगी तो जापानके लोग भी नागरी लिपि स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि वे लिपिकी तलाशमें हैं। जापानीमें एक बड़ी बात मैंने यह पायी कि उस भाषाकी रचना भारतीय भाषाके जैसी है, न कि यूरोपियन भाषाके जैसी। उसमें मेरा थोड़ा ही ज्ञान है। थोड़ा ज्ञान प्रेमके लिए पर्याप्त है, ज्ञानके लिए पर्याप्त नहीं। फिर हमने चीनी भाषाके अध्ययनकी कोशिश की। उसके लिए एक चीनी भाई भी मेरे पास आये थे। शब्दकोष भी बहुत बड़े-बड़े मेरे पास आये थे। चीनी बड़ी विकट भाषा है। छोटे-छोटे शब्दोंमें पूरा वाक्य बन जाता है। बड़ी सुन्दर भाषा है। इसकी एक खूबी यह है कि वह चित्र-लिपिकी भाषा है और चित्र-लिपि-के नाते उसमें हजार-बारह सौ 'सिम्बल' (चिह्न) हैं। ये सारे 'सिम्बल' सीखने-के बाद भाषा आती है। चीनमें अनेक भाषाएँ हैं। लेकिन उनकी एक लिपि——चित्र-लिपि होनेसे उस लिपिपरसे चीनी लोग अपनी-अपनी भाषाएँ पढ़ लेते हैं।

सभी भाषाओंके प्रति आदर

तात्पर्य यह है कि मैंने भाषाओंके लिए परिश्रम किया है और मुझे भाषाओंके विषयमें बड़ा आदर है। अंग्रेजी तो मैंने थोड़ी सीखी ही है, थोड़ी फ्रेंच भी सीखी है। मेरी पदयात्रामें एक जर्मन लड़की आयी, तो उससे जर्मन सीख ली। इंग्लिश और फ्रेंच दोनों आती हैं, इसलिए जर्मन सीखनेमें ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ा। महीनेभरके अन्दर जर्मन आयी। दोनों-तीनों भाषाओंकी रचना समान है। उसके बाद लैटिनका भी थोड़ा अभ्यास किया। पुरानी संस्कृत लैटिनके नजदीक पड़ती है। मैंने समझा कि काफी अध्ययन कर लिया, बस है। लेकिन एक दिन एक भाई आये और बोले——"अध्ययन तो आपने काफी किया, लेकिन एक नयी भाषाका अध्ययन नहीं किया। इस वास्ते आपका ज्ञान बहुत ही कमजोर है। आपको 'एस्पिरेण्टो' सीखनी चाहिए।" मैंने कहा कि शिक्षक मिल जाय तो मैं 'एस्पिरेण्टो' भी सीख सकता हूँ। यूगोस्लावियाने एक शिक्षक भेजा। मैं उन दिनों

पंजावमें पदयात्रामें था। वह शिक्षक मेरे साथ पदयात्रामें रहा और मैंने २० दिनमें 'एस्पिरेण्टो' सीख ली। यह कहानी मैंने इसलिए सुनायी कि मुझे सभी भाषा-ओंके प्रति अत्यन्त आदर है। आज भी यदि कोई भाषा सिखानेवाला मिल जाय और जरूरत पड़े तो नयी भाषा सीख सकता हूँ। इस वास्ते भाषाके वारेमें मैं जो कहूँगा, उसमें किसी भाषाके वारेमें कोई 'प्रीजुडिस' (पूर्वाग्रह)—अनु-कूल या प्रतिकूल—मेरे दिलमें होगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए। ऐसा है नहीं।

सर्वाङ्ग-दर्शन जरूरी

अंग्रेजीके वारेमें मैं एक वात कहना चाहता हूँ। वहुत लोगोंको लगता है कि अंग्रेजीके विना शिक्षा वहुत अधूरी रहेगी, क्योंकि दुनियाके लिए वह एक खिड़की है। मै यह वात मानता हूँ। लेकिन मैंने ऐसे घर देखे है कि उनमें एक ही दिशामें एक ही खिड़की थी। तो घरवालोंको विश्व-दर्शन नहीं होता था, एक तरफका ही दर्शन होता था। वैसे अगर आप एक ही 'खिड़की' रखेंगे तो सर्वांग-दर्शन नहीं होगा, एक ही अंगका दर्शन होगा। आपको कम-से-कम ७ 'खिड़कियाँ' रखनी होंगी—इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन, रशियन ये चारों यूरोपकी, चीनी और जापानी, ये दो सुदूरपूर्वकी, और एक अरवी—ईरानसे लेकर सीरियातकका जो क्षेत्र है, उसके लिए—तो इस तरह ७ 'खिड़कियाँ' आप रखेंगे तो ठीक होगा। अन्यथा एक 'खिड़की' आपने रखी तो वहुत ही एकांगी दर्शन होगा और दुनियाका सम्यक्-दर्शन नहीं होगा, गलत दर्शन होगा। हम उस भाषाके अधीन हो जायेंगे और स्वतन्त्र वुद्धिसे सोचनेका हमें मौका नहीं मिलेगा।

यह मैं मान्य करता हूँ कि हमारे यहाँ अंग्रेजी सिखानेकी काफी अच्छी सहूलियत है। इस वास्ते अंग्रजी सीखनेवाले लोग ज्यादा निकलेंगे, दूसरी भाषाके कम निकलेंगे। लेकिन इन सात भाषाओंके उत्तम जानकार अपने यहाँ होने चाहिए, तभी भारतका काम ठीकसे चलेगा। नहीं तो भारतके लिए खतरा है। जाने-अन-जाने वह इंग्लैण्डके पक्षमें, अमेरिकाके पक्षमें रहेगा। मुझे इसका कोई विरोध नहीं है। अगर इंग्लैण्ड और अमेरिकाका पक्ष हमारे लिए अच्छा है तो अच्छा ही है। परन्तु हम निरन्तर अंग्रेजी भाषा ही पढ़ते रहेंगे तो उन्हींकी सारी खवरें हमपर आक्रमण करती रहेंगी, और उधर रूसमें, जर्मनीमें, जापानमें क्या चल रहा है, इसका हमें कोई पता नहीं चलेगा। अगर चलेगा तो अंग्रेजी भाषाके द्वारा चलेगा यानी पूर्वाग्रही होगा। इस वास्ते हम इसे वहुत वड़ा खतरा मानते हैं कि इतने वड़े विशाल भारतके लिए हम एक ही दरवाजा रखें। यह गलत है। एक 'खिड़की' से काम नहीं चलेगा।

मातृभाषाका उत्तम अध्ययन हो

दूसरी बात यह है कि शिक्षामें अगर आठ सालकी शिक्षा हमें बच्चोंको देनी है और उस आठ सालकी शिक्षाके अन्दर अगर हमने अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन, ऐसी कोई 'खिड़की' रखी, तो वह बेकार है। उसकी जरूरत है नहीं, क्योंकि वे लोग जो अंग्रेजी या फ्रेंच सीखेंगे, वह ज्यादा सीखेंगे नहीं। और ऐसे थोड़े-से ज्ञानका कोई उपयोग नहीं, क्योंकि वे तो आठ सालकी परीक्षा देकर चले जायेंगे। कोई खेतीमें जायगा, कोई कहीं जायगा, अपना-अपना काम करेगा। उन सब लोगोंपर वह लादना ठीक नहीं। वे कहेंगे कि आपकी 'खिड़की' हमारे लिए किस कामकी? हम तो खेतीमें रहते हैं। 'खिड़की' तो उसे चाहिए, जिसके घरमें दीवालें हों। हमारे घरमें तो दीवालें होती ही नहीं, ऊपरसे भी फटा रहता है। इसलिए उन्हें 'खिड़की' के फेरमें नहीं डालना चाहिए और इन भाषाओंसे मुक्त करना चाहिए। परिणाम यह होगा कि अपनी भाषाका वे उत्तम अध्ययन करेंगे। अभी तो अपनी भाषाका भी ठीकसे ज्ञान होता नहीं और अंग्रेजी भाषाका भी ज्ञान कच्चा रहता है। अगर वे मातृभाषाका अध्ययन करें तो उनके जीवनमें उसका कुछ उपयोग होगा। आश्चर्यकी बात है कि आजका जो शिक्षक है---आप लोग जरा मुझे क्षमा करेंगे, वह हमाल (कुली) है। ऊपरसे लिखकर आता है कि आपका टाइम-टेबुल ऐसा रहेगा। यह हमाल तदनुसार सिखायेगा। क्या सिखाना है, यह तो लिखकर आता ही है। कौनसा विषय कितने घण्टे सिखाना, यह भी लिखकर आता है। उस हालतमें यह होता है कि मातृभाषाका ज्ञान कच्चा रहता है। अंग्रेजीका ज्ञान भी पक्का होता नहीं। बजाय इसके अगर मातृभाषाका अच्छा अध्ययन करे, तो इसका उसके जीवनमें कुछ उपयोग होगा।

शब्द-साधनिका भाषाका आधार

मैं एक सुझाव देना चाहता हूँ कि जो हिन्दी सीखे, उसे संस्कृत भी सीखनी चाहिए। संस्कृत यानी 'गच्छामि, गच्छति' नहीं। संस्कृतमें जिसे हम 'शब्द-साधनिका' कहते हैं, वह 'शब्द-साधनिका' हमारी भाषाका आधार है। यह सारी शब्द-साधनिका सिखानी चाहिए। जैसे एक 'योग' शब्दसे योग, उद्योग, संयोग, वियोग, प्रतियोग आदि शब्द बने। योग्य, अयोग्य ये विशेषण बने। युक्त, अयुक्त, आयुक्त, प्रयुक्त, नियुक्त, उद्युक्त---ये भूत कृदन्त कालके रूप बने। योगी, वियोगी, संयोगी इत्यादि रूप बने। योज्य, योजनीय, प्रयोजनीय---ये शब्द बने। एक युज् धातुपरसे कम-से-कम ४०० शब्द हिन्दीमें चलते हैं। ये संस्कृत माने जायेंगे। यह बापकी 'जागीर' है, जो बेटेकी ही है। उसके बिना हिन्दीका ज्ञान अत्यन्त अधूरा रहेगा और हिन्दी भाषा सर्व-विचार-प्रकाशनमें समर्थ नहीं होगी।

इसलिए यह बहुत जरूरी है कि शब्द-साधनिका सिखायी जाय। प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहारमें एक ही धातु है। 'प्र' जोड़नेसे ठोंकनेका अर्थ होता है। मारना 'संहार' हुआ, नाश्ता, जलपान करना 'उपहार' हुआ, शंका-निरसन 'परिहार' हो गया। इस प्रकार एक ही 'हृ' धातुसे इतने शब्द बनते हैं। ये सारे शब्द आपकी सम्पत्ति हैं। संस्कृतकी यह शब्द-साधनिका हिन्दी भाषाके अध्ययनका एक भाग होनी चाहिए। इसके बिना हिन्दी भाषाका अध्ययन हुआ, ऐसा मानना नहीं चाहिए।

'मुद मंगलमय संत समाजू, जो जग जंगम तीरथ राजू।' अब मैं इसको संस्कृतमें कहता हूँ—

'मुद मंगलमयः सत्समाजः, यो जगति जङ्गमः तीर्थराजः।'

यानी तुलसीदासने संस्कृत ही लिखा है। उन्होंने इतना ही किया कि लोगों-को संस्कृतका उच्चारण आता नहीं था, उन्हें उच्चारण नहीं सिखाना था, रामा-यण सिखानी थी, रामचरित सिखाना था। संस्कृत बोलनेपर जनता सीखेगी नहीं, और मङ् उसे नाहक उच्चारण क्यों सिखायें? **'जागबलक मुनि कथा सुहाई'**—'याज्ञवल्क्य' कौन कहेगा? इसलिए **'जागबलक'** कह दिया। **'धरम न अरथ न काम रुचि'**—**'धर्म'** नहीं, **'अर्थ'** नहीं, **'धरम न अरथ न'**। **'गति न चहौं निरबान'**—**'निर्वाण'** नहीं, **'निरबान'**। 'निर्वाण' नाम है मृत्युका। जनताकी भाषामें बोलनेसे जनता सीखेगी, लेकिन उसे उच्चारण नहीं सीखना पड़ेगा। बंगाली लोग कहते हैं कि हमारी भाषामें तीन स हैं,—'श, ष, स'। एक 'श' शिवशंकरवाला, दूसरा 'ष' है षण्मुखवाला, और तीसरा 'स' है सत्पुरुष वगैरहवाला। लेकिन उच्चारणमें कोई फरक नहीं। उत्तम-से-उत्तम कवि जो हो गये हैं, उन्हें भाषा सिखानी थी नहीं, धर्म-विचार सिखाना था। इसलिए उन्होंने लोकभाषामें प्रयुक्त उच्चारणको ही मानकर तदनुसार लिखा है। लेकिन जो लिखा है, वह ज्यादातर संस्कृत मिला हुआ ही है। रवि ठाकुरकी भाषाके लिए क्या कहा जाय? **'जनगणमंगलदायक'**—कितना बड़ा समास हो गया! इसी तरह आप रवि ठाकुरकी भाषामें बहुत संस्कृत पायेंगे। हमारी बहुत सारी भाषाओंमें इस प्रकारके शब्द आप पायेंगे। तो यह जो संस्कृत शब्द-साधनिका है, उसे हिन्दीका अंग बनाना चाहिए। यदि हिन्दीको समृद्ध बनाना हो तो यह एक खास सूचना ध्यानमें रखिये।

मातृभाषा शिक्षाका माध्यम

फिर एक प्रश्न आता है कि मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनी है या नहीं? यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। इसमें तो दो राय होनी नहीं चाहिए। दो रायें कैसे बनती

होंगी, हमारी समझमें नहीं आता। गधेके बच्चेसे अगर पूछा जाय "तुझे गधेकी भाषामें ज्ञान देना चाहिए कि सिंहकी भाषामें ?" तो वह कहेगा कि "सिंहकी भाषा चाहे जितनी भी अच्छी हो, मुझे तो गधेकी भाषा ही समझमें आयेगी, सिंहकी नहीं।" तो यह जाहिर बात है कि मनुष्यके हृदयको ग्रहण होनेवाली जो भाषा है, वह मातृभाषा है। उसीके द्वारा शिक्षा होनी चाहिए, इसमें कोई शक नहीं होना चाहिए।

अब सवाल उठता है कि कितना समय इसके लिए लिया जाय। ४ साल, ५ साल ? कमीशनकी रिपोर्ट है कि १० सालसे ज्यादा न हो। उन्होंने जो निर्णय दिया है, वह काफी अच्छा है। मेरी अपनी राय है कि अगर पूरा प्रयत्न किया जाय तो पाँच सालमें भी हो सकता है। मातृभाषाके द्वारा ही पहलीसे आखिरी-तक सारी तालीम दी जानी चाहिए, इसमें कोई शक नहीं होना चाहिए।

मैं असम गया था। वहाँ असमिया भाषाका अध्ययन किया और वहाँके धर्म-ग्रन्थोंको पढ़ा। वहाँके एक ग्रन्थका साररूपेण संकलन करके प्रकाशित किया। उसका नाम है--'नामघोषा-सार'। वहाँ मैंने पाया कि ४०० साल पहले भट्टदेव नामके एक लेखक हो गये। उन्होंने गद्य लिखा है। अक्सर यह माना जाता है कि गद्य (प्रोज) भारतमें 'अंग्रेजों' के साथ अंग्रेजी भाषाके पीछे आया। परन्तु असमिया-में मैंने देखा कि गीतापर व्याख्या लिखी है। भट्टदेवने भागवतपर भी 'व्याख्या' लिखी है। एकका नाम है--'कथा गीता' और एकका नाम है--'कथा भागवत'। कथा मानी 'प्रोज', गद्य। वह सारा-का-सारा ग्रन्थ मुझे बहुत सुन्दर लगा। गीताकी 'कामेण्टरी', व्याख्या भट्टदेवने ४०० साल पहले लिखी है। उसी समय इंग्लैंडके केक्स्टनका छापाखाना (प्रिंटिंग प्रेस) निकला था और बाइबिल छप रही थी। तो जिस जमानेमें इंग्लैंडमें बाइबिल छप रही थी, उसी वक्त असमिया भाषामें गद्य, 'प्रोज' में भगवद्गीता लिखी जा रही थी। यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि असमिया भाषा उत्तम, समर्थ है। उसमें विज्ञानके शब्दोंकी जरूरत होगी, तो धीरे-धीरे विज्ञानके शब्द बनाते जायेंगे। और जबतक नहीं बने, तबतक अंग्रेजी शब्द इस्तेमाल करेंगे। इसमें आपको दिक्कत क्या है ? अगर हमें यह कहना पड़े कि आक्सीजन दो भाग और हाइड्रोजन एक भाग मिलकर पानी बनता है तो हाइड्रोजन, आक्सीजनके लिए नये शब्द बननेतक रुकनेकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार आरम्भ कर देंगे तो आसानीसे आरम्भ हो जायगा। हमारी भाषाएँ आजतक काफी विकसित हुई हैं और आगे हो सकती हैं।

एक और मिसाल दूँगा। 'कैण्टरबरी टेल्स' इंग्लिशमें १२वीं शताब्दीका ग्रन्थ है। यह मैंने पढ़ा है। उसी समयकी लिखी हुई ज्ञानेश्वर महाराजकी 'ज्ञानेश्वरी' मराठीमें है। ज्ञानेश्वरके पास जितने शब्द हैं, उसका चौथाई हिस्सा भी 'कण्टरबरी टेल्स' में नहीं है। साथ ही 'ज्ञानेश्वरी' मराठी भाषाका पहला

ग्रन्थ नहीं है। उसके पहले भी ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं, लेकिन 'ज्ञानेश्वरी' बहुत ही प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। उसकी संगठन-शक्ति और 'कैण्टरबरी टेल्स'की संगठन-शक्तिमें बड़ा अन्तर है।

२. शिक्षामें अहिंसक क्रान्ति

मुझे यह परिषद् बहुत गंभीर मालूम हो रही है। इसमें मुझे कुछ ईश्वरीय योजना दीखती है। सन १९५७ में जब मैं मैसूर राज्यमें यात्रा कर रहा था, तब शिक्षाके बारेमें अखिल भारतके शिक्षण-अधिकारियोंकी परिषद् हुई थी। वहाँ शिक्षाके विषयमें मेरे साथ कुछ चर्चा हुई थी। लेकिन वह कोई विद्वत्परिषद् नहीं थी, वह कार्यभार चलानेवालोंकी परिषद् थी। यह विद्वत्परिषद् है। इसका सारा आयोजन श्री कर्पूरी ठाकुरने किया, और वे सुना रहे है कि इसमें सरकारका एक पैसा भी खर्च नहीं हुआ। इसलिए यह एक विशेष परिषद् ही मानी जायगी, इसमें कोई शक नहीं।

ईश्वरीय आदेश

इसलिए मुझको लगा कि इसमें एक ईश्वरीय आदेश है। अगर इस कामको हम उठा लेते हैं, तो शिक्षामें अहिंसक क्रांति हम ला सकते हैं। यहाँ बिहारके सभी विश्वविद्यालयोंके प्रमुख लोग उपस्थित हैं और उन्होंने शिक्षाके बारेमें तथा शिक्षकों और विद्यार्थियोंकी समस्याओं इत्यादिके बारेमें सोचा, तो इसमें मैंने अपने लिए एक ईश्वरीय संकेत, एक ईश्वरीय आदेश माना। मुझे प्रेरणा हुई कि इस कार्यमें जितनी मदद हो सकती है, मुझ देनी चाहिए। मैंने जैसे ईश्वरीय संकेतसे भूदान-ग्रामदान कार्यको उठाया है, वैसे ही मुझे अन्दरसे आभास हुआ कि शिक्षामें अहिंसक क्रांतिका कार्य भी उठाना चाहिए।

स्वाध्याय-प्रवचन

मैं आज जो काम कर रहा हूँ, उसे मैं अत्यन्त महत्त्वका और बुनियादी काम मानता हूँ। फिर भी उसके लिए मैं जितना लायक हूँ, उससे ज्यादा आपके इस कामके लिए लायक हूँ, क्योंकि मैं निरन्तर अध्ययनशील रहा हूँ। और आज भी मैं अध्ययन करके ही यहाँ आया हूँ। आजतक मेरा एक भी दिन बिना अध्ययनके नहीं गया। मेरे सारे जो संस्कार हैं, और अन्दरसे और हमारे शास्त्रकारोंसे जो आदेश, निर्देश, उपदेश, संदेश मुझे मिले हैं, उनपर जब मैं सोचने लगा, तब मुझे उपनिषद् याद आया, जिसमें मनुष्यके क्या-क्या कर्तव्य हैं, इसकी फहरिस्त दी हुई है :

(१) **सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च**—सत्यका पालन करना चाहिए, और अध्ययन-

अध्यापन करना चाहिए, (२) **शमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च**—शांति रखनी चाहिए, मनपर काबू रखना चाहिए और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए, (३) **दमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च**—इंद्रियोंका दमन करना चाहिए और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए, (४) **अतिथयश्च स्वाध्याय-प्रवचने च**—अतिथिकी सेवा करनी चाहिए और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। तो जितने कर्तव्य बताये, उन सबके साथ अध्ययन-अध्यापन का सम्पुट किया। इसको शास्त्रमें 'सम्पुट' कहते हैं। ऊपर एक, नीचे एक पुट है, अन्दर कोई चीज है। यह 'सम्पुट' है। तो, स्वाध्याय और प्रवचनके सम्पुटमें सारे कर्तव्य बताये। यानी हरएक कर्तव्यके साथ स्वाध्याय-प्रवचन होना चाहिए।

तब मैंने अपने लिए समझ लिया कि **भूदानं च स्वाध्याय-प्रवचने च**—भूदानके काममें योग देना चाहिए और स्वाध्याय-प्रवचन करना चाहिए, अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। **ग्रामदानं च स्वाध्याय-प्रवचने च, शांति-सेना च स्वाध्याय-प्रवचने च,** और **ग्रामाभिमुखं खादी-कार्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च** और ऐसा ही मैंने व्यवहार किया। जितने काम किये, उन सब कामोंके साथ अध्ययन-अध्यापनका कर्तव्य कभी दूर हुआ नहीं। सुप्त पुरुषका अपार संस्कार हुआ। बहुत बड़ा उपकार है उन महात्माओं का, जिन्होंने मुझे यह आदेश दिया।

पहलेके नेता अध्ययनशील

स्वराज्य-प्राप्तिसे पहले स्वराज्य-आन्दोलनमें जो आधुनिक राजनीतिक नेता लगे हुए थे और जिनसे मुझे स्फूर्ति मिली, उनकी याद की। तब मैंने पाया कि मुख्य-मुख्य राजनीतिक नेता स्वाध्यायशील थे। इन दिनोंके जो राजनीतिक नेता हैं, उन्हें तो अध्ययन करनेके लिए समय ही नहीं मिलता। यों उनका नाम है 'मंत्री'। 'मंत्री' यानी मनन करनेवाला। लेकिन मननके लिए उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। ऐसी आज हालत है। लेकिन पुराने जमानेके जो नेता थे, वे ऐसे नहीं थे। जैसे, श्रीअरविन्द—महान् राजनीतिक नेता, क्रांतिकारी विचारके पुरस्कर्ता, अत्यन्त अध्ययन-सम्पन्न थे। उनकी २५-३० किताबें हमें मिलती हैं। वे निरन्तर ज्ञान-चर्चा करते थे। लोकमान्य तिलक, दिनभर राजनीतिकी चर्चा, रातको सोनेकी तैयारी, १२ बजे वेदाध्ययन शुरू, एक घण्टा वेदाध्ययन करनेके बाद ही निद्रा! जेलमें गये तो वेदके संशोधनपर ग्रन्थ लिखा। एक जेल-निवासमें 'गीता-रहस्य' लिखा। वे राजनीतिक नेता थे, लेकिन उनका हृदय स्वाध्याय-प्रवचनमें था। कांग्रेसका जिन्होंने आरम्भ किया, वे श्री रानडे—आधुनिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, प्राचीन सन्तोंकी वाणी इत्यादिका वे निरन्तर अध्ययन करते थे। डॉक्टर एनी बेसेण्टने 'होमरूल' का इतना जोरदार आन्दोलन चलाया

कि अंग्रेजी सल्तनत डिगने लगी। परन्तु वे अत्यन्त अध्ययन-सम्पन्न थे। आपको अध्यात्म-विद्यापर उनके बीसों ग्रन्थ मिलेंगे। मौलाना अबुल कलाम आजाद अनेक विद्याओंके वेत्ता थे। राजनीतिक क्षेत्रमें वे जितने मँजे हुए थे, उससे कुछ ज्यादा ही वे विद्याके क्षेत्रमें मँजे हुए थे। मैंने ये चार-पाँच मिसालें आपके सामने रखीं। उस समयके जो राजनीतिक नेता थे, वे ठोस थे, पोले नहीं थे। ढोलमें होती है पोल, और आवाज होती है जोरदार। ठोस चीज की आवाज कम होती है, पर परिणाम ज्यादा होता है। ऐसे नेता उस समय थे। यह तो राजनीतिक नेताओं की बात की। जो राजनीतिक नेता नहीं थे, जिनका जीवन विद्याप्रधान था, जैसे डॉक्टर भगवानदास, भाण्डारकर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि की तो बात ही नहीं करता। केवल राजनीतिक नेताओंकी तरफ देखता हूँ तो वे भी अध्ययनशील दीखते हैं। उन सबके संस्कार मेरे चित्तपर हुए हैं। यह सब सोचा तो मुझे लगा कि आप लोगोंको इस काममें मदद दूं, ताकि बिहारमें शिक्षामें अहिंसक क्रांति हो। इसके लिए क्या करना होगा ? इस विषयपर सोचना होगा, चर्चा करनी होगी। मैंने अपने हृदयकी स्फूर्ति आपके सामने रखी। इसके आगे आप मुझसे व्यक्तिगत तौरपर भी मिल सकते हैं, समूहरूपेण भी मिल सकते हैं। यह विद्वत्परिषद् है, शिक्षा-मंत्री भी शिक्षामें अहिंसक क्रांतिकी अपेक्षा रखनेवाले हैं और बाबा आपकी सेवामें उपस्थित है। तो इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

शिक्षाका काम पहले क्यों नहीं उठाया ?

मैंने अभी कहा कि मैं इस कामके लिए ज्यादा लायक हूँ। आप पूछेंगे कि अगर आप अपनेको इस कामके लिए ज्यादा लायक समझते हैं, तो आपने यह काम अभी-तक क्यों नहीं उठाया ? और यह भूदान-ग्रामदानका काम क्यों उठाया ? इसका एक उत्तर तो यह है कि इस काममें विद्वानोंका सहयोग मुझे मिलेगा, ऐसा मुझे भरोसा नहीं था। दो विद्वान् एक जगह आ जायँ और उनमें मतैक्य हो जाय तो समझना चाहिए कि बहुत बड़ी घटना घट गयी। **'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्'**। जिसका वचन प्रमाण माना जाय, सो एक मुनि नहीं, अनेक हैं।

'बहु मत मुनि, बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।'

तुलसीदासजी कहते हैं कि हमने खूब देखे, अनेक मुनि देखे, बहुत पंथ देखे, अनेक पुराण देखे, जहाँ-तहाँ हमने झगड़ा ही देखा। विद्वानोंके विचारोंमें मेल नहीं होता। तुलसीदासको गुरुने आदेश दिया कि भगवान्‌की भक्ति करो, यह मुझे राजमार्ग मालूम होता है—**'मोहि लगत राज डगरो सो'**। समाप्तम्। पण्डितोंके पीछे मत चलो, क्योंकि 'जहाँ-तहाँ झगरो सो'। **'गुरु कह्यो राम भजन नीको'**–गुरुने मुझसे कहा कि तू इस झंझटमें मत पड़, इसमें तेरी कोई दाल गलेगी नहीं, तेरा अपना

'राम भजन नीको' कर। तो तुलसीदासने कहा कि "मैं तो राजमार्गपर चलता हूँ। यह जो मैं रामायण लिख रहा हूँ, इसे देखकर पंडित हँसेंगे।"

तुलसीदासजी तो बड़े विनयशील हैं। वे कहते हैं कि मैं मान लूँगा कि मैंने उन्हें हास्यरसकी सामग्री प्रदान की : 'तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू।' अगर मैंने पंडितोंको हास्य-रस प्रदान किया तो भी मैं समझूँगा कि मैं कारगर हो गया, मेरा साहित्य सफल हुआ। यह कहकर तुलसीदासजीने विनोद किया है।

तो जहाँ तुलसीदासको यह डर लगा कि मेरी चलेगी नहीं, तो बाबाकी क्या हैसियत ? बाबाने भी सोचा कि इसमें अपनी दाल गलेगी नहीं। इस वास्ते यद्यपि मैं इस कामके लिए ज्यादा लायक हूँ, फिर भी मैंने आजतक इसको नही उठाया।

करुणा-कार्य

शिक्षाका काम न उठानेका दूसरा कारण यह है कि बाबाके हृदयमें करुणा काम कर रही है। शंकराचार्य इतने बड़े गुरु हो गये, उनसे बढ़कर शायद ही कोई तत्त्वज्ञानी हुआ हो। परन्तु उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की--**'भूतदयां विस्तारय।' 'अविनयमपनय विष्णो'**--हे विष्णु, अविनय दूर कर और भूतदयाका विस्तार कर। शंकराचार्य इतने ज्ञाननिष्ठ थे। वे कहते हैं कि भूतदया मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है और उसका विस्तार करना चाहिए। एक जगह उन्होंने यह कहा कि अनेक विद्वान् और पंडित ऐसे होते हैं, जिनके मुख से शब्द झरते हैं झर झर झर झर--**'वाग्वैखरी शब्दझरी' 'शास्त्रव्याख्यानकौशलम्'**--शास्त्रोंपर व्याख्यान देनेमें अत्यन्त कुशल, महाविद्वान् होते हैं। ऐसे विद्वानोंका वैदुष्य, उनकी विद्वत्ता क्या काम आती है ? आचार्य लिखते हैं--**'भुक्तये, न तु मुक्तये'**। उनकी विद्या भुक्तिके काममें आती है, मुक्तिके काममें नहीं। वह तनख्वाह पानेकी विद्या है, जो मुक्तिके काममें नहीं आती। यह आचार्यका कथन है। इस वास्ते करुणाकी अत्यन्त जरूरत है। गुरुमूर्ति शंकराचार्य कठोर माने गये, परन्तु उनके शिष्य उनका वर्णन कर रहे हैं--**'श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं'**--आचार्य शंकर श्रुति, स्मृति, पुराणोंके घर हैं, विद्याके आलय हैं। साथ ही **'करुणालयम्'**--करुणाके आलय हैं। अगर शंकराचार्यमें करुणा न होती, तो भारतभरमें जो १६ साल लगातार उन्होंने यात्रा की, जगह-जगह जाकर लोक-प्रचार किया, वह करनेका कोई प्रयोजन नहीं था, और वह हो ही नहीं सकता था। गौतम बुद्ध कौन थे ? अनेक विद्या-पारंगत राजपुत्र थे। राजाने उन्हें तरह-तरहकी विद्याएँ सिखा रखी थीं। लेकिन वे घरसे किस विद्याका नाम लेकर निकल पड़े ? वे करुणाका नाम लेकर ही निकले। **'कारुण्यावतारः।'** इस वास्ते भारतपर उनका असर पड़ा, विचारमें क्रांति हुई। उस जमानेसे आजतक, सारे भारतपर उनका असर है। आज तो उनके विचारों-

की अत्यन्त आवश्यकता मालूम पड़ती है। वे करुणालय थे। तो जो लोग विद्याके आलय थे, महा-विद्वान् और ज्ञानी थे, उन्होंने केवल विद्याको महत्त्व दिया नहीं, उन्होंने करुणाके साथ ही विद्याको महत्त्व दिया।

पंचवर्षीय योजनाओंकी विफलता

बाबाके पास कोई खास विद्या नहीं है। चूँकि लोगोंके पास अविद्या है, इसलिए बाबा विद्वान् माना जाता है। इस हालतमें बाबा करुणाका कार्य छोड़कर विद्वानोंके पीछे जायगा, तो विद्वान् ध्यान नहीं देंगे। बाबा भारतभर पैदल घूमा। भारतकी कितनी हीन-दीन दशा है, वह उसने अपनी आँखोंसे देखी, बहुत दुःख देखा। खानेको अन्न नहीं, ओढ़नेको वस्त्र नहीं, घरपर छप्पर नहीं, बच्चोंको दूध नहीं, जिस जमीनपर झोपड़ी बनी है, वह जमीन भी उसकी नहीं! दवाका प्रबन्ध नहीं, तालीमका सवाल ही नहीं। ऐसी दशा है भारतकी! उसमें सुधार करनेके लिए सरकारने पंचवर्षीय योजनाएँ बनायीं। परन्तु सुधार नहीं हुआ।

पंचवर्षीय योजनाके सिलसिलेमें योजनावालोंसे बात करनेका मुझे मौका मिला है। मैंने योजनावालोंसे पूछा कि जो सबसे गरीब हैं, योजनामें उनके लिए खास क्या प्रबन्ध है? योजनासे सारे देशका जीवनमान कुछ बढ़ेगा, यह ठीक है, लेकिन गरीबके जीवनमानमें क्या फर्क होगा? उन्होंने समझाया कि सबका स्तर बढ़ेगा तो नीचेवालोंका भी स्तर कुछ बढ़ेगा। मैंने इसको 'थियरी ऑफ पर्कोलेशन' नाम दिया। ऊपर बहुत बारिश होगी, तो जमीनके अन्दर भी कुछ पानी जायगा। लेकिन कहीं-कहीं जमीनके अन्दर चट्टान होती है तो वहाँ नीचे एक बूँद भी पानी नहीं जाता। भारतमें जातिभेद, आर्थिक विषमता आदि अनेक चट्टानें हैं। भारतकी औसत आय बढ़नेपर भी गरीबको कुछ नहीं मिलेगा, क्योंकि उसका जो लाभ है, वह ऊपरवालोंको मिल जायगा और नीचेवाले उससे वंचित रह जायेंगे।

कई दफा उनके सामने मैंने यह बात रखी। लेकिन उन्हें तो यह हविस थी कि अपने देशको जल्द-से-जल्द दुनियाके प्रगतिशील देशोंकी कतारमें लाकर खड़ा कर देना चाहिए। इसलिए नासिकके छापाखानेमें नोट छापकर उसने बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायीं। दीर्घकालीन लाभ मिले, ऐसी योजनाएँ बनायीं। परन्तु तुरन्तके लिए कुछ खास नहीं हुआ। हमने उनसे पूछा कि आप जनताको न्यूनतम कब देंगे? तो वे कहते हैं कि सन् १९८५ में नीचेके तबकेके लोगोंको न्यूनतम मिलेगा। अधिकतमकी बात नहीं, न्यूनतमकी बात कहता हूँ। शरीर और प्राणको इकट्ठा रखनेके लिए जितना जरूरी है, उसका नाम है न्यूनतम (मिनिमम)। कम-से-कम इतना तो देना ही चाहिए। वह आप कब देंगे? वादेपर वादे करते आये हैं और अब कहते हैं कि सन् १९८५ में देंगे। तो मैंने उन्हें तुकारामका एक वचन

सुना दिया। महाराष्ट्रमें तुकाराम महाराज एक बड़े सन्त पुरुष हो गये हैं। उनका एक वचन है: एक मनुष्य नदीमें डूब रहा है और दूसरा कहता है कि "हाँ, तेरे उद्धार-की योजना परसोंतक हो जायगी।" तुकाराम पूछते हैं कि **'उद्धारासी काय उधारीचें काम ?'**–अरे, उद्धारमें उधार कैसे चलेगा ? आपको और कोई मदद देनी है, या जीवनकी कोई सहूलियत प्राप्त करानी है, तो आज नहीं होगी, कल होगी, परसों होगी कहें तो कुछ समझमें आता है। लेकिन जो डूब रहा है, उससे कहें कि परसों तेरा उद्धार होनेवाला है, तो वह कहेगा कि 'खूब है'। उद्धारमें उधार नहीं चल सकता। सन् १९८५ में क्या होगा, मेरी समझमे कुछ नहीं आता। पता नहीं, देशकी हालत क्यासे क्या हो जाय ! इसलिए बाबाके दिलमें बड़ा दर्द है।

भारतकी जनताने बहुत सहन किया। गाँवके इस कामकी योग्यता बाबामें कम है—न उसके शरीरमें शक्ति है, न किसानोंके साथ कुदाल लेकर वह काम ही कर सकता है। इस हालतमें किसानोंमें जाकर उनको प्रेरणा देना और उनके द्वारा काम कराना, इस काममें बाबाकी योग्यता कम है। योग्यता कम होते हुए भी आवश्यकता ज्यादा है, यों समझकर बाबाने अपना समय उस काममें दिया और आज भी उस कामकी प्राथमिकता बाबा छोड़ नहीं सकता। लेकिन यह ईश्वरीय दृश्य बाबाके सामने दीख रहा है, उससे बाबाको प्रेरणा मिल रही है कि कम-से-कम बिहारमें शिक्षामें अहिंसक क्रांतिका काम हम सब मिलकर करें।

आपअगर केवल विद्याकी बात करेंगे तो बाबा आपसे कहेगा कि करुणाके बिना विद्याका उपयोग नहीं। इसलिए बाबा जो करुणा-कार्य कर रहा है, उसमें आपका पूरा सहयोग मिलना चाहिए। मेरा खयाल है कि गाँव-गाँवमें शिक्षक हैं। अगर वे ग्रामसभा बनानेमें, ग्रामवासियोंको मार्गदर्शन करनेमें, उनको विचार समझानेमें, प्रेमकी बात ठीक कैसे अमलमें लाना, इसका मार्ग दिखानेमें नेतृत्व करेंगे, तो शिक्षकों-द्वारा बहुत बड़ा काम होगा। अगर देखा जाय कि भारतको किसने बनाया है, तो मालूम होगा कि आचार्योंने बनाया है। हमसे कहा गया कि आधुनिक जर्मनीका निर्माण शिक्षकोंने किया। आधुनिक जर्मनीको शिक्षकोंने बनाया, यह बात जितनी सत्य है, उससे कम सत्य यह नहीं है कि भारतको आचार्योंने बनाया। भारतका जितना धर्म-विचार है, अर्थ-विचार है, समाज-विचार है, वह सब-का-सब अनेक आचार्योंके विचारोंके कारण बना हुआ है। ऐसा सारा भारतका इतिहास है।

इस वास्ते आप अगर ग्रामदानके आन्दोलनको अपना आन्दोलन समझकर अपने विद्यार्थियोंके साथ थोड़ा-सा समय अपनी छुट्टीमेंसे दें, तो बहुत ही ऊँचा काम बिहारमें हो सकेगा और आपके हृदयमें सन्तोष भी होगा। दुनियामें प्राप्त करने-की सबसे बढ़कर यदि कोई चीज है तो वह है—आत्म-सन्तोष। अन्तरात्मामें सन्तोष होना चाहिए। जब मरनेका दिन आयेगा और मैं परमात्माके पास जाऊँगा, उस दिन मुझे आनन्द महसूस होना चाहिए कि मैंने कुछ किया है। अगर भगवान्‌ने

शरीर दिया है, तो दुखियोंकी सेवाके लिए दिया है। अब मैं भगवान्के दरबारमें प्रस्तुत हो रहा हूँ, तो उसकी गोदमें मुझे उत्तम स्थान मिलेगा, ऐसा अन्तरात्मामें विश्वास होना चाहिए। यह जो आत्म-सन्तोष है, यही जीवनमें प्राप्त करनेकी चीज है, ऐसा बाबा मानता है। इस वास्ते बाबाके इस काममें आपका पूरा सहयोग चाहिए।

अब बात हो रही है बिहारदान की। उसमें शिक्षकोंकी जमात कूद पड़े। यह कार्य पक्षमुक्त है। इस वास्ते उसमें आप योग दे सकते हैं। आपको छुट्टियाँ भी ज्यादा मिलती हैं। ३६५ दिन बनाये भगवान्ने। मेरा खयाल है विश्वविद्यालय-वालोंने १८० दिन बनाये। भगवान्ने दिनके २४ घण्टे बनाये, इन्होंने उसके ३ घण्टे बनाये। इस वास्ते समय तो आपके पास है, ऐसा मैं मानता हूँ। उसमेंसे कुछ समय अध्ययनमें जाना चाहिए, यह भी मानता हूँ। लेकिन बाबाका बहुत सारा अध्ययन तो पदयात्रामें ही हुआ। बाबाने पदयात्रामें अनेक ग्रन्थ भी लिखे। यह काम बाबाके कारखानेका 'बाई-प्रॉडक्ट' माना जाता है। बाबाके ये ग्रन्थ आगेकी पीढ़ीके काममें आयेंगे। और मैं मानता हूँ कि वे पीढ़ियाँ कहेंगी कि बाबाके कारखाने-के ये 'बाई-प्रॉडक्ट' बहुत कामके हैं। मैं कहना यह चाहता था कि आपको अध्ययनमें कुछ समय देना ही चाहिए। परन्तु ग्रामदानका काम भी आपको उठाना चाहिए।

आपको अपनेको राजनीतिसे ऊँचा रखना चाहिए। मैंने यह नहीं कहा कि आपको इसका अध्ययन नहीं करना चाहिए। राजनीति भी अध्ययनका एक विषय है। लेकिन आपकी मुख्य चिन्ता होनी चाहिए **'जय जगत्'**। सारी दुनियाका भला करनेकी एक राजनीति है, उसमें आपको पड़ना चाहिए। आपको उसका चिन्तन, मनन करना चाहिए। परन्तु यह जो सत्ताकी राजनीति (पावर पॉलिटिक्स) है, उससे आपको अपनेको मुक्त रखना चाहिए। उससे ऊपर रहनेमें ही आपका गौरव है। ऐसा करेंगे तो चन्द दिनोंमें ही आप देखेंगे कि आपकी एक ताकत बन रही है। नहीं तो आज शिक्षककी हैसियत एक नौकरकी हैसियत है।

गुरुकी हैसियत

प्राचीनकालका एक वचन है कि अत्यन्त आप्ततम कौन है, जिसकी सलाह मौकेपर लेनी चाहिए? तो उत्तर मिला कि तटस्थ गुरुकी सलाह लेनी चाहिए। आज आप लोगोंकी स्थिति क्या है? हर साल आपके हाथसे कम-से-कम २५-३० विद्यार्थी जाते होंगे। २५-३० सालमें हजारों विद्यार्थी आपके हाथसे निकले होंगे। उन हजार विद्यार्थियोंमेंसे कितने विद्यार्थी आपके पास अपने जीवनकी मुसीबत लेकर आये और आपकी सलाह ली? वे माताकी सलाह ले सकते हैं, पिताकी सलाह ले सकते हैं, भाईकी सलाह ले सकते हैं, पत्नी और पतिकी ले सकते हैं, मित्रोंकी ले

सकते हैं, लेकिन शिक्षकोंकी कभी नहीं लेंगे। यह क्या बात है? यानी जिसकी सलाह सबसे श्रेष्ठ सलाह मानी जानी चाहिए, उनकी सलाह कोई नहीं लेता। क्यों? इसीलिए कि शिक्षककी हैसियत गुरुकी नहीं, एक नौकरकी है। अगर आप राजनीतिसे ऊपर जायेंगे और विश्व-राजनीतिकी ओर ध्यान देंगे, तो आपकी हैसियत ऊँची होगी। इसका परिणाम यह होगा कि लोग मौकेपर आपकी सलाह लेनेके लिए दौड़े आयेंगे।

मीराबाईकी कहानी है। यह ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँतक सही है, मैं नहीं कह सकता। मीराबाईके जीवनमें एक कठिन सवाल आया तो उन्हें सोचना पड़ा कि किसकी सलाह ली जाय। वे तुलसीदासके पास गयीं। कहा कि "मेरे सामने बड़ी दुविधा है। मेरे पिताजी मुझे यों कहते हैं, पतिजी यों कहते हैं, तो मुझे क्या करना चाहिए?" तुलसीदासजी उनसे कहते हैं: "**'तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बन्धु, भरत महतारी।'** भरतने अपनी माँका त्याग किया, प्रहलादने पिताका त्याग किया, बिभीषणने भाईका त्याग किया। **'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।'** जो रामजीके खिलाफ जाता है, वह भले ही अत्यन्त मित्र हो, आप्त हो, तो भी कोटि वैरी समझकर उसका त्याग करना—**'जाके प्रिय न राम-बैदेही।'**" और आखिरमें नम्रतासे लिखते हैं कि "**'एतो मतो हमारो।'** यह तो हमारा मत है, फिर जैसा आपको सूझे, कीजिये।" तो मीराबाई-को तुलसीदासकी सलाह लेनेकी इच्छा हुई। गुरुकी वह हैसियत होनी चाहिए। जहाँ जीवनमें कोई समस्या खड़ी हो, वहाँ हजार-हजार शिष्य अपने गुरुके पास जायेंगे और अपनी समस्याके बारेमें सलाह माँगेंगे। यह जो हैसियत है, वह आप खो चुके हैं, भारतमें आपकी वह हैसियत खत्म है। लेकिन यदि आप इस राज-नीतिसे ऊपर अपनेको रखते हैं तो फिर वह आपको प्राप्त हो सकती है।

३. शिक्षामें अहिंसक क्रान्तिकी योजना

एक बात शिक्षकोंके समझनेकी है कि उनका काम क्या है।

सरकार दो परस्पर-विरोधी विभाग रखती है। एक है पुलिस-विभाग, और दूसरा है शिक्षा-विभाग। ये दोनों एक-दूसरेके विरुद्ध हैं। देशमें अनेक परस्पर-विरोधी ताकतें काम करती हैं, तो परस्पर-विरोधी विभाग भी सरकारको रखने पड़ते हैं।

पिछले दिनों कई जगह पुलिस 'युनिवर्सिटी-कैम्पस' में घुस गयी थी। अशान्ति हुई थी। उसके दमनके लिए पुलिस गयी। वह भी एक शिकायत हो गयी कि युनि-वर्सिटी-कैम्पसमें पुलिसका प्रवेश क्यों होना चाहिए? अक्सर नहीं होना चाहिए। लेकिन मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि युनिवर्सिटीके लोगोंने अपना कैम्पस इतना छोटा

क्यों माना। यह सारा भारत युनिवर्सिटी-कैम्पस है, और इसके अन्दर पुलिस काम करती है, यह शिक्षकों और आचार्योंके लिए लांछन है। आचार्य सब विचार समझते हैं। लोगोंका विचार-परिवर्तन करते हैं, हृदय-परिवर्तन करते हैं और जीवन-परिवर्तनकी दिशा दिखाते हैं। इस प्रकार परिवर्तन करनेवाली यह जमात पुलिसकी आवश्यकता भारतमें रहने दे, यह लांछन है। भारतका नागरिक शांतिसे चले, अपने हक और अपने कर्तव्योंके प्रति वह जागरूक रहे, जो कुछ भी करे ठीक ढंगसे, समझ-बूझकर करे तो पुलिसकी जरूरत ही नहीं रहेगी। ऐसा हो तो, हम पुलिस डिपार्टमेंटको हटा देंगे। अगर आप सफल होंगे तो हमें बहुत खुशी होगी, ऐसा सरकार कहेगी। लेकिन जहाँ सफल नहीं है, वहाँ हमें कुछ काम करना पड़ता है और शान्ति रखनी पड़ती है। अगर अशान्तिका शमन आप नहीं कर पाते तो अशान्तिके दमनका प्रबन्ध हमें रखना पड़ता है। एक है अशान्ति-शमन-विभाग, दूसरा है अशान्ति-दमन-विभाग। शिक्षा-विभाग—जिसको हम कहते हैं, शिक्षकों, प्रोफेसरों, आचार्यों-का विभाग—वह है अशान्ति-शमन-विभाग, और पुलिस-विभाग जो सरकार रखती है, वह है अशान्ति-दमन-विभाग। अगर शमन होता है तो दमनकी जरूरत नहीं रहती है।

कुछ लोगोंको दुःख हुआ कि पुलिसका प्रवेश युनिवर्सिटी-कैम्पसमें हुआ। मुझे भी दुःख हुआ। बात ही दुःखके लायक थी। लेकिन हमको तो सारा देश ही अपना 'कैम्पस' बनाना है। (१) आचार्योंका असर सारे भारतपर पड़ना चाहिए (२) राजनीतिज्ञ लोगों वगैरहपर भी आचार्योंका असर होना चाहिए। (३) पुलिसकी कतई आवश्यकता न रहे, यह हमारा आगेका कार्यक्रम होना चाहिए। उस सिलसिलेमें हमको सोचना चाहिए, बजाय इसके कि हम युनिवर्सिटी-कैम्पसके अन्दर घटनेवाली छोटी-छोटी घटनाओंके बारेमें सोचा करें।

भारतमें दमनकी जरूरत न पड़े, सिर्फ शमनसे काम हो। अगर शिक्षक अपनी प्रतिष्ठा महसूस करें, अपनी महिमा महसूस करें, तो प्राचीनकालके आचार्योंका आशीर्वाद मिलेगा। भारतमें प्राचीनकालसे आजतक जो महान् आचार्य हो गये हैं, उनकी बहुत बड़ी परम्परा यहाँ चली है। जितनी बड़ी परम्परा यूनानमें भी नहीं चली होगी, उतनी बड़ी यहाँ चली।

आचार्यकी महिमा : आचार्यकी स्वतंत्र हस्ती

रवीन्द्रनाथ छोटे अर्थमें 'नेशनलिज्म' (राष्ट्रीयता) को माननेवाले नहीं थे, विश्व-व्यापक दृष्टिके थे, फिर भी उन्होंने अभिमानसे कहा—"तेरे तपोवनमें, भारतके तपोवनमें, प्रथम सामरव हुआ।" 'प्रथम प्रभात उदित तव गगने।' ज्ञान-कर्मकी कहानी तो वनोंमें प्रारम्भ हुई। उन्होंने कई बार समझाया है कि हमारी भारतीय संस्कृति न नागरिक संस्कृति है, न ग्रामीण संस्कृति है, यह आरण्यक संस्कृति है।

रोमकी संस्कृति नागरिक संस्कृति थी और एशियामें जगह-जगह आदिवासियोंकी ग्रामीण संस्कृति चलती है। भारतमें जो संस्कृति चली, पली, वह आरण्यक संस्कृति थी। यहाँके ज्ञानी अरण्यमें रहकर यानी संसारसे अलिप्त रहकर विरक्त भावनासे चिन्तन करते थे और जो निर्णय होता था, उन निर्णयोंका लोगोंमें जाकर घर-घर प्रचार करते थे। 'आचार्य' शब्दके अन्दर 'चर' धातु है। आचरण करना, विचरण करना, विचार करना, संचार करना, प्रचार करना--आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, चारों ओर 'चर' धातु भरी है।

खेतोंमें हमको बोना है, तो गेहूँ बोना है या चना बोना है, इसकी चर्चा बैलसे नहीं की जाती। किसान तय करेगा कि इस खेतमें चना बोना है। फिर बैलसे कहेगा कि 'बैल भैया, अब तुम कामके लिए चलो।' हमारे प्रोफेसर और आचार्य आज बैल हो गये हैं। ऊपरसे आदेश आता है कि फलानी किताब पढ़ानी है। ये कहते हैं-'जी हाँ!' इन्हें तयशुदा किताबें पढ़ानी पड़ती हैं।

जिन लोगोंके हाथोंमें सारे देशके मार्गदर्शनका भार होना चाहिए, वे ही मार्ग खोये हुए हैं और एक सामान्य नौकरकी हैसियतमें आ गये हैं। मुझे देखनेको मिला कि यूनिवर्सिटी-कैम्पस और कॉलेज वगैरह राजनीतिके अखाड़े बन गये और एक-एक पार्टीने एक-एक कॉलेज अपने हाथमें ले रखा है। यह स्थिति अत्यन्त दारुण है। इससे तुरत मुक्ति मिलनी चाहिए—ऐसा कार्यक्रम बनना चाहिए। इसके लिए आपको प्रतिज्ञा करनी होगी: "हम राजनीतिक दलोंकी हाथकी कठपुतली नहीं बनेंगे। हम उनके ऊपर हैं"--इस तरहकी प्रतिज्ञा कीजिये।

शिक्षक प्रतिज्ञा करें

प्रतिज्ञा-पत्रक बनना चाहिए। हम शिक्षकोंकी हैसियत बहुत ऊँची समझते हैं। सारे देशको, सारी जनताको उनसे मार्गदर्शन मिलना चाहिए और इस वास्ते हम प्रतिज्ञा करते हैं कि "राजनीतिक दलबन्दीसे, सत्ताकी राजनीतिसे 'पेरोकिअल-पॉलिटिक्स'से हम अलग रहेंगे।" और उसपर हरएकका हस्ताक्षर होना चाहिए। "हम अपनेको भारतका शान्ति-सैनिक समझते हैं और शांति स्थापित करनेका सर्वोत्तम शस्त्र हमारे पास है--'शिक्षा', 'ज्ञान-शिक्षा'। इससे बढ़कर शांति-स्थापनाका शस्त्र क्या हो सकता है? यह शस्त्र हमारे हाथमें ही है और विद्यार्थियोंके साथ हम अपना कर्तव्य-पालन करेंगे। इसके अलावा सारे देशमें शांति-स्थापनाका काम करेंगे और राजनीतिसे हम बिलकुल अलग रहेंगे।"

ऐसी प्रतिज्ञा अगर आप करें तो आपकी हस्ती एकदम ऊपर उठेगी। लोग आपकी ओर दूसरी दृष्टिसे देखने लगेंगे। बिहारका कितना गौरव रहा है, जहाँ याज्ञवल्क्य जैसे ज्ञानी ऋषि हो गये हैं, जनक, बुद्ध, महावीरकी परम्परा यहाँ रही है। तो ऐसी जहाँ परम्परा रही है, वहाँ जब आप भारतके शान्ति-सैनिक, मार्ग-

दर्शक आचार्यके नाते देशके सामने पेश होंगे, तो सारे विहारकी जनताके मनमें आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी ।

अगर हस्ताक्षरका सिलसिला शुरू हो जाय तो क्रांतिका झण्डा यहाँ फहराने लगेगा। यह काम गाँव-गाँवमें करना कठिन है। यहाँ ७० हजार गाँव हैं। आचार्य लोग इस कामको शुरू करेंगे तो उससे एक हवा फैलेगी और विहारमें एक स्वतंत्र शक्ति खड़ी होगी ।

४. शिक्षा और शिक्षक

इन दिनों बाबा हँसता ही रहता है । वह इसलिए हँसता है कि रोना वाजिब नहीं है, अगरचे हालत रोने लायक है । और इसलिए भी हँसता है कि बाबाको उसका उपाय सूझा हुआ है । यह उपाय अगर लोगोंको सूझेगा तो सारे भारतमें आनन्द होगा । इस आनन्दमय निश्चित भविष्यको ध्यानमें रखकर बाबा हँसता है । बाबा इसलिए भी हँसता रहता है कि वह इस दुनियाको मिथ्या समझता है । बहुत ज्यादा वास्तविक अस्तित्व इसको है, ऐसा बाबाको प्रतीत नहीं होता । पर भारतकी परिस्थिति बहुत शोचनीय है । इसलिए अन्दरसे बहुत वेदनाका अनुभव होता है ।

बुनियादी काम नहीं किये

तीन प्रकारके हमारे दुःख हैं, जिनका निवारण हमको करना है, जिनके लिए हमको अपनी सारी ताकत लगानी पड़ेगी । स्वराज्यके बाद बीस सालके सारे प्रयत्नोंके बावजूद वे तीनों दुःख अपनी जगह कायम हैं । इनमेंसे एक है --दारिद्र्य । मुझे लगता है कि दारिद्र्य तो कुछ बढ़ा ही है । कारण उसके कई कहे जा सकते हैं । कारण जो भी हो, हमारी असावधानता बहुत बड़ा कारण है । हमने अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया है । देशके लिए जो जरूरी बुनियादी चीजें हैं, प्राथमिक आवश्यक चीजें हैं, जिनके बिना दुय्यम आवश्यकताएँ खास माने रखती नहीं, उनकी पूर्तिमें हम खास कुछ कर नहीं सके ।

अन्न-स्वावलम्बनका महत्त्व

हमारे पूर्वजोंने हमें एक व्रत दे दिया--'अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्।' व्रत लीजिये कि अन्न बढ़ाया जाय। ये उपनिषद्के शब्द हैं। उपनिषद् कोई पंचवर्षीय योजनाकी पुस्तक नहीं है, ब्रह्म-विद्याकी पुस्तक है। लेकिन ब्रह्म-विद्याकी पुस्तकमें भी उन्होंने यह आदेश दिया कि अन्न खूब बढ़ाइये । और

सिर्फ आदेश नहीं दिया, वल्कि कहा कि उसका व्रत लीजिये। लेकिन इतने मूलभूत कामको हम भूले और कई दूसरी-दूसरी बातें की, लेकिन मुख्य काम नही किया। इस ब्रह्म-विद्याने अन्न बढ़ानेका आदेश दिया। अनाज ही पूरा नहीं पड़ता, तव परस्पर प्रेम और करुणा रखना मृग-जलवत् हो जाता है। इतनी महत्त्वकी वुनियादी वात हम नही कर सके। सव लोगोंकी शक्ति उसमें लगनी चाहिए थी, सरकारकी तो लगनी ही चाहिए थी, पर नहीं लग सकी। यह नहीं कि उन्होंने आलसमें दिन काटे। काम किया, लेकिन इधर ध्यान गया नही और जनताका भी ध्यान नहीं गया।

महात्मा गांधीने स्वराज्य प्राप्त होनेके बाद कहा था कि अनाज कम पड़ेगा, तो स्वराज्य फीका पड़ेगा, इसलिए हर घरमें अन्न-उत्पादन होना चाहिए। महात्मा गांधीमें सूझ थी। उन्होंने कहा कि जहाँ-जहाँ जमीनका थोड़ा भी टुकड़ा खाली पड़ा हो, वहाँ सब्जी, तरकारियाँ लगायी जायँ। शहरके लोगोंसे कहा कि घरमें खाली जमीन न हो, तो गमलोंमें तरकारियाँ लगायें। अब गमलोंमें कितनी तरकारियाँ लगेंगी? मान लीजिये कि दो-तीन गमले हैं, उनमें सालभरमें सेरभर तरकारी पैदा हो सकती है। लेकिन विलकुल न होनेसे कुछ होना बेहतर है। फिर करोड़ों लोग जिसको करते हैं, वह चीज छोटी नहीं रहती, उसका गुणाकार वहुत वड़ा होता है। पानी बूंद-बूंद गिरता है, लेकिन हर जगह टपकता है। इसलिए सारी जमीन तर हो जाती है। इसलिए हर कोई थोड़ी उपज करे और हर घरमें थोड़ी उपज हो जाय, तो बहुत बड़ा काम होगा। इससे सबको शिक्षा मिलेगी कि देशके उत्पादनके लिए हरएकको कुछ करना है। उसके बिना हमको खानेका हक नहीं। सेण्ट पालने भी यह कह दिया है कि अगर तुम लोग हाथसे काम नहीं करते हो, तो **'नीदर शुड यू ईट'**: तुमको खाना नहीं चाहिए। यह न्याय समझा दिया कि जिसने काम ही नहीं किया, उसको खानेका अधिकार नहीं। ठीक यही वात महात्मा गांधीने कही कि थोड़ा-थोड़ा क्यों न हो, कुछ उत्पादन करो।

जापानमें गांधीजीकी कही हुई बातपर अमल हो रहा है। वहाँ एक फुट भी जमीन खाली नहीं दिखेगी। कागावाने उसपर एक वहुत बड़ा उपन्यास लिखा है। कागावा जापानके एक बहुत बड़े महान् ज्ञानी मिशनरी हो गये हैं। उन्होंने एक वहुत सुन्दर ग्रन्थ लिखा है 'आन दि स्टप्स'—पहाड़ोंकी ढालपर कैसी खेती की जाय? अपने उपन्यासमें उन्होंने वताया कि किस तरह जवान लोग निकले और उन्होंने किस तरह पहाड़ोंपर खेती की और बड़े-बड़े वृक्ष लगाये, ताकि मिट्टी नीचे वह न जाय। किस तरह जरा भी जमीन बेकार न जाने दी, किस प्रकार उन्होंने अपने देशको बचाया है। और हम यहाँ देखते हैं कि जमीन बेकार पड़ी हुई है। तो इस वातका हमें वड़ा दुःख है।

स्वदेशीका लोप

दूसरी बात देशमें 'स्वदेशी-धर्म' बिलकुल खतम हो गया है। जहाँ अन्न ही बाहरसे आता है, बच्चोंके लिए दूधका पाउडर भी बाहरसे आता है, उस हालतमें क्या नाम लें स्वदेशीका और कैसे कहें कि भारत अपने पाँवपर खड़ा है? अनाज अमेरिकासे मँगवाया जाता है। दूसरी भी कई चीजें बाहरसे मँगवायी जाती हैं। चीजें खरीदते समय हम सोचते ही नहीं कि यह चीज कहाँसे आयी है। लेकिन इसके लिए भारतको परदेशसे कितना खरीदना पड़ता है, दुनियामें उसको कितना घृणित होना पड़ता है, बाहरसे राजनीतिक दबाव आता है, यह सारा सोचते ही नहीं। लेकिन हमने यहाँतक देखा है कि तैयार माल भी बाहरसे आता है, और यहाँके लोग खरीदते हैं। कुछ तो ऐसा होता है कि बाहर इस्तेमाल किया हुआ माल यहाँ सस्ते दाममें बेचा जाता है, और हमारे लोग उसे खरीदते हैं। सार यह है कि अपने देशमें 'स्वदेशी धर्म' खतम हो गया है।

शिक्षामें गलतियाँ ही गलतियाँ

जहाँतक तालीमका ताल्लुक है, जितनी गलतियाँ हम उसमें कर सकते थे, उतनी हमने कीं। एक भी गलती करना बाकी नहीं रखा। आज हमारी तालीममें आध्यात्मिक तालीम नहीं है। जो भारतका विचार था, जिसके आधारपर भारत खड़ा था और खड़ा है, और मजबूत बना है, वह बुनियाद आज हमारी तालीममें है ही नहीं। तो यह हमारा तीसरा दुःख है। हमारी तालीममें उत्पादन-क्रिया है नहीं।

हमने आजकी तालीममें ज्ञान और कर्मको अलग-अलग कर दिया है। जितने लोग शिक्षित होकर कॉलेजसे निकलते हैं, उतनी नौकरियाँ हैं नहीं। इससे आज स्थिति ऐसी हो गयी है कि लोगोंको शिक्षा देते हैं, तो बेकारी बढ़ती है और नहीं देते हैं तो अज्ञान बढ़ता है। दोनोंमें खतरा है।

इसके खिलाफ सारी भगवद्गीता खड़ी है:

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

जनकादिकोंने कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त की, इसलिए कर्मको कभी मत छोड़। ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिए, महाज्ञानीको भी कर्म करना चाहिए। जैसे माता बच्चेके लिए खेलती है, वैसे ही ज्ञानीको लोक-संग्रहके लिए कर्म करना चाहिए। ऐसा आदेश भगवान्ने गीतामें दिया है, जो भारतका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके रहते हुए भी हमने कर्मका सारा विचार खो दिया। ज्ञान तो बढ़ा नहीं, कर्म भी खो दिया।

एक गम्भीर खतरा

इसके बाद जिस तरह हमने सामाजिक व्यवहार किया, वह भी अत्यन्त दोषा-स्पद था। भाषाके कारण मद्रासमें, यहाँ तथा भारतमें जगह-जगह दंगे हुए। भारतके लिए यह बहुत बड़ा खतरा खड़ा है। क्या भाषाके नामपर भारतके दो टुकड़े हो जायँगे ? सम्प्रदायके कारण दंगे हुए, धर्मके कारण भी हुए। अभी असममें क्या हुआ ? असमियोंने कहा कि हम भारतमें रहना नहीं चाहते, तो अन्य भारतीयोंसे कह दिया--'**गो आउट इंडियन्स**'--भारतीयो, असमके बाहर चले जाओ। यानी इंडियन वर्सेज आसामीज : भारतीय विरुद्ध असमी। करोड़ों रुपयोंकी संपत्ति जलायी गयी। आग तो इन दिनों बहुत लगायी गयी, लेकिन गौहाटीमें आग लगानेमें रेकार्ड है। और यह सब जो हुआ, यह नाहक गलतफहमीसे हुआ।

शिक्षकोंके सामने चुनौती

अब सवाल है कि ऐसी हालतमें हमारे शिक्षक क्या जनानखानेकी बहनोंके समान अपने विद्या-स्थानमें पड़े रहेंगे या बाहर कोई पराक्रम करनेके लिए आयेंगे ? 'हम यहाँ अपना काम कर रहे हैं। बाहर हमारी कोई जिम्मेवारी नहीं'--ऐसा कहकर अपना हाथ धो डालेंगे कि बाहर ऐसा कुछ करना अपनी जिम्मेवारी मानेंगे ? मैं अपनेको शिक्षक मानता हूँ और अगर मैं अध्ययन-अध्यापन करता रहता तो मुझे उससे अधिक खुशी और किसी काममें न होती। और वैसा करता तो मेरा खयाल है कि मैं सौ साल जीता। वह जीवन ही ऐसा शान्ति और समत्व रखनेवाला है। लेकिन मैं सेवाके लिए बाहर निकल पड़ा, क्योंकि भारत खतरेमें है। इसलिए मैं आपसे अपेक्षा करता हूँ कि आपको एक प्रोजेक्ट (कार्य-योजना)के तौरपर कम-से-कम एकाध जिला हाथमें लेना चाहिए। हर गाँवमें जानेकी जरूरत नहीं। चुनकर एक ग्रामीण क्षेत्र लिया जाय। और गाँवोंका पूरा सर्वे किया जाय, ताकि गाँवोंकी जानकारी पूरी हासिल हो। फिर उसको सुधारने-के लिए क्या कर सकते हैं, इसपर सोचा जाय। योजना बनायी जाय। गाँवका सर्वे और सुधारके लिए योजना और शहरोंका सर्वे और जिम्मा उठाना कि यहाँ दंगे होंगे नहीं। होंगे तो हम उसके लिए अपनेको जिम्मेवार मानेंगे और उसको रोकनेके लिए पूरी चेष्टा करेंगे। और यह चेष्टा दंगे होनेके बाद नहीं, पहले ही करनी चाहिए, ताकि परिस्थितिपर काबू आये।

राजनीति-मुक्त और लोकनीति-युक्त

राजनीतिज्ञोंका तरीका है कि वे टुकड़े करना जानते हैं। इस शक्तिको तोड़ना हो, तो दूसरी शक्ति खड़ी होनी चाहिए--गाँवकी शक्ति। एक शक्ति किसानों-

की खड़ी हो और दूसरी शक्ति विद्वानोंकी, शिक्षकोंकी खड़ी हो। दोनोंकी आवश्यकता है। एक है—'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, अन्नं बहु कुर्वीत।' खेतीकी उपेक्षा की, तो लड़ाई भी जीती नहीं जा सकती। दूसरी शक्ति है ज्ञानकी। चैतन्यको आकार देनेका काम आपको सौंपा गया है। यह जो शिक्षकोंकी हैसियत थी, उसके बजाय शिक्षक आज सामान्य हैसियतमें आये हैं। शिक्षकोंमें विभाग हुए हैं, विद्यार्थियोंमें विभाग हुए हैं। फिर विद्यार्थी विरुद्ध शिक्षक, ऐसे विभाग भी हुए हैं। दोनों मिलकर होती है विद्या-शक्ति। पर उनके आज अलग-अलग विभाग हो गये हैं। जिनके स्वार्थ वास्तवमें एक होने चाहिए, वे अगर अपने-अपने अलग-अलग संघ बनायें, तो शक्ति कैसे खड़ी होगी? इन सारे प्रश्नोंका उत्तर देना हो तो वह शिक्षक ही दे सकता है, पर वह तभी, जब वह राजनीतिसे अलग हो जाय और लोकनीतिके साथ जुड़ जाय। राजनीतिसे अलग हुए बिना राजनीतिपर असर पड़ेगा नहीं। राजनीति-मुक्त और लोकनीति-युक्त होनेमें लाभ है।

हमने ग्राम-शक्तिकी बात कही है। आज स्थिति ऐसी है कि इसकी किसीने कल्पना ही नहीं की कि राजनीतिक दलबन्दीके बिना राजनीति हो सकती है। आज 'डेलीगेटेड डेमोक्रेसी' है, 'पार्टीसिपेटिंग डेमोक्रेसी' नहीं है। अगर शिक्षक ऐसा माने कि हमने स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़ा दिया, अब हमारा कोई कर्तव्य नहीं है, तो चलेगा नहीं। आपका जनताके साथ सम्पर्क होना चाहिए। जनताके साथ सम्पर्क न हो, तो राजनीतिपर असर नहीं पड़ेगा।

बीच-बीचमें शिक्षकोंके शिविर हों। वहाँ भिन्न-भिन्न मसलोंपर चर्चा हो, अभिप्राय बनाये जायँ और शिक्षकोंकी ओरसे वे अभिप्राय जाहिर हों। इस प्रकार लोगोंके मार्गदर्शनके लिए आप तैयार रहें। लोगोंको विश्वास हो कि भिन्न-भिन्न प्रश्नोंपर आप तटस्थ रहकर सहानुभूतिपूर्वक सोचते हैं और अपना निर्णय जाहिर करते हैं। इससे सरकारको भी मदद होगी और इस तरह आपका अंकुश राज्यपर आयेगा। यह कभी नहीं हो सकता कि राजनीतिमें पड़कर आपकी ताकत बनेगी। तब आपकी चोटी सरकारके हाथमें ही रहेगी। इसलिए शिक्षकोंको आगे आना चाहिए, राजनीतिसे ऊपर रहना चाहिए, कुछ 'प्रोजेक्ट' हाथमें लेना चाहिए और जनताको ऐसी आशा और ऐसा विश्वास होना चाहिए कि मौकेपर उसे आपसे मार्गदर्शन मिल सकता है।

५. आचार्यकुल

पूसारोडके सम्मेलनके सिलसिलेमें मुझे विद्वानोंके सामने आनेका मौका मिला। इससे मुझे बड़ी खुशी हुई और अनुभव आया कि वे सारे विद्वान्, आचार्य,

प्राचार्य आत्मदर्शन यानी अपने स्वरूपके दर्शनके लिए बहुत उत्सुक हैं। तुलसीदासका एक पद है:

'जाग जाग जीव जड़'–अरे जड़जीव तू जाग ले।
'कहें वेद बुध, तू तो बूझि मन माँहि रे।
दोष दुख सपने के, जागे ही पै जाँहि रे।।'

वेद और बुध सब एक ही बात कहते हैं कि स्वप्नके जो दोष और दुःख हैं, उनके लिए सर्वोत्तम औषधि जागृति है। न जागकर स्वप्नके अन्दर जितने उपाय किये जायेंगे, उतनी ही स्वप्न-सृष्टि दीर्घ बनती जायगी और वह हालत और लम्बी होती जायगी। इस वास्ते स्वप्नके रोगोंके लिए जागृति ही सर्वोत्तम उपाय है। मुझे यह कहनेमें खुशी हो रही है कि इस किस्मकी जागृति, जो पहले नहीं थी, अब आ रही है।

प्रयत्न यह हो रहा है कि एक 'अखिल बिहार आचार्यकुल' की स्थापना की जाय। प्रश्न था कि प्राध्यापकों, आचार्यों और प्राचार्यों द्वारा यह जो बड़ा कार्य होने जा रहा है, उसका नाम क्या रखा जाय ? मैं 'अखिल बिहार आचार्यकुल' से बेहतर नामकी कल्पना नहीं कर सका। 'कुल' शब्द परिवारवाचक है और हम सभी आचार्योंका एक ही परिवार है। ज्ञानकी उपासना करना, चित्त-शुद्धिके लिए प्रयत्न करना, विद्यार्थियोंके लिए वात्सल्य-भावना रखकर उनके विकासके लिए सतत प्रयत्न करते रहना, सारे समाजके सामने जो समस्याएँ आती हैं, उनपर तटस्थ भावसे चिन्तन करके सर्व-सम्मतिका निर्णय समाजके सामने रखना और समाजको उस प्रकारसे मार्गदर्शन देते रहना इत्यादि कार्य जो हम सब करने जा रहे हैं, वह एक परिवारकी स्थापनाका ही काम है। इस वास्ते मैंने इसका नाम 'आचार्यकुल' रखा। इसके लिए यह एक सुन्दर शब्द है। इनके अलावा अरबीके साथ भी इसका मेल मिलता है, संस्कृतके साथ तो है ही। ऐसे कई शब्द हैं, जो संस्कृत होते हुए अरबी भी हैं और लैटिन भी हैं। 'आचार्यकुल' यानी कुल-के-कुल आचार्योंका बोध होता है। आचार्योंके परिवारका मतलब होता है कि इस परिवारमें ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़ेका सवाल ही नहीं रहेगा। इसलिए जितने आचार्य हैं, सभी समान रूपसे आदरणीय हैं। सबका सम्मिलित प्रयत्न होगा, तभी यह काम चल सकेगा। भारतमें जो अनेक समस्याएँ हैं, जो संकट हैं, उनसे अलग रहकर कुछ नहीं किया जा सकता। महात्मा गौतम बुद्धने कहा—'पब्बतट्ठो व भुम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति' पर्वत-शिखरपर चढ़ा हुआ आदमी भूमि-स्थलपर क्या किया जा रहा है, उसको देखता रहता है और वहाँसे मार्गदर्शन देता रहता है। बिलकुल ठीक ऐसी ही भाषामें वेदमें

आया है--'**निपर्वतस्य मूर्द्धनि सदंतेषं ।**' पर्वतोंके शिखरपर वे चढ़ गये । '**जनाय दाशुषे वहन्ता ।**' 'पर्वतोंके शिखरपर चढ़कर दुनियामें काम करनेवाले सेवक लोगोंकी इच्छा-शक्ति बढ़ाते रहते हैं ।' दुनियाकी इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति क्षीण हो गयी है, प्रेरणा क्षीण हो गयी है । उसको वे पर्वतके ऊपर चढ़कर बढ़ाते रहते हैं । यानी आचरणकी दृष्टिसे स्वयं ऊपर बढ़नेकी कोशिश करते ही हैं, परन्तु लोगोंके धरातलमें आकर भी सोचते हैं और लोगोंकी इच्छा-शक्ति बढ़ानेकी कोशिश करते हैं । ऐसी बात वेदमें आयी है और इसके ही लगभग प्रतिरूप शब्दोंमें गौतम बुद्धने भी कहा ।

कर्तव्यके प्रति जागृति

अभी जिस 'आचार्यकुल' की स्थापना होने जा रही है, वह अपना हक यानी अधिकार प्राप्त करनेके लिए नहीं होने जा रही है । अपना अधिकार प्राप्त करनेके लिए दूसरी संस्थाएँ हैं । यह तो अपने कर्तव्यके प्रति जागृति और प्रयत्न करनेके लिए है । इससे सारे शिक्षक लोग समाजमें अपनी वास्तविक हैसियत पायेंगे, जिसे आज वे खोये हुए हैं । महाभारतमें वर्णन आया है कि एक दिन धर्मराजके मुखसे द्रोणाचार्यके पुत्रकी मृत्युके विषयमें संदिग्ध शब्द निकला । परिणाम यह हुआ कि उनका रथ, जो भूमिसे हमेशा चार अंगुल ऊपर हवामें चलता था, वह धर्म-रथ एकदम जमीनपर आ गया । इसी तरह शिक्षकोंका जो धर्मरथ है, वह भी भूमि-के ऊपर होना चाहिए, लेकिन वह आज नीचे गिर गया है । आज शिक्षक सामान्य स्तरपर आ गये हैं । लेकिन जिस क्षण मनुष्यको यह भान होगा, उसी क्षण वह मुक्त हो जायगा । मुक्तिका बिलकुल सीधा-सादा और सरल उपाय है--'अपनेको पहचानो' । जिसने अपनेको पहचान लिया, वह तत्क्षण एक नया मानव बन गया । पुराना मानव गिर गया और नया मानव बन गया । दृष्टि आ गयी, तो सृष्टि बदल गयी । जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि होती है । दृष्टिके अनुसार ही सृष्टि बनती है । इसलिए यह जो महान् प्रयत्न हो रहा है, इस सिल-सिलेमें मैं आशा करता हूँ कि अनेक प्रकारकी जो शंकाएँ होंगी, काम करते-करते उनका हल निकलता जायगा । बीच-बीचमें शंकाओंका उत्तर मिलता रहेगा । यदि हम दृढ़ निश्चयसे लग जायेंगे कि यह काम करना ही है, तो सब शंकाएँ धीरे-धीरे अनुभवसे समाप्त हो जायेंगी । गीताने कहा कि जिनका निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अनंत होती है । '**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयो व्यव-सायिनाम् ।**' मतलब यह कि उनकी बुद्धिकी अनेक शाखाएँ निकलती रहती हैं । और जो किसी एक निश्चयपर एकाग्र होते हैं, वे कर्मयोगी होते हैं और अन्तमें सफल होते हैं । इसलिए मनुष्यको निश्चयात्मक बुद्धिवाला होना चाहिए । गीता-में निश्चयात्मक बुद्धिपर जोर दिया गया है ।

ज्ञान-शक्ति

मुझसे लोगोंने पूछा कि आजकल चारों ओर जो हाहाकार फैला हुआ है, ऐसी हालतमें आप इस प्रकारका प्रयत्न कर रहे हैं, वह कहाँतक सफल हो सकता है, उसका क्या परिणाम होगा ? हर जगह अंधकार फैला हुआ है, उसका निराकरण कैसे होगा ? मैंने कहा कि जरा देखना चाहिए कि अन्धेरा कहाँ है ? एक आदमी रातको सूर्यपरसे गिरा और पृथ्वीपर आया। उसके साथ दो-तीन साथी थे। पृथ्वीपर उन्होंने रातमें देखा कि तमाम कचरा ही कचरा है। अन्धेरा वे जानते नहीं थे, क्योंकि वे सूर्यके रहनेवाले थे। उन्हें पता नहीं था कि अन्धेरा क्या चीज होती है। उन्होंने देखा कि यहाँ खूब कचरा भरा हुआ है। वे लोग खोदने लगे। खोदनेकी आवाज जोरसे होने लगी। उस आवाजसे आसपासके लोग जाग गये। रातके समय ये कौन आये हैं और क्या कर रहे हैं, यह देखनेके लिए लोग लालटेन लेकर आये। जब लालटेनकी रोशनीमें वे लोग आये तो एकदमसे सारा कचरा गायब हो गया। अब सूर्यवाले लोग यह देखकर हैरतमें आ गये कि हम लोगोंने खोद-खोदकर इतना कचरा निकाला था, वह एकदमसे क्या हुआ। हुआ यह था कि लालटेन आ गयी, यानी प्रकाश आ गया। प्रकाशके सामने अन्धेरा तो गायब हो ही जाता है। प्रकाशके सामने अन्धेरा मुख नहीं दिखाता। अन्धेरा जितना पुराना होता है, उतना अधिक कमजोर होता है। घनघोर गुहामें जो अन्धेरा भरा रहता है, वह हजारों वर्षोंसे है, लेकिन उसमें एक टार्च लेकर चले जाइये, अन्धेरा एकदम खत्म हो जायगा। इसलिए दूर-दूरतक हम लोगोंको जो अन्धेरा दिखायी पड़ रहा है, वह इसलिए है कि हमारे पास प्रकाश नहीं है। अगर हमारे पास प्रकाश होता तो अन्धेरा होता ही नहीं, अन्धेरा खत्म हो गया होता। प्रकाशके अलावा और किसी प्रकारसे प्रहार करके अन्धेरेको खत्म नहीं किया जा सकता। बल्कि अन्धेरेको, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे प्रयत्नोंसे अस्तित्व प्राप्त होता है। अन्धेरेका सामना करनेके लिए कुदाल लेकर खोदने लगेंगे तो उसका अर्थ यही होता है कि जिस अन्धेरेका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसको आप अस्तित्व दे रहे हैं। वास्तवमें अन्धेरा इसीलिए है कि प्रकाश है नहीं। जब प्रकाश आता है तो अन्धेरा खत्म हो जाता है। आज हमारी और आपकी जो अल्प शक्ति है, वह कौन-सी शक्ति है ? वह ज्योति है, वह प्रकाश है, वह ज्ञान है, वह विचार है और चिन्तन-मनन है। यह जो शक्ति है, उसके सामने कौनसी शक्ति है दुनियामें ?

दिल बड़ा बनाना होगा

आप ध्यानमें रखें कि दुनिया एक होने जा रही है, मानव-मानव नजदीक आ रहे हैं। आकाश-अवकाश कम पड़ गये हैं। विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है,

यानी जब दिमाग इतना बड़ा हो गया है, तब दिल छोटा रहेगा तो मनुष्यके जीवनमें विसंवाद बना रहेगा। आजकल जितनी समस्याएँ दुनियामें भरी हुई हैं, वे इसी विसंवादके कारण ही हैं। कहीं कहते हैं मजदूर-मालिकका झगड़ा है, कहीं कहते हैं हिन्दू-मुसलमानका झगड़ा है, कहीं कहते हैं हिन्दुस्तान-पाकिस्तानका झगड़ा है और कहीं वियतनामका झगड़ा है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि बुद्धि बड़ी बन गयी है और दिल छोटा रह गया है। आजकल बड़ी बुद्धि और छोटे दिलकी लड़ाई हो रही है। दिल तो छोटा है ही, अगर दिमाग भी छोटा होता, तो विशेष झंझट भी न होती।

लेकिन आज दुनियाकी हालत क्या है? मनुष्यका दिमाग इतना व्यापक बन गया है कि न्यूटन जैसे महामुनि और व्यास जैसे भगवान् भी छोटे पड़ गये। उनको जितना ज्ञान था, उससे बहुत ज्यादा ज्ञान हमारे पास हो गया है। न्यूटनको गणितका जितना ज्ञान था, उससे अधिक ज्ञान आजकलके जमानेमें कॉलेजके मामूली लड़केको होता है। न्यूटनको 'डिफ्रेन्शियल केलकुलस' का कोई पता नहीं था, परन्तु न्यूटन अपने जमानेका महान् ज्ञानी था, महान् गणितज्ञ था। लेकिन उसका गणित-ज्ञान आजकलके जमानेके गणित-ज्ञानसे छोटा पड़ गया है। पुराने जमानेमें भूगोलका ज्ञान भी ऐसा ही था। अकबर बादशाहके दरबारमें एक अंग्रेज वकील आ पहुँचा। उसने कहा कि मैं विक्टोरिया रानीकी तरफसे आया हूँ। तब अकबरको पता चला कि दुनियामें इंग्लैंड नामका कोई देश भी है और वहाँ कोई रानी है। लेकिन आजकलके तीन-चार सालकी उम्रके लड़कोंको भूगोलका ज्ञान अकबर बादशाहसे अधिक होता है। आज हमारा दिमाग इतना विस्तृत हो गया है यानी दिमाग इतना बड़ा बन गया है, पर दिल छोटा ही रह गया है। हम कौन हैं? हम हरिजन हैं। हम कौन हैं? हम भूमिहार हैं। हम कौन हैं? हम सिख हैं। हम कौन हैं? हम ब्राह्मण हैं। हम इस पार्टीके हैं, वह उस पार्टीका है। प्रत्येकके साथ गुट लग गया है, पार्टी लग गयी है। मैंने इसपर एक कविता लिखी है, जिसका मतलब है 'जाति, धर्म, पंथ, भाषा, पक्ष, प्रान्त, इन सबका अन्त सर्वोदय।' सर्वोदय तभी होगा, जब इन सबका अन्त होगा। ये सारी छोटी-छोटी चीजें लोगोंके दिमागमें पड़ी हैं, मामूली-मामूली प्रश्नोंमें हमारा चित्त उलझा रहता है, तो इसका मतलब यह है कि हम लोग इस जमानेके लायक नहीं हैं। जमाना बहुत आगे बढ़ गया है और हमारा दिल छोटा ही रह गया है।

हम विश्व-मानव

हम या तो दिमाग छोटा करें, यानी विज्ञानको पीछे हटायें। लेकिन यह हो नहीं सकता। विज्ञान प्राप्त ही न हो यह हो सकता है, लेकिन विज्ञान प्राप्त

होनेके बाद भूल जायँ, यह बात हो नहीं सकती। ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य भूल जायगा, यह हो नही सकता। इस वास्ते विज्ञानको आप पीछे हटा नही सकते हैं, क्योंकि यह संभव नही है। इसका मतलब यह हुआ कि दिमाग उत्तरोत्तर व्यापक और विशाल बनता जायगा। अब सिवा इसके और कोई चारा नहीं है कि हम अपने दिलको बड़ा बनायें। इस वास्ते हमको यह नहीं समझना चाहिए कि 'वह आदमी छोटा है या वह आदमी बड़ा है', 'हम भारतके हैं और वह पाकिस्तानका है।' अब ऐसी बात नही चलेगी। हमारे लिए 'जय जगत्' ठीक है। हमारे लिए सारा विश्व है। ऋग्वेदमें है 'विश्वमानुषः'। हम विश्वके नागरिक हैं। हम विश्व-मानव हैं।

यह हैसियत अगर अध्यापकोंकी न हो, तो और किसकी होगी? यह हैसियत आम जनताकी हो नहीं सकती। वे तो अपने छोटे-से परिवार या अपने छोटे-से गाँवके बारेमें ही सोच सकते हैं। शिक्षकोंका दिमाग ऊँचा होना चाहिए और उनका दिल व्यापक होना चाहिए। इस वास्ते हम आशा करते हैं कि आपकी जमात जब खड़ी हो जायगी और 'आचार्यकुल' की स्थापना हो जायगी, तब एक नयी शक्ति बिहारमें उत्पन्न होगी और उसके परिणामस्वरूप बिहारका स्वरूप बदल जायगा। गौतम बुद्ध और महावीर साक्षी होंगे। वे देखेंगे कि यहाँ क्या-क्या हो रहा है। राजा जनक देख रहे हैं, उधर कृष्ण देख रहे हैं, उधर अशोक सम्राट् देख रहे हैं कि हमारे बच्चे क्या करने जा रहे हैं और मैं महसूस करता हूँ कि इन सबोंका आशीर्वाद हमें इस कामके लिए प्राप्त हो रहा है। इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। ●

१०. भगवान्‌के दरबारमें

१

पुरीमें दर्शन - लाभसे वंचित

आज सुबह हम जगन्नाथके दर्शनके लिए मंदिरतक गये थे और वहाँसे हमको वापस लौटना पड़ा। हम तो बड़े भक्ति-भावसे गये थे। हमारे साथ एक फ्रेंच बहन भी थी। अगर वह मंदिरमें नहीं जा सकती है, तो फिर हम भी नहीं जा सकते हैं, ऐसा हमको अपना धर्म लगा। हमने तो हिन्दू-धर्मका बचपनसे आजतक अध्ययन किया है। ऋग्वेद आदिसे लेकर रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी-तक धर्म-विचारकी जो परंपरा यहाँपर चली आयी है, सबका हमने बहुत भक्ति-भावपूर्वक अध्ययन किया है। हमारा नम्र दावा है कि हिन्दू-धर्मको हम जिस तरह समझे हैं, उस रूपमें उसके नित्य आचरणका हमारा नम्र प्रयत्न रहा है। आज हमें लगा कि उस फ्रेंच बहनको बाहर रखकर हम अन्दर जाते, तो हमारे लिए बड़ा अधर्म होता। हमने वहाँके अधिष्ठातासे पूछा कि क्या इस बहनके साथ हमको अन्दर प्रवेश मिल सकता है? जवाब मिला कि 'नहीं मिल सकता।' तो भगवान्‌की जगह उन्हींको भक्ति-भावसे प्रणाम करके हम वापस लौटे।

संस्कारके प्रभावमें

जिन्होंने हमको अन्दर जाने देनेसे मना किया, उनके लिए हमारे मनमें किसी प्रकारका न्यूनभाव नहीं है। मैं जानता हूँ कि उनको भी दुःख हुआ होगा, परन्तु वे एक संस्कारके वश थे, इसलिए लाचार थे। पर हमारे देशके लिए और हमारे धर्मके लिए यह बड़ी ही दुःखदायक घटना है। चार-साढ़े चार सौ साल पहले बाबा नानकको भी यहाँपर मंदिरके अन्दर जानेका मौका नहीं मिला था और बाहर ही से उन्हें लौटना पड़ा था। लेकिन वह तो पुरानी घटना हुई। हम आशा रखते थे कि अब वह बात फिरसे नहीं दुहरायी जायगी।

हिन्दू-धर्मको खतरा

जो फ्रेंच बहन हमारे साथ आयी, वह अहिंसामें और मानव-प्रेममें विश्वास रखनेवाली एक बहन है और गरीबोंकी सेवाके लिए भूदान-यज्ञका जो काम चल

रहा है, उसके लिए उसके मनमें बहुत आदर है। इसलिए वह हमारे साथ घूम रही है। हम समझते हैं कि परमेश्वरकी भक्ति इस बहनके मनमें दूसरे किसीसे कम नहीं है। हमारे भागवत-धर्मने तो यह दावा किया है कि जिसके हृदयमें ईश्वरकी भक्ति है, वह ईश्वरका प्यारा है, चाहे वह किसी भी जातिका या किसी भी धर्मका क्यों न हो। ब्राह्मण ही क्यों न हो और बहुत सारे दुनियाके गुण उसमें हों, तो भी उसमें यदि भक्ति नहीं है, तो उससे वह चांडाल भी श्रेष्ठ है, जिसके हृदयमें भक्ति है। भागवत-धर्म और उसकी प्रतिष्ठा उड़ीसामें सर्वत्र है। उड़िया भाषाका सर्वोत्तम ग्रंथ है, जगन्नाथदासका 'भागवत'। नानककी पुरानी बात छोड़ दीजिये तो जगन्नाथ-मंदिरके लिए भी यह ख्याति रही है कि यहाँपर बड़ा उदार वैष्णव-धर्म चलता है। इन दिनों हर कौमकी और हर धर्मकी कसौटी होने जा रही है। जो संप्रदाय, जो धर्म उस कसौटीपर टिकेंगे, वे ही टिकेंगे, बाकीके नहीं टिक सकते। अगर हम अपनेको चहारदीवारीमें बन्द कर लेंगे, तो हमारी उन्नति नहीं हो सकेगी और जिस उदारताका हिन्दू-धर्ममें विस्तार हुआ है, उसकी समाप्ति हो जायगी। धर्म-विचारमें उदारता होनी चाहिए। समझना चाहिए कि जो कोई जिज्ञासु हो, उसके सामने अपना विचार रखना और प्रेमसे उससे वार्तालाप करना भक्तका लक्षण है।

धर्म-स्थानोंको जेल न बनायें

जैसे दूसरे धर्मवाले यहाँतक आगे बढ़ते हैं कि अपनी बातें जबरदस्ती दूसरों-पर लादते जाते हैं, वैसा तो हमें नहीं करना चाहिए; परन्तु हमारे मंदिर, हमारे ग्रंथ, सब जिज्ञासुओंके लिए खुले होने चाहिए; हमारा हृदय सबके लिए खुला होना चाहिए, मुक्त होना चाहिए। अपने धर्म-स्थानोंको एक जेलके माफिक बना देना हमारे लिए बड़ा हानिकारक होगा और उनमें सज्जनोंको प्रवेश कराने-में हिचकिचाहट रही, तो मंदिरोंके लिए आज जो थोड़ी-बहुत श्रद्धा बची हुई है, वह भी खतम हो जायगी।

सनातनियोंद्वारा ही धर्महानि

हमें समझना चाहिए कि आखिर धर्मका संदेश चन्द लोगोंके लिए है या सारी दुनियाके लिए? कोई तीस-बत्तीस साल पहले हम जब वेदका अध्ययन करना चाहते थे, तब ऋग्वेदका उत्तम संस्करण, सायण-भाष्यके साथ हमें मैक्समूलरका किया हुआ मिला। दूसरा कोई उतना अच्छा नहीं मिला। अब तो पूनाके तिलक-विद्यापीठने सायण-भाष्यके साथ ऋग्वेदका अच्छा संस्करण निकाला है; परन्तु उन दिनों तो मैक्समूलरका ही सबसे उत्तम संस्करण मिलता था। उसमें कम-से-कम गलतियाँ, उत्तम छपाई, सस्वर, शुद्ध स्वरके साथ उच्चारण था। एक जमाना

था, जब वेदके अध्ययनके लिए यहाँपर कुछ प्रतिबन्ध लगाया गया था, लेकिन उन दिनों लेखन-कला नहीं थी। छापनेकी कला तो थी ही नहीं। उन दिनों उच्चारण ठीक रहें, पाठ-भेद न हों और वेदोंकी रक्षा हो, इस दृष्टिसे वैसा किया गया होगा। उस जमानेकी बात अगर कोई इस जमानेमें करेगा और कहेगा कि वेदाध्ययनका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही है, दूसरोंको नहीं, तो वह मूर्खताकी बात होगी। वेदोंका अच्छा अध्ययन जर्मनीमें, रूसमें, फ्रांसमें और इंग्लैंडमें भी हुआ है। ऋग्वेदके ही नहीं, बल्कि सारे वेदोंके सब मंत्रोंकी सूची और संग्रह ब्लूमफील्ड नामके लेखकने बहुत अच्छे ढंगसे किया है। उसकी तुलनामें उतना अच्छा दूसरा ग्रंथ नहीं मिलेगा। दूसरे ऐसे बीसों ग्रन्थ हाथमें रखकर उनके आधारपर ऋग्वेदका अध्ययन करनेमें हमें मदद मिली है। जैसे-जैसे जमाना बदलता है, वैसे-वैसे बाह्यरूप भी बदलना पड़ता है, लेकिन हमारे सनातन-धर्मी संकुचित लोगोंने सनातन-धर्मका जितना नुकसान किया है, उतना नुकसान शायद ही दूसरे किसीने इस धर्मका किया हो।

करीब सौ साल पहलेकी बात है। सैकड़ों कश्मीरी लोग जबरदस्तीसे मुसलमान बनाये गये थे। उन लोगोंको पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने फिरसे हिन्दू-धर्ममें आना चाहा और काशीके ब्राह्मणोंसे पूछा, तो उन्होंने उन्हें वापस लेनेसे इनकार किया और कहा कि ऐसे भ्रष्ट लोगोंको हमारे धर्ममें स्थान नहीं है, हम उन्हें नहीं ले सकते। लेकिन नोआखाली इत्यादिमें जो कांड हुआ, उसमें सैकड़ों हिन्दू जबरदस्तीसे मुसलमान हो गये, तो उनको वापस लेनेमें काशीके पंडितोंको शास्त्रमें आधार मिल गया और वे उनको वापस लेनेके लिए उत्सुक हो गये। यह बात सौ साल पहले हमको नहीं सूझी थी, अब सूझ गयी है। जिसको समयपर बुद्धि आती है, उसीको 'ज्ञानी' कहते हैं। उसीसे धर्मकी रक्षा होती है।

मनुका धर्म मानवमात्रके लिए

बड़े आश्चर्यकी बात है कि इन दिनों हिन्दू-धर्मका शायद बहुत ही उत्तम आदर्श जिन्होंने अपने जीवनमें रखा, उन महात्मा गांधीको, सनातनी लोग 'धर्म-विरोधी' कहते हैं। हम समझते हैं कि हिन्दू-धर्मका बचाव और इज्जत जितनी गांधीजीने की, उतनी शायद ही दूसरे किसी व्यक्तिने पिछले एक हजार सालमें की होगी। लेकिन ऐसे शख्सको सनातनी हिन्दू लोग 'धर्मका विरोधी' मानते हैं और अपने-आपको 'धर्मका रक्षक' मानते हैं! यह बड़ी भयानक दशा है। इन सनातनियोंको समझना चाहिए कि जिस धर्मको वे प्यार करते हैं, उस धर्मको उनके ऐसे कृत्यसे बड़ी हानि पहुँचती है। जब कि हिन्दुस्तानको स्वतन्त्रता मिली है और हिन्दुस्तानकी हरएक बातकी तरफ दुनियाकी निगाह लगी हुई है, हिन्दुस्तानसे दुनियाको आशा है, तब ऐसी घटना घटती है, तो दुनियापर

रहा है, उसके लिए उसके मनमें बहुत आदर है। इसलिए वह हमारे साथ घूम रही है। हम समझते है कि परमेश्वरकी भक्ति इस बहनके मनमे दूसरे किसीसे कम नही है। हमारे भागवत-धर्मने तो यह दावा किया है कि जिसके हृदयमें ईश्वरकी भक्ति है, वह ईश्वरका प्यारा है, चाहे वह किसी भी जातिका या किसी भी धर्मका क्यों न हो। ब्राह्मण ही क्यों न हो और बहुत सारे दुनियाके गुण उसमें हों, तो भी उसमें यदि भक्ति नही है, तो उसमे वह चांडाल भी श्रेष्ठ है, जिसके हृदयमें भक्ति है। भागवत-धर्म और उसकी प्रतिष्ठा उड़ीसामें सर्वत्र है। उड़िया भाषाका सर्वोत्तम ग्रंथ है, जगन्नाथदासका 'भागवत'। नानककी पुरानी बात छोड़ दीजिये तो जगन्नाथ-मंदिरके लिए भी यह ख्याति रही है कि यहाँपर बड़ा उदार वैष्णव-धर्म चलता है। इन दिनों हर कौमकी और हर धर्मकी कसौटी होने जा रही है। जो संप्रदाय, जो धर्म उस कसौटीपर टिकेंगे, वे ही टिकेंगे, बाकीके नहीं टिक सकते। अगर हम अपनेको चहारदीवारीमें बन्द कर लेंगे, तो हमारी उन्नति नहीं हो सकेगी और जिस उदारताका हिन्दू-धर्ममें विस्तार हुआ है, उसकी समाप्ति हो जायगी। धर्म-विचारमें उदारता होनी चाहिए। समझना चाहिए कि जो कोई जिज्ञासु हो, उसके सामने अपना विचार रखना और प्रेमसे उससे वार्तालाप करना भक्तका लक्षण है।

धर्म-स्थानोंको जेल न बनायें

जैसे दूसरे धर्मवाले यहाँतक आगे बढ़ते हैं कि अपनी बातें जबरदस्ती दूसरों-पर लादते जाते हैं, वैसा तो हमें नहीं करना चाहिए; परन्तु हमारे मंदिर, हमारे ग्रंथ, सब जिज्ञासुओंके लिए खुले होने चाहिए; हमारा हृदय सबके लिए खुला होना चाहिए, मुक्त होना चाहिए। अपने धर्म-स्थानोंको एक जेलके माफिक बना देना हमारे लिए बड़ा हानिकारक होगा और उनमें सज्जनोंको प्रवेश कराने-में हिचकिचाहट रही, तो मंदिरोंके लिए आज जो थोड़ी-बहुत श्रद्धा बची हुई है, वह भी खतम हो जायगी।

सनातनियोंद्वारा ही धर्महानि

हमें समझना चाहिए कि आखिर धर्मका संदेश चन्द लोगोंके लिए है या सारी दुनियाके लिए? कोई तीस-बत्तीस साल पहले हम जब वेदका अध्ययन करना चाहते थे, तब ऋग्वेदका उत्तम संस्करण, सायण-भाष्यके साथ हमें मैक्समूलरका किया हुआ मिला। दूसरा कोई उतना अच्छा नहीं मिला। अब तो पूनाके तिलक-विद्यापीठने सायण-भाष्यके साथ ऋग्वेदका अच्छा संस्करण निकाला है; परन्तु उन दिनों तो मैक्समूलरका ही सबसे उत्तम संस्करण मिलता था। उसमें कम-से-कम गलतियाँ, उत्तम छपाई, सस्वर, शुद्ध स्वरके साथ उच्चारण था। एक जमाना

था, जब वेदके अध्ययनके लिए यहाँपर कुछ प्रतिबन्ध लगाया गया था, लेकिन उन दिनों लेखन-कला नहीं थी। छापनेकी कला तो थी ही नहीं। उन दिनों उच्चारण ठीक रहें, पाठ-भेद न हों और वेदोंकी रक्षा हो, इस दृष्टिसे वैसा किया गया होगा। उस जमानेकी बात अगर कोई इस जमानेमें करेगा और कहेगा कि वेदाध्ययनका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही है, दूसरोंको नहीं, तो वह मूर्खताकी बात होगी। वेदोंका अच्छा अध्ययन जर्मनीमें, रूसमें, फ्रांसमें और इंग्लैंडमें भी हुआ है। ऋग्वेदके ही नहीं, बल्कि सारे वेदोंके सब मंत्रोंकी सूची और संग्रह ब्लूमफील्ड नामके लेखकने बहुत अच्छे ढंगसे किया है। उसकी तुलनामें उतना अच्छा दूसरा ग्रंथ नहीं मिलेगा। दूसरे ऐसे बीसों ग्रन्थ हाथमें रखकर उनके आधारपर ऋग्वेदका अध्ययन करनेमें हमें मदद मिली है। जैसे-जैसे जमाना बदलता है, वैसे-वैसे बाह्यरूप भी बदलना पड़ता है, लेकिन हमारे सनातन-धर्मी संकुचित लोगोंने सनातन-धर्मका जितना नुकसान किया है, उतना नुकसान शायद ही दूसरे किसीने इस धर्मका किया हो।

करीब सौ साल पहलेकी बात है। सैकड़ों कश्मीरी लोग जबरदस्तीसे मुसलमान बनाये गये थे। उन लोगोंको पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने फिरसे हिन्दू-धर्ममें आना चाहा और काशीके ब्राह्मणोंसे पूछा, तो उन्होंने उन्हें वापस लेनेसे इनकार किया और कहा कि ऐसे भ्रष्ट लोगोंको हमारे धर्ममें स्थान नहीं है, हम उन्हें नही ले सकते। लेकिन नोआखाली इत्यादिमें जो कांड हुआ, उसमें सैकड़ों हिन्दू जबरदस्तीसे मुसलमान हो गये, तो उनको वापस लेनेमें काशीके पंडितोंको शास्त्रमें आधार मिल गया और वे उनको वापस लेनेके लिए उत्सुक हो गये। यह बात सौ साल पहले हमको नहीं सूझी थी, अब सूझ गयी है। जिसको समयपर बुद्धि आती है, उसीको 'ज्ञानी' कहते हैं। उसीसे धर्मकी रक्षा होती है।

मनुका धर्म मानवमात्रके लिए

बड़े आश्चर्यकी बात है कि इन दिनों हिन्दू-धर्मका शायद बहुत ही उत्तम आदर्श जिन्होंने अपने जीवनमें रखा, उन महात्मा गांधीको, सनातनी लोग 'धर्म-विरोधी' कहते हैं। हम समझते हैं कि हिन्दू-धर्मका बचाव और इज्जत जितनी गांधीजीने की, उतनी शायद ही दूसरे किसी व्यक्तिने पिछले एक हजार सालमें की होगी। लेकिन ऐसे शख्सको सनातनी हिन्दू लोग 'धर्मका विरोधी' मानते हैं और अपने-आपको 'धर्मका रक्षक' मानते हैं! यह बड़ी भयानक दशा है। इन सनातनियोंको समझना चाहिए कि जिस धर्मको वे प्यार करते हैं, उस धर्मको उनके ऐसे कृत्यसे बड़ी हानि पहुँचती है। जब कि हिन्दुस्तानको स्वतन्त्रता मिली है और हिन्दुस्तानकी हरएक बातकी तरफ दुनियाकी निगाह लगी हुई है, हिन्दुस्तानसे दुनियाको आशा है, तब ऐसी घटना घटती है, तो दुनियापर

उसका क्या असर होगा, इसे आप जरा सोचिये। मनु महाराजने आशा प्रकट की थी :

> 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥'

पृथ्वीके सव मानव इस देशके लोगोंसे यदि चरित्रकी शिक्षा पायेंगे, तो क्या इसी ढगसे पायेंगे कि वे हमारे नजदीक आना चाहेंगे, तो भी हम उन्हें नजदीक नहीं आने देंगे ? जब मनु महाराजने 'पृथिव्यां सर्वमानवाः' कहा, तो उन्होंने अपने दिलकी उदारता ही प्रकट की। मनुने जो धर्म वतलाया था, वह 'मानव-धर्म' कहा जाता है। वह धर्म सव मानवोंके लिए है। यह ठीक है कि हम अपनी बात दूसरोंपर न लादें; परन्तु दूसरे हमारे नजदीक आना चाहते हों, तो हम उन्हें आने भी न दें, यह कैसी बात है ! मैं चाहता हूँ कि इसपर हमारे यहाँके लोग अच्छी तरहसे गौर करें और भागवत-धर्मकी प्रतिष्ठा किस चीजमें है, इसपर विचार करें।

क्रोध नहीं, दुःख

चंद दिन पहले मैं सालवेगका उड़ियाका एक भजन पढ़ रहा था। उसमें कहा है कि 'मै तो दीन जातिका यवन हूँ और मैं श्रीरंगकी कृपा चाहता हूँ।' ऐसा भजन जिसमें है, उसमें भागवत-धर्मके लिए क्या यह शोभा देता है कि एक स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल हृदयकी बहनको मंदिरमें आनेसे रोक दे ? उस बहनके आनेसे क्या वह मंदिर भ्रष्ट हो जायगा ? जब उसको वहाँ जानेसे मना किया गया, तो मुझे कोई क्रोध नही आया, परंतु मुझे दुःख हुआ, अन्यन्त दुःख हुआ। मैं नहीं समझता कि इस तरहकी संकुचितता हम अपनेमें रखेंगे, तो हिन्दू-धर्म कैसे बढ़ेगा या उसकी उन्नति कैसे होगी !

देशकी भी हानि

सभी जानते हैं कि वैदिक-कालमें पशु-हिंसाके यज्ञ चलते थे, परन्तु भागवत-धर्मने उसका निषेध किया और उसे वन्द किया। जगन्नाथदासके 'भागवत' में भी वह बात है। बुद्ध भगवान्ने तो सीधे यज्ञ-संस्थापर ही प्रहार किया था। तब तो वह बात कुछ कटु लगी थी, परन्तु उसके बाद हिन्दुओंने उनकी बात मान ली थी और विशेषकर भागवत-धर्मने उसको स्वीकार किया। इस तरह पुरानी कल्पनाओंका हम सतत संशोधन करते आये हैं। आजका हिन्दू-धर्म और भागवत-धर्म प्राचीन वैदिक-धर्ममें जो कुछ गलत चीजें थीं, उनको सुधार करके बना है। वेदोंमें तो मुझे ऐसी कल्पनाके लिए कोई आधार नहीं मिलता

है। फिर भी उस जमानेमें पशु-हिंसा चलती थी, यज्ञमें पशु-हिंसा की जाती थी। इस यज्ञ संस्थापर बुद्ध भगवान्‌ने एक तरहसे प्रहार किया। परन्तु गीताने तो उसका स्वरूप ही बदल दिया और उसे आध्यात्मिक स्वरूप दिया और आजकल ये जप-यज्ञ, दान-यज्ञ आदि सब रूढ़ हो गये हैं। तो, पुरानी संकुचित कल्पनाको धर्मके नामसे पकड़ रखना धर्मका लक्षण नहीं है। हिन्दू-धर्मका तो सतत विकास होता आ रहा है। इतना विकाससक्षम धर्म दूसरा कोई नही होगा। जिस धर्ममें छह-छह परस्पर विरोधी दर्शनोंका संग्रह है, जिसने द्वैत-अद्वैतको अपने पेटमें समा लिया है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके देवताओंकी पूजाको स्थान दिया गया है और जिसमें किसी भी प्रकारके आधारका आग्रह नहीं है, उससे उदार धर्म दूसरा कौन-सा हो सकता है? हिन्दू-धर्ममें एक जातिमें एक प्रकारका आचार है, तो दूसरी जातिमें उससे भिन्न आचार है। एक प्रदेशमें एक आचार है, तो दूसरे प्रदेशमें भिन्न आचार है। हमें इतना निराग्रही, सर्वसमावेशक और व्यापक धर्म मिला है और फिर भी हम उसे संकुचित बना लेते हैं, तो इसमें हम देशका ही नुकसान करते हैं।

मैं मानता हूँ कि आज मंदिरमें जानेसे इनकार करके मुझे जो एक बड़ा सौभाग्य, जो एक बड़ा लाभ मिला था, उसका मैंने त्याग किया। एक श्रद्धालु मनुष्यको आज मंदिरमें प्रवेश करनेसे रोका गया है, यह बात मैं भगवान्‌के दरबारमें निवेदन करना चाहता हूँ।

सच्ची धर्म-दृष्टि

हमने मंदिर-प्रवेशका लाभ लेनेसे इनकार किया। मैं चाहता हूँ कि उस घटनाके विषयमें क्षोभयुक्त मनोवृत्तिसे नहीं, बल्कि शान्त वृत्तिसे सोचा जाय, क्योंकि जिन्होंने हमें प्रवेश देनेसे इनकार किया, उनके मनमें भी धर्म-दृष्टि काम कर रही है और हमने प्रवेश करनेसे जो इनकार किया, उसमें भी धर्म-दृष्टि काम कर रही थी। यानी दोनों बाजूसे धर्म-दृष्टिका दावा किया जा सकता है। अब सोचना इतना ही है कि इस कालमें और इस परिस्थितिमें धर्मकी दृष्टि क्या होनी चाहिए।

गूढ़वाद रूढ़वाद बन गया

मैं कबूल करता हूँ कि एक विशेष जमानेमें यह भी हो सकता था कि उपासनाके स्थान अपने-अपने लिए सीमित किये जा सकते थे। कहीं एकान्तमें ध्यान हो सकता था। वेद-रक्षणके लिए एक जमानेमें उसके पठन-पाठनपर मर्यादा लगायी थी, पर आज वैसा करने जाओ, तो वेदके अध्ययनपर ही प्रहार हो जायगा।

यही न्याय सार्वजनिक उपासनाके स्थानोंके लिए भी लागू होता है। जैसे नदीका उद्गम गहन स्थानसे, दुर्गम गुहासे होता है, वैसे ही धर्मका उदय, वेदकी प्रेरणा, कुछ व्यक्तियोंके हृदयके अन्दरसे होती है। अनादिकालसे कुछ विशेष मानवोंको आर्ष-दर्शन था, धर्म-दृष्टि थी। उसके संगोपनके लिए विशेष एकान्त स्थान वे चाहते होंगे। उन्होंने उस जमानेमें यही सोचा होगा कि यह धर्मदृष्टि ऐसे ही लोगोंको समझायी जाय, जो समझ सकते हैं, अन्यथा गलतफहमी होगी, इसलिए अधर्म होगा। परिणामस्वरूप उस अति प्राचीनकालमें, जब वैदिक-धर्मका आरम्भ हुआ था, लोग सोचते होंगे कि कुछ खास मंडलोंके लिए ही यह उपासना हो और वह उपासना इस तरह सीमित हो। पर जैसे नदी उस दुर्गम गुहासे, उस अज्ञात स्थानसे, बाहर निकलती है, आगे बढ़ती है और मैदानमें बहना शुरू करती है, तो वह सब लोगोंके लिए सुगम हो जाती है, वैसे ही हमको भी समझना चाहिए कि वैदिक-धर्मकी नदी उस दुर्गम स्थानसे काफी आगे बढ़ चुकी है और विशेषतः वैष्णवोंके जमानेमें वह सब लोगोंके लिए काफी सुलभ-सुगम हो चुकी है। इसलिए नदीके उद्गम-स्थानमें, उसके अल्प-से पानीकी पावनताके लिए जो चिन्ता करनी पड़ती है, वह चिन्ता, जहाँ नदी उद्गमसे दूर बहती है और समुद्रके पास पहुँचती है, वहाँ नहीं करनी पड़ती। इसलिए बीचके जमाने-में हिन्दुस्तानमें जो वाद था, वह गूढ़वाद था। वह आखिर रूढ़वाद हो गया। फिर गूढ़वाद मिट गया और एकांत ध्यानमें चिन्तन, सामूहिक भजन, कीर्तनको जगह दे दी गयी। प्राचीन ग्रंथोंमें भी लिखा है कि सत्ययुगमें एकान्त ध्यान-चिन्तन करना धर्म है और कलियुगमें सामूहिक भजन, नाम-संकीर्तन करना धर्म है।

भक्ति-मार्गका विकास

परिणाम उसका यह हुआ कि जहाँतक भारतका सवाल है, यहाँका भक्ति-मार्ग इतना व्यापक हो गया है कि उसमें सबका समावेश हो गया। भक्तिके जितने प्रकार हो सकते थे, उन सबके भक्ति-मार्ग प्रकट हो गये। अद्वैत आया, द्वैत आया, विशिष्टाद्वैत आया, शुद्ध अद्वैत आया, केवल अद्वैत आया, द्वैताद्वैत आया, संकेत आया, पूजा आयी, मूर्ति-पूजा आयी, नाम-स्मरण आया और जप-तप भी आया। इस प्रकार भक्ति-मार्गके जितने अंग हो सकते थे, वे सारे-के-सारे हिंदू-धर्ममें विकसित हो गये और मानवतामें बिलकुल फर्क नहीं हो सकता, इस बुनियादपर भक्ति-मार्गका अधिष्ठान दृढ़ हो गया। केवल ध्यानमय जो धर्म था, वह कृष्णार्पणमय होकर फल-त्यागयुक्त सेवामय हो गया। इसलिए भगवान्‌ने कहा है : **'ध्यानात् कर्मफलत्यागः।'** यानी ध्यानसे भी सेवामय फलत्यागकी भक्ति श्रेष्ठ है। लेकिन एक जमाना होता है, जब ध्यान-धारणा करनी होती है। उसके बिना धर्मका आरम्भ ही नहीं होता। उसी ध्यान-चिन्तन-

के परिणामस्वरूप नाम-संकीर्तनमूलक भक्ति-मार्ग और फलत्यागयुक्त सेवाका मार्ग खुल गया था। इसलिए सम्भव है कि जिस जमानेमें ये मंदिर बने होंगे, उस जमानेमें कुछ खास उपासकोंको ही उनमें स्थान मिलता होगा। यही धर्म-दृष्टिसे उचित है, ऐसा वे मानते होंगे।

अपने पाँवोंपर कुल्हाड़ी

हमारे सामने सोचनेकी बात यह है कि आज जब हिन्दुस्तानका भक्ति-मार्ग इतना व्यापक हो चुका है कि उसमें सारे धर्म-सम्प्रदाय आ गये हैं, उस हालतमें हमें अपने-अपने उपासना-स्थान सबके लिए खुले करने चाहिए या नहीं? मेरी राय है कि अगर हिन्दू-धर्म इस वक्त अपनेको सीमित रखनेकी कोशिश करेगा, अपनेको संकुचित करेगा, तो वह खुदपर ही प्रहार करेगा और नष्ट होगा, मिट जायगा। इसलिए वैदिक जमानेमें वैदिक-धर्मका जो रूप था, उसे छन्दोबद्ध याने ढँका हुआ कहते थे, वह अब नहीं होना चाहिए। वह अब खुला होना चाहिए। इसलिए प्राचीनकालमें जो गुप्त मन्त्र होते थे, उनके बदलेमें कलियुगमें राम, कृष्ण, हरि जैसे नाम ही खुले मन्त्रके रूपमें आ गये। उसमें नाम-स्मरण आ गया। यही उत्तम भक्ति-मार्ग है, ऐसा भक्त कहते हैं। अब जिस सगुण मूर्तिके सामने राम, कृष्ण जैसे खुले मन्त्र चले होंगे, उनके उद्देश्यको तो हम समझे नहीं और अपनेको ही काटते हैं। इसलिए जगन्नाथ-मंदिरके जो अधिष्ठाता लोग हैं, वे भी इस बातपर सोचें, ऐसी मेरी नम्र विनती है। अगर वे इस दृष्टिसे सोचेंगे, तो उनके ध्यान-में आयेगा कि हमने उस फ्रेंच बहनको छोड़कर मन्दिरमें जानेसे इनकार क्यों किया। फिर उनके ध्यानमें आयेगा कि उन्होंने हमको जो रोका, वह धर्म-दृष्टिसे ठीक नहीं हुआ। अगर वे विचार करेंगे, तो उनकी समझमें आयेगा कि उन मंदिरों-की पवित्रता इसीमें है कि भक्तिभावसे जो लोग आना चाहते हैं, उनको मन्दिर में प्रवेश दिया जाय, तभी उनका पतित-पावनत्व सार्थक होगा।

समन्वयपर प्रहार मत होने दीजिये

हम 'सर्वोदयके विचारक' कहलाते हैं और भूदानके काममें लगे हुए हैं और उसीके चिंतनमें हमारा प्रतिदिनका समय जाता है। इसलिए पूछा जायगा कि इस प्रश्नको हम क्यों इतना महत्त्व दे रहे हैं, तो इसका उत्तर यह है कि यह विषय सर्वोदयके लिए ही नहीं, बल्कि धर्म-विचारके लिए भी, बहुत महत्त्वका है। इसका ठीक निर्णय हमारे मनमें न हो, तो केवल धर्म ही नहीं, बल्कि सर्वोदय ही टूट जायगा। मान लीजिये कि हम देशाभिमानकी बात करते हैं, तो वह देशप्रेम बहुत व्यापक जरूर है, पर मानवताकी दृष्टिसे वह भी छोटा और संकुचित है। पर धर्म-भावना तो मानवतासे बड़ी चीज है। धर्मके नामपर

जब हम मानवतासे भी छोटे बन जाते हैं, तो हम धर्मको भी संकुचित करते हैं और धर्मकी जो मुख्य चीज है, उसे छोड़ते हैं। धार्मिक पुरुषकी धर्म-भावनामें न सिर्फ मानवके लिए ही प्रेम और असंकोच होता है, बल्कि प्राणिमात्रके लिए प्रेम और असंकोच होता है। अपने-अपने ख्यालसे और मनके सन्तोषके लिए मनुष्य अलग-अलग उपासना करते हैं। उन उपासनाओंके मूलमें जो भक्ति है, वह सबसे बड़ी चीज है। वह मानवतासे भी व्यापक है। लोग हमसे पूछते हैं कि क्या सर्वोदय-समाजमें कोई मुसलमान नही रहेंगे, हिन्दू नहीं रहेंगे, खिस्ती नहीं रहेंगे, तो हम जवाब देते हैं कि ये सारे-के-सारे रहेंगे और ये सब सर्वोदयके अंग हैं। इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दू, मुस्लिम या खिस्ती-धर्मके नामपर जो गलत धारणाएँ चल पड़ीं, वे भी इसमें होंगी। वे तो इसमें नहीं रहेंगी, बल्कि उपासनाकी जो भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं और जो व्यापक भावना है, वह सर्वोदयमें अमान्य नहीं है। लेकिन सर्वोदयमें यह नही हो सकेगा कि एक तरहकी उपासना करनेवाला दूसरे किसी उपासनाके स्थानमें, मंदिरमें, उपासना करनेके लिए जाना चाहे, तो उसे रोका जाय। फिर चाहे वह भिन्न उपासना क्यों न करता हो, फिर चाहे ख्रिस्तियोंका मंदिर हो, चाहे दूसरे किसीका मंदिर हो। उपासनाके लिए एक मंदिरमें जानेवाला दूसरे किसी मंदिरमें न जाय, ऐसा नहीं कह सकते। इस तरहसे उपासनाके भिन्न-भिन्न मंदिरोंमें लोग जायेंगे। सर्वोदय-समाजमें यह किसीके लिए लाजिमी नहीं होगा कि वह किसी खास मंदिरमें ही जाय। एक मंदिरमें जाकर प्रेमसे उपासना करनेवाला दूसरे मंदिरमें भी अगर जाना चाहता है, प्रेमसे उस उपासनामें योग देना और उसे जानना चाहता है, तो उसे रोकना सर्वथा गलत है।

उपासनाके बन्धन नहीं

पिछले सौ सालमें जो महान् पुरुष हिन्दू-धर्ममें पैदा हुए, उनमें अग्रगण्य पुरुषोंमें रामकृष्ण परमहंसकी गिनती होती है। उन्होंने विभिन्न धर्मोंकी उपासनाओंका अध्ययन किया था और उन उपासनाओंमें जो अनुभूतियाँ आयीं, उनका चिन्तन-मनन वे करते थे। मैं अपने लिए भी यह बात कहता हूँ, यद्यपि अधिक-से-अधिक अध्ययन मैंने हिन्दू-धर्मका किया है, तो भी दूसरे सब धर्मोंका भी प्रेमसे, गहराईसे मैंने अध्ययन किया है। उनकी विशेषताओंको देखनेकी कोशिश मैंने की है और उनमें जो सार है, उसको ग्रहण किया है। यह जो रामकृष्ण परमहंसने किया था और मेरे जीवनमें भी जो बात है, वह अगर हम लोगोंकी गलती नहीं है, तो फिर समझनेकी जरूरत है कि किसी मनुष्यको उपासनाका अध्ययन, उसका अनुभव और लाभ लेनेसे रोकना गलत है। हम यह नहीं कह सकेंगे कि तुम एक दफा तय कर लो कि तुम्हें रामकी उपासना करनी है या कृष्णका नाम लेना है,

इसलामका नाम लेना है या क्राइस्टके पीछे जाना है और यह तय कर लेनेके वाद फिर दूसरे मंदिरमें मत जाओ। ऐसा कहना उपासनाको मानवताकी अपेक्षा संकुचित करना है। उपासना मानवतासे वहुत वड़ी चीज है। इस दृष्टिसे इस सवालपर लोग वहुत गहराईसे सोचें।

अभी उड़ीसामें प्रवेश करते ही एक ख्रिस्ती भाईने हमें प्रेमसे 'न्यू टेस्टामेंट' भेंट की। 'न्यू टेस्टामेंट' मैं कई दफा पढ़ चुका हूँ, परन्तु उन्होंने प्रेमसे दी, इसलिए उसको फिरसे पढ़ गया। पढ़नेका मतलव यह तो नहीं होता कि उसमें जो अच्छी चीज है, उसको ग्रहण नहीं करना है या उस उपासना-पद्धतिमें जो सार है, उससे लाभ नहीं उठाना है। यह ठीक है कि जिस उपासनामें हम पले, उसका परिणाम हमारे ऊपर रहता है, उसको मिटाना नहीं चाहिए। पर दूसरी उपासनासे लाभ नहीं उठाना चाहिए, यह वात गलत है। उपासनाको संकुचित नहीं वनाना चाहिए। उससे उसमें न्यूनता आ जाती है। कुछ लोग यह कहते हुए सुनाई देते हैं कि हरिजनोंको तो हम मंदिरमें प्रवेश देनेको राजी हो गये, अव ख्रिस्तियों, मुसलमानोंको क्यों आने देंगे ? तो हमें समझना चाहिए कि उपासनामें इस तरहकी मर्यादा नहीं होनी चाहिए। उपासनाएँ एक-दूसरीके लिए परिपोषक होती हैं। जीवनमें एक ही मनुष्य वापके नाते काम करता है, भाईके नाते काम करता है, वेटेके नाते भी काम करता है। इसी तरह जिनको विविध अनुभव हैं, वे परमेश्वरको भी वाप समझकर वापके नाते, भाईके नाते, या वेटेके नाते उपासना कर सकते हैं। वे परमेश्वरकी उपासना पिताके रूपमें कर सकते हैं, माताके रूपमें भी कर सकते हैं—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव वन्धुश्च सखा त्वमेव।'

उपासकसे यह नहीं कहा जा सकता कि या तो तुम परमेश्वरको पिता ही कहो या माता ही कहो या फिर वेटा ही कहो। 'परमेश्वर तीनों एक साथ कैसे हो सकता है ?'—यदि हम ऐसा कहें, तो हमें सोचना चाहिए कि जव एक सामान्य मनुष्य भी वाप, वेटा और भाई हो सकता है, तो परमेश्वर वैसा क्यों नहीं हो सकता ? इस तरहसे परमेश्वरकी अनेक तरहसे उपासना हो सकती है। समन्वयकी कल्पनाको सर्वोत्तम कल्पनाके तौरपर सव धर्म मान्य करते हैं। इस दृष्टिसे हम जव इस घटनाके विषयमें सोचेंगे, तो हम समझ सकेंगे कि इससे समन्वयपर ही प्रहार होता है, और जहाँ समन्वयपर प्रहार होता है, वहाँ सव तरहकी उपासनाओंपर भी प्रहार होता है।*

---

*जगन्नाथपुरीमें २१, २२ और २३ मार्च १९५५ के प्रवचनोंसे।

२

पंढरपुरमें विठोबाके अद्भुत दर्शन

इस वर्ष अखिल भारत सर्वोदय-सम्मेलन महाराष्ट्रमें करनेका जब निश्चय हुआ, तो यह चर्चा चली कि वह कहाँ हो ? उस वक्त पंढरपुरके लिए आग्रह मैंने ही किया। दूसरे कई स्थानोंके नाम आये थे, परन्तु यदि पंढरपुरमें सम्मेलन हो सके, तो दूसरी जगह जानेके लिए मेरा चित्त तैयार नही था । परमेश्वरकी कृपा इस समूचे देशपर और समस्त मानव-जातिपर है । इसलिए इस देशमें और अन्यत्र भी उसने समय-समयपर असंख्य सत्पुरुष भेजे और उनके उपदेशोंसे तथा सिखावनसे हमारा यह मानव-समूह मानवताके रास्तेपर जैसे-तैसे चलता रह सका । अब इस विज्ञान-युगमें मनुष्यके हाथमें कुछ ऐसे भयानक शस्त्रास्त्र आ गये हैं कि उन शस्त्रास्त्रोंके कारण यह भय पैदा हो गया है कि क्या सारी मानव-जातिका संहार हो जायगा ? इस समय आध्यात्मिकताकी आवश्यकता इहलोकके जीवनके लिए भी पैदा हो गयी है ।

आध्यात्मिक आदि-पीठ

पारलौकिक दृष्टिसे आध्यात्मिकताकी आवश्यकता होती है । आत्माकी व्यक्तिगत उन्नतिकी दृष्टिसे आध्यात्मिकताकी आवश्यकता होती है । मुक्तिके लिए प्रयत्न करनेवाले साधकोंको आध्यात्मिकताकी आवश्यकता होती है । जो सारी बातें पुराने युगमें थीं, वे आज भी शेष हैं । परन्तु उनके अलावा, अब ऐसी स्थिति आयी है कि इहलोकका जीवन बितानेके लिए ही आध्यात्मिकताकी आवश्यकता है । अर्थात् यह आजकी भौतिक आवश्यकता है । इस युगमें आध्यात्मिक ज्ञानको एक विलक्षण समर्थन मिलनेवाला है । ऐसी स्थितिमें यदि पंढरपुर हमें शक्ति नहीं देगा, तो कौन देगा ? यह विचार मेरे मनमें आता है । इसलिए मैंने यह जगह पसन्द की है । मैं नहीं मानता कि पंढरपुर हिन्दुओंका एक तीर्थ-स्थान है, बल्कि मैं इसे एक आध्यात्मिक तीर्थ-क्षेत्र मानता हूँ । अध्यात्म-विद्याका अधिकार हिन्दुओंको है, मुसलमानोंको है, ईसाइयोंको है—मानवमात्रको है । वह सबकी आवश्यकता है, इसलिए मैंने हिन्दुओंके तीर्थ-क्षेत्रके नाते इस स्थानको पसंद नहीं किया है, बल्कि इस दृष्टिसे पसंद किया है कि जिस आध्यात्मिकताकी आवश्यकता मानव-जातिको है, उस आध्यात्मिकताका महाराष्ट्रके अन्तर्गत यह आदि-पीठ है ।

सर्वत्र विठोबाके दर्शन

मेरे सामने ही पांडुरंगके देवालयका यह शिखर खड़ा है। यह मुझे दिखाई दे रहा है। इस पंढरपुरमें मैं आज ६३ वर्षकी आयुमें आया हूँ। परन्तु जो कोई यह समझता होगा कि इतने दिनतक मैं यहाँसे गैरहाजिर था, उसे मेरे जीवनका कोई पता ही नहीं लगेगा। जबसे मैंने होश सँभाला है, तबसे, उस समयसे आज-तक मैं पंढरपुरमें था, ऐसा मेरा दावा है। इसलिए इस स्थानको छोड़कर दूसरा कोई स्थान मेरे चित्तमें समा नहीं सकता था। सभी जगह परमेश्वरका निवास है, इस दृष्टिसे सभी स्थान मेरे लिए तीर्थस्थान हैं और इसीलिए मैं गाँव-गाँवमें घूम रहा हूँ। यह समझकर चलनेका प्रयत्न कर रहा हूँ कि उन छोटे-छोटे गाँवों-के लोगोंके दर्शन विठोबाके ही दर्शन हैं। इसलिए जब हमारी भूदान-यात्रामें हमसे प्रश्न पूछे जाते हैं कि आपकी यात्रा कहाँ जा रही है, तो हम कहते हैं कि हमारी यात्रा जनतारूपी विठोबाके दर्शनोंको जा रही है। जो जनता गाँव-गाँवमें बसी है, उसकी सेवाके लिए और उसके दर्शनोंके लिए। हमारा तीर्थक्षेत्र पंढरपुर ही नहीं है, रामेश्वर ही नहीं है, मक्का और यरूशलम ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक गाँव और प्रत्येक घर हमारा तीर्थस्थान है। वहाँ जो नर-नारी-बालक रहते हैं, वे सब हमारे देवता हैं। यह हमें तुकाराम महाराजने सिखाया है। उनका उपदेश हम छुटपनसे ही रटते आये हैं—

'नर-नारी-बाळें अवघा नारायण, ऐसें माझें मन करि देवा।'

(हे देव, मेरा मन ऐसा बना दे कि मेरे लिए नर-नारी-बालक सब नारायण बन जायँ।)

तो, इस प्रकारकी उत्कंठासे हम पंढरपुर आये। हमें इस बातका बड़ा आनंद हुआ कि जिस स्थानमें हमारा निवास रखा गया है, उसी स्थानमें हमारे परम-प्रिय मित्र, जो अब कैलासवासी हो गये, साने गुरुजीने मन्दिर-प्रवेशके लिए उपवास किये।

साने गुरुजीका उपवास

सन् १९४२ के आंदोलनके सिलसिलेमें ३५ महीने मैं जेलमें था। उसके बाद बाहर आनेपर मेरे जो व्याख्यान हुए, उनमेंसे एक व्याख्यानमें यह समझाते हुए कि 'यदि हम स्वराज्य चाहते हैं, तो उसके लिए जो कुछ करना पड़ेगा, वह सब हमें करना चाहिए', मैंने कहा : "पंढरपुर मंदिर जैसा मंदिर भी यदि हम अस्पृश्योंके लिए नहीं खोल सकते, तो स्वराज्य-प्राप्तिका हमें क्या अधिकार है ? यह देवता यात्राके समय भोजन करना भी भूल जाता है। मुझे यहाँके पुजारियोंने बताया

कि यात्राके वक्त लोगोंके दर्शनोंके लिए विठोबाका नित्य कार्यक्रम भी बंद हो जाता है, अर्थात् दर्शनार्थी लोग तो कितनी संख्यामें उपवास करके यहाँ आते ही हैं. परन्तु यहाँ तो भगवान् भी भक्तोंके दर्शनके लिए भोजन नहीं करते।

एक वार भगवान्‌से भेंट करने उद्धव आये। कहने लगे: 'हम मिलना चाहते हैं, भगवान्‌से। कृष्णसे हम भेंट करना चाहते हैं।' उद्धव और माधव दोनों छुटपनके दोस्त थे। द्वारपालोंने कहा कि 'इस समय भगवान् पूजामें बैठे हैं, इसलिए अभी थोड़ी देर आपको ठहरना होगा।' समाचार पाते ही भगवान् त्वरित पूजा-कार्यसे निवृत्त होकर जल्दीसे उद्धवसे मिलने आये। उद्धव भगवान्‌के सामने बैठे। कुशल-प्रश्न शुरू हुए। भगवान्‌ने पूछा: 'उद्धव, तुम किसलिए मुझसे मिलने आये हो?' उद्धवने कहा: 'वह तो बादमें बताऊँगा। परन्तु मुझे यह बताइये कि आप किसकी पूजा कर रहे थे? हम तो भगवान्‌की पूजा करते हैं। आप किसकी पूजा करते हैं? इन लोगोंने मुझसे कहा कि आप पूजामें बैठे हैं।' भगवान् बोले: 'उद्धव, तुझे क्या बतलाऊँ? मैं तेरी पूजा कर रहा था।' उद्धव माधवकी पूजा करता है और माधव उद्धवकी पूजा करता है। इस प्रकार जो देवता दासानु-दास बन गया, उसके दर्शन भी हम करने नहीं देते? तो फिर हमें स्वराज्यका क्या अधिकार है? लोकमान्यने कहा कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। परन्तु हमारे ऐसे आचरणसे उनकी बात ठहरेगी क्या?"

यह बात उस एक व्याख्यानमें मैं कह गया। साने गुरुजीने वह बात उठा ली और उन्होंने घोषित किया: "जबतक यह मंदिर हरिजनोंके लिए खुल न जायगा, तबतक मैं उपवास करूँगा।"

भगवान्‌के द्वारपर धरना

एक बार नामदेवने भी ऐसा ही धरना दिया था। ऐसी किंवदंती है कि एक बार नामदेवको भी मंदिरमें जानेसे रोका गया था। मुझे मालूम नहीं कि किस कारणसे उसे रोका था, परन्तु उस बेचारेको दरवाजेसे लौटा दिया गया था। तब उसने कहा:

पतित-पावन नाम ऐकोनि आलो मी दारा।
पतित-पावन न होसि म्हणोनि जातो माघारा॥

(तेरा पतित-पावन नाम सुनकर मैं द्वारपर आया। तू पतित-पावन नहीं है, इसलिए लौट रहा हूँ।)

उस वक्त नामदेव लौटकर चला गया। बादमें उसकी भक्तिके कारण उसे भगवान्‌के द्वारपर जगह मिली।

साने गुरुजी इस जगह धरना देकर बैठ गये और अन्तमें हरिजनोंके लिए मंदिर खुल गया। यह बात सब लोग जानते ही हैं।

'गीता-प्रवचन' का प्रसाद

साने गुरुजीका और हमारा ऐसा प्रेमका नाता था कि उससे अधिक प्रेमका नाता कैसा होता है, मैं नहीं जानता। हम दोनोंमें इतनी हार्दिकता थी कि उनके स्मरणसे ही मेरी आँखोंमें आँसू आते हैं। हम दोनों छह महीने तक धूलिया जेलमें एकत्र थे। उस वक्त गीतापर मेरे व्याख्यान होते थे। उन व्याख्यानोंको साने गुरुजीने लिख लिया। सारे भाषण ज्यों-के-त्यों ठीक-ठीक लिख लिये। वे बड़ी फुर्तीसे लिखते थे। वे ही भाषण अब भारतकी सारी भाषाओंमें 'गीता-प्रवचन'के नामसे छप गये हैं। आज लाखों लोग उनका पठन करते हैं, भक्ति-मार्ग सीखते हैं और हृदय-शुद्धिकी दीक्षा लेते हैं। इसका श्रेय मेरा नहीं है, साने गुरुजीका है। मैंने समूची गीतापर दो-चार बार व्याख्यान दिये, लेकिन उस समय कोई लिख लेनेवाला व्यक्ति नहीं था। परन्तु धूलियाकी जेलमें मैंने गीतापर जो व्याख्यान दिये, उन्हें लिखनेके लिए साने गुरुजी थे, इसलिए सारे भारतवर्ष को उनका वह प्रसाद मिला।

मेरा और उनका संबंध इतनी आत्मीयताका था। आज भी जब मैं महाराष्ट्रमें घूम रहा हूँ, तब जिनके समर्थनका बल मुझे प्राप्त है और मैं नहीं समझता कि मुझसे अधिक समर्थनका बल लेकर भारतवर्षमें कोई घूमता होगा, उस समर्थनके बलमें एक बल साने गुरुजीके समर्थनका है।

वैद्यनाथधाममें

इस बीच बिहारमें हम लोग वैद्यनाथधाम गये थे। वहाँ कुछ मित्रोंने हमसे कहा: 'आप हरिजनोंको साथ लेकर मंदिरमें जाइये।' हमने कहा: 'मंदिरके मालिकोंकी इजाजत होगी, तो ले जायेंगे।' सरकारने तो घोषित कर ही दिया था कि कानूनके मुताबिक अस्पृश्योंका मंदिर-प्रवेश होना ही चाहिए। तो भी मैंने कहा: 'मंदिरके मालिक कहेंगे तभी जाऊँगा, अन्यथा नहीं जाऊँगा।' मैं मंदिरके देवताका भक्त हूँ। देव-पूजामें मेरी श्रद्धा है। फिर भी सर्वत्र परमेश्वरके दर्शन करनेका अभ्यास मुझे है। इसलिए यह संभव नहीं था कि वहाँ-के लोगोंकी रजामंदीके बिना मैं मंदिरमें जाता। शायद मुझे इजाजत देनेसे इनकार करनेमें उन्हें कुछ संकोच हुआ। मनसे तो वे इनकार करना चाहते थे, लेकिन शायद सरकारी कानूनका डर उन्हें लगा। परन्तु यह बात मेरे ध्यानमें नहीं आयी। उन्होंने मुझसे कहा: 'हाँ, आप आ सकते हैं।' तदनुसार मेरे साथ जो लोग थे, उन्हें लेकर मैं दर्शनोंके लिए गया।

मन्दिरवालोंद्वारा प्रहार

मेरे साथियोंमें कुछ हरिजन भी थे और दूसरे भी कुछ लोग थे। मन्दिरपर पहुँचते ही वहाँके लोगोंने हमको तड़ातड़ मारना शुरू कर दिया। पाँच-छह मिनट तक वे हमपर प्रहार ही करते रहे। वे सारे प्रहार मुझ अकेलेपर थे, परन्तु हमारे सारे साथियोंने हाथ ऊपर उठा-उठाकर मेरे बदले मार खायी। किसीने कोई जवाब नहीं दिया। यों मेरे साथ ऐसे तगड़े आदमी थे कि अगर वे जवाब देना चाहते, तो दे सकते थे। मेरे साथी शक्ति और संख्यामें कम नहीं थे, परन्तु उन्होंने बिलकुल शांतिपूर्वक मार खायी। उन्होंने मेरे ऊपर अपने हाथ रखकर मुझे बचाया। मुझपर होनेवाले प्रहार उन्होंने झेल लिये। परन्तु आखिर परमेश्वर किसीको थोड़ा-सा प्रसाद दिये बिना कैसे छोड़ेगा? एक व्यक्तिका प्रहार मेरे बायें कान में लगा। उसे बचानेके लिए भी एक व्यक्तिने बीचमें अपना हाथ डाला, इसलिए जोरकी चोट नहीं लगी। अगर जोरकी चोट लगती, तो कह नहीं सकता क्या हुआ होता। परन्तु जितनी चोट लगी, उससे मेरा यह कान बहरा हो गया।

देवताका कृपाप्रसाद

वैद्यनाथधामके देवताका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हुआ। उसके पूर्व भी यह कान कम सुनता था। ऐसी बात नहीं है कि पहले अच्छा सुनता रहा हो और उस दिनसे बहरा हो गया। कान कमजोर तो हो ही गया था, परन्तु थोड़ा-बहुत सुनता था। उस चोटके बाद कानमें जो आवाज शुरू हुई, वह नाक और कानमें चार-पाँच दिनतक चलती रही। मैंने कोई दवा-दारू नहीं की। सोचा, यह परमेश्वरका प्रहार है, इसपर औषधि नहीं लेनी। मैं जब अपने पड़ावपर लौटा, तो अकथनीय आनंदमें था। मैंने कहा कि मैं तो ईश्वरके दर्शनोंके लिए गया था, लेकिन मुझे ईश्वरका स्पर्श भी मिला। इस प्रकार भक्ति और प्रेमके कारण मुझे वह मार रुचिकर मालूम हुई। रामदेवबाबू जैसे मेरे साथियोंने मुझसे कहा : 'गांधीजी जब कहते थे कि मार सहनी चाहिए, तो भी मनमें हमें गुस्सा आता था, लेकिन अबकी बार हमें मनमें भी क्रोध नहीं आया।' मार खानेवालोंमें रामदेवबाबू ही मुख्य थे। अधिक-से-अधिक मार उन्हें पड़ी। अपनी कुसुम (देशपाण्डे) की छातीपर जबरदस्त मार मारी गयी। उसके अनन्तर वह दस-पन्द्रह दिन अस्पतालमें थी। मारनेवालोंने यह भी खयाल नहीं किया कि धर्मरक्षणके नामपर एक महिलापर इस तरह हाथ नहीं उठाना चाहिए। उसके बाद मैंने एक वक्तव्यमें कहा कि 'मेरी यह इच्छा बिलकुल नहीं है कि इन लोगोंको कोई सजा हो। मेरी तरफसे सब तरहसे उन्हें क्षमा है।' यह वक्तव्य देकर मैं

वहाँसे चला गया। मेरी तो भूदान-यात्रा चल रही थी। आगे चलकर बिहारके मुख्यमंत्री श्री बाबू वहाँ गये और हरिजनोंके लिए वह मंदिर खुल गया।

गांधी और दयानन्दपर भी मार

जब मैं अपने पड़ावपर लौटा, तो लोगोंने मुझे बतलाया था कि यहाँ महात्मा गांधीपर भी इसी तरहका प्रहार हुआ था। महात्मा गांधी जब वहाँ गये थे, तब उनके यात्री-पथकपर भी ऐसा ही प्रहार हुआ था और वे मंदिर-प्रवेश नहीं कर सके थे। मैंने सोचा, मैं बहुत श्रेष्ठ-संगतिमें हूँ। इतनेसे ही मुझे संतोष हो रहा था। इतनेमें मेरा संतोष बढ़ानेके लिए और एक व्यक्तिने मुझे यह बात सुनायी कि गांधीजीके ३० वर्ष पूर्व स्वामी दयानन्दको भी वहाँ ऐसी ही मार पड़ी थी। तब मैंने कहा कि यदि भगवान् मेरी गणना गांधी और दयानन्दकी तालिकामें कर रहे हैं, तो उनका बहुत बड़ा वर-प्रसाद मुझे मिला है। यह सोचकर मैं बिलकुल प्रसन्नचित्तसे वहाँसे रवाना हुआ।

मूर्तिमें श्रद्धा

बिहारके बाद हमारी भूदान-यात्रा उड़ीसामें चली। उड़ीसामें जब यात्रा हुई, तो हम जगन्नाथपुरी गये। जगन्नाथपुरीमें मंदिरमें जानेकी हमारी इच्छा थी। मंदिरमें देव-दर्शन करनेकी इच्छा हमारी रहती ही है, क्योंकि मूर्तिमें मेरी श्रद्धा है। मेरे कुछ मित्र हैं जो कहते हैं : 'यह क्या तुम मूर्तिमें श्रद्धा रखते हो! यह कैसा निपट भोलापन है!' मैं कहता हूँ : 'मेरा वह भोलापन जाता नहीं है। मेरे लिए वह भोलापन भलप्पन ही है। मूर्तिके दर्शनोंसे मेरी आँखें छलकने लगती हैं और नामदेवसे जिस तरह मूर्ति बोलती थी, उसी तरह मुझसे भी बोलती है। मुझे यह अनुभव होता है।'

राम-भरतकी मूर्ति

धूलियामें मेरे जो गीता-प्रवचन हुए, उनमें बारहवें अध्यायपर एक व्याख्यान है। उसमें कहा गया है कि कोई सगुण भक्त होते हैं, कोई निर्गुण भक्त होते हैं। भरत भगवान्‌का निर्गुण भक्त था। वह भगवान्‌की सेवा करता था। वनवासमें उनके साथ नहीं गया। परन्तु अयोध्यामें रहकर ही उसने भगवान्‌की भक्ति की। दूर रहकर भक्ति की। उसके बाद उस प्रवचनमें मैंने कहा है कि क्या कोई कुशल चित्रकार ऐसा सुन्दर चित्र खींचेगा, जिसमें दो भाई एक-दूसरेसे मिल रहे हैं। दोनोंके केश बढ़े हुए हैं। दोनों तपस्यासे कृश हो गये हैं और दोनों एक-दूसरेका आलिंगन कर रहे हैं। देखकर लोगोंको शंका होती है कि इनमेंसे अरण्यसे लौटा हुआ कौन है और अयोध्यामें रहनेवाला कौन है! समझमें नहीं आता।

उसके वाद मैं पवनारमें रहनेके लिए गया। उससे पहले हम लोग नालवाड़ीमें रहते थे। पवनारमें आश्रमके लिए जगह बनायी। वहाँ पहले खेत थे। हम सब लोग जब खेतमें खोद रहे थे, तो खोदते-खोदते मेरा हाथ एक वड़े पत्थरमें लगा। चारों तरफसे मैं खोदने लगा, तो मालूम हुआ कि वड़ा पत्थर है। उस पत्थरको निकाला, तो क्या देखते हैं कि उसपर भरत और रामके मिलापका चित्र खुदा हुआ है। मेरे मनकी यह वासना धूलिया-जेलमें सन् १९३२ में बारहवें अध्यायके प्रवचनमें व्यक्त हुई थी। तदनुसार सन् १९४६ में पवनारमें जमीन खोदनेके समय मूर्ति निकली। मैं जैसी मूर्ति चाहता था, जैसे चित्रकी आकांक्षा मैंने की थी, वैसी ही वह मूर्ति है। वाकाटक वंशके जमानेकी बहुत सुन्दर मूर्ति है। इतिहासवेत्ताओंने उसे देखकर यह निर्णय किया है कि मूर्ति १४ सौ वर्ष पूर्वकी होगी। ऐसी मूर्ति जब मेरे पास आयी, तो उसे पत्थर समझकर एक तरफ रख दूँ, ऐसा पत्थर मैं स्वयं नहीं था। उसमें रामचन्द्रजी भरतसे गले मिल रहे हैं। लक्ष्मण एक तरफ खड़े हैं। सीतामाई हैं। कुछ लोग मंगल-गीत गा रहे हैं। हनुमानजी एक कोनेमें सिमटकर खड़े हैं। उस मूर्तिकी प्रतिष्ठा मैंने की और जब तक मैं पवनारमें रहा, तबतक उस मूर्तिके सामने बैठकर एकनाथ, तुकाराम प्रभृतिके भजन मैंने वहाँ प्रेमसे गाये हैं।

मेरे मित्र मुझसे कहने लगे, 'मूर्ति-पूजाका यह खब्त तुमने क्यों शुरू किया?' उन्हें आश्चर्य हुआ कि इस विज्ञान-युगमें मैं मूर्ति-पूजा चला रहा हूँ। एकने मुझसे पूछ ही लिया। मैंने कहा कि 'मूर्ति खोजनेके लिए मैं कहीं गया नहीं था। मैंने उसे किसी शिल्पकारसे बनवाया भी नहीं है। उसके लिए कुछ खर्च नहीं किया। परन्तु खेत खोदते हुए यदृच्छासे मुझे जो मूर्ति मिली, उसे पत्थर समझकर मैं दूर रखूँ, इतनी सद्बुद्धि या दुर्बुद्धि मुझमें नहीं है।'

पुरीमें प्रवेश-निषेध

मेरे साथ जगन्नाथपुरीमें जो लोग थे, उनमें एक फ्रांसीसी महिला भी थी। उसको साथ लेकर जब मैं जगन्नाथजीके दर्शनोंको चला और मंदिरमें पहुँचा, तो उन्होंने कहा कि फ्रांसीसी महिला मंदिरमें नहीं जा सकेगी। तब मैं वहाँसे वापस हुआ। तत्पश्चात् वहाँ तीन दिन तक मेरे व्याख्यान इसी विषयपर हुए। हरिजनोंको हमने प्रवेश दिया, इतना पर्याप्त नहीं है। जिसकी भी श्रद्धायुक्त इच्छा हो उस व्यक्तिमात्रका, प्राणिमात्रका प्रवेश मन्दिरमें होना चाहिए। तभी हिन्दू-धर्मका जो व्यापक विचार है, उसे हम समझ सकेंगे।

गुरु नानकके चरण-चिह्नोंपर

पुरीमें भी मुझे एक किस्सा सुननेको मिला। गुरु नानक साहब पंजाबसे कन्या-

कुमारीकी यात्रा करते-करते जगन्नाथजी गये थे। उन्हें भी उस मंदिरमें प्रवेश नहीं मिला था। उनके पाँच सौ वर्ष पश्चात् मैं गया। मुझे भी प्रवेश नहीं मिला। मैंने सोचा, ठीक ही है। महापुरुषोंकी गैल जा रहा हूँ। ऐसे महापुरुषोंका मार्ग खोजते हुए भगवन्नाम-संकीर्तन करते चलना है। सोचा, चलो गुरु नानकके पीछे चलकर इस वृत्तिकी साधना करें। नानक साहबको जब मंदिरमें जाने नहीं दिया, तो मंदिरके बाहर खड़े होकर उन्होंने एक आरती बनायी। वह आरती सिखोंके नित्य पाठमें है। रातको सोनेसे पहले वे उस आरतीका पाठ करते हैं।

गगन दे थार रविचन्द दीपक बने !

(आकाशकी थालीमें सूरज और चाँदके दीपक जल रहे हैं।)

इस तरह बहुत भव्य आरती हो रही है, भगवान् जगन्नाथजीकी। वह जगन्नाथ मंदिरमें छिपा हुआ जगन्नाथ नहीं है। इस विशाल विश्व-मंदिरमें वह सब जगह छा रहा है। उसकी यह भव्य आरती हो रही है। इस प्रकारकी अत्यंत रमणीय 'आरती' नानकने जगन्नाथपुरीमें मंदिरके सामने खड़े होकर गायी है, ऐसी गाथा है।

तमिलनाडमें प्रवेश

इसके बाद मैं तमिलनाड़में गया। वहाँ अनेक मंदिरोंमें मेरा प्रवेश हुआ था, क्योंकि मेरे साथ अन्यधर्मी लोग नहीं थे। मैं ऐसा आग्रह नहीं रखता कि जब कोई साथ न हो, तब भी पूछूँ कि 'क्या आप अन्यधर्मियोंको भीतर जाने देंगे? उनको अगर आप न जाने देते हों, तो मैं भी नहीं जाऊँगा।' ऐसा मैं नहीं करता। जब मेरे साथ कोई अन्यधर्मीय लोग नहीं होते, तो मैं इतना ही पूछता हूँ कि 'आप हरिजनोंको तो जाने देते हैं न? बस, उतना काफी है।' यह कहकर मैं भीतर जाता हूँ। तमिलनाडमें यही हुआ।

गुरुवायूरकी घटना

फिर मैं केरलमें गया। वहाँ गुरुवायूर नामका प्रसिद्ध मंदिर है। इतना प्रसिद्ध मानो वह केरलका पंढरपुर ही है। कई वर्ष पूर्व वहाँ केळप्पनने उपवास किया था। केळप्पनके उपवासमें गांधीजीने भाग लिया था। गांधीजीने केळप्पन-से कहा—'तुम उपवास मत करो। तुम्हारे बदले मैं करूँगा।' यह कहकर गांधीजीने उस उपवासको अपने ऊपर ओढ़ लिया। उसके बाद वह मंदिर हरि-जनोंके लिए खोल दिया गया। मैं जब वहाँ गया, तो मेरे साथ कुछ ईसाई साथी थे। मैंने पूछा—'इनके सहित मुझे जाने दोगे?' उन्होंने कहा—'इनको लेकर नहीं आने देंगे। लेकिन अगर आप भीतर आयेंगे, तो हमें अत्यंत आनन्द

होगा और न आयेंगे, तो हमें बहुत दुःख होगा।' तब मैंने कहा—'मैं विवश हूँ। मैं नहीं समझता कि अपने साथ आये हुए ईसाई मित्रोंको छोड़कर, मंदिरमें जाकर मैं देव-दर्शन कर सकूँगा। वहाँ मुझे देवताके दर्शन नहीं होंगे। इसलिए मैं नहीं आता।' यह हुआ गुरुवायूरका किस्सा।

लोकमतकी प्रगति

ये दो घटनाएँ दो वर्षके भीतर घटीं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि दो वर्षमें कुछ हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु गुरुवायूरमें मुझे नहीं जाने दिया गया, इसके लिए मलयालम समाचार-पत्रोंमें लगातार प्रखर आलोचना हुई। प्रचण्ड लोकमत इस घटनाके खिलाफ था। केवल एक-दो समाचार-पत्रोंने मेरी टीका की और कहा कि अन्यधर्मियोंको ले जानेका आग्रह रखना गलत है। बाकीके बीस-पच्चीस समाचार-पत्रोंने यह कहा कि मेरा विचार उचित था और मुझे मंदिरमें न जाने देनेमें बड़ी भूल हुई और हिन्दू धर्मपर बड़ा आघात हुआ। मैंने सोचा कि लोकमत तो इतनी प्रगति कर चुका है।

मेलकोटेमें प्रवेश

मेलकोटेमें रामानुजाचार्यका एक मंदिर है, जिसमें रामानुजाचार्य १५ साल तक रहे थे। उस मंदिरमें भी हमें अपने सारे साथियोंसहित प्रवेश करने दिया गया था। हमारे साथियोंमें कुछ ईसाई थे। रामानुज एक अत्यंत उदार आचार्य हैं। उन्होंने जगदुद्धारका प्रचण्ड कार्य किया है। कबीर, रामानन्द और तुलसीदास—ये सब रामानुजकी शिष्य-परंपराके हैं। यह आनन्दका विषय है कि मेलकोटेमें उन्होंने हमें प्रवेश दिया। मेलकोटे सारे दक्षिण भारतका प्रसिद्ध स्थान है।

गोकर्ण-महाबलेश्वरमें प्रवेश

अब इसके बाद हमारी भूदान-यात्रा कर्नाटक पहुँची। वहाँके प्रसिद्ध गोकर्ण-महाबलेश्वरमें फिर वही प्रसंग आया। वहाँ हमारे साथ सलीम नामका एक मुसलमान था। बड़ा प्रेमालु, बड़ा भावुक। हमने मंदिरके मालिकोंसे और पुजारियोंसे पूछा—'क्या आप हमें आने देंगे? हमारे साथ इस प्रकारका एक व्यक्ति है।' उन्होंने कहा—'आपके यहाँ आनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं है। आप उस व्यक्तिको लेकर आ सकते हैं।' इससे हमें आनन्द हुआ। गोकर्ण-महाबलेश्वर मंदिरमें हम गये और उन लोगोंने हमें प्रवेश करने दिया, तो भी वह देवता भ्रष्ट नहीं हुआ। गोकर्ण-महाबलेश्वर कोई छोटा तीर्थक्षेत्र नहीं है। जिस प्रकार यह पंढरपुर एक अखिल भारतीय तीर्थक्षेत्र है, उसी प्रकारका एक तीर्थक्षेत्र वह है।

पंढरपुरमें

अब जब हम पंढरपुर आने लगे, तो कुछ लोगोंने यह बात फैलानेकी कोशिश की कि अब यह शख्स पंढरपुरमें धर्मभ्रष्ट लोगोंको लेकर यहाँ आ रहा है और उनके साथ अब मंदिरमें घुसनेवाला है। वे बेचारे मेरी भक्ति क्या जानें? वहाँ जानेसे मुझे अगर किसीने मुमानियत की, तो मैं क्यों जाऊँ वहाँ? क्या वहाँ भगवान् बंद होकर पड़ा हुआ है? ऐसा मैं नहीं मानता। परन्तु मैं मूर्तिमें और मंदिरमें भी ईश्वरका निवास मानता हूँ। जहाँ असंख्य सत्पुरुष गये हुए हैं, उसके लिए मेरी श्रद्धा कभी कम नहीं होगी। मेरी श्रद्धा उस पत्थरमें इसीलिए है कि उसके दर्शनोंके लिए असंख्य सत्पुरुष आते रहे हैं और उन्होंने अपना पुण्य उस जगह संचित किया है। इसलिए उसके प्रति मुझे श्रद्धा है। अन्यथा वहाँ जाकर क्या करना है? तुकारामने कहा ही है:

"तीर्थी धोंडा पाणी, देव रोकड़ा सज्जनीं।"

(तीर्थमें जाकर क्या मिला? पत्थर और पानी। और है क्या वहाँ? भगवान् भक्त सज्जनोंमें है।)

सज्जनोंके दर्शन और भेंट करता हुआ मैं घूम ही रहा हूँ। मेरी असंख्य संतोंसे भेंट हुई है। मुझे अपने जीवनमें महापुरुषोंकी संगतिका लाभ हुआ है। तो मैं जबरदस्ती वहाँ क्यों जाऊँगा? कैसे जाऊँगा? सत्याग्रहकी मेरी रीति ऐसी नहीं है। मेरा यही सत्याग्रह है कि जहाँ मनाही होगी, वहाँ मैं नहीं जाऊँगा।

मन्दिर-प्रवेशका निमंत्रण

यहाँ आनेसे पहले रास्तेमें पुंडलीकके मंदिरके लोग आये। उन्होंने कहा कि 'हमारे मंदिरमें आप अवश्य आइये। आपके परिवारमें जो व्यक्ति हैं, वे अन्य-धर्मीय भले ही हों, फिर वे तो भक्त हैं। उन्हें लेकर आप अवश्य आइये।' मैंने कहा: 'ऐसा एक पत्र आप मुझे लिखकर दीजिये।' उन्होंने मुझे जो पत्र लिखकर दिया, वह मेरे पास यहाँ है। उसके बाद दूसरे या तीसरे दिन, रुक्मिणीके भक्त मेरे पास आये। उन्होंने कहा: 'रुक्मिणी माताका मंदिर आपके लिए खुला है। आप आइये, अपने परिवारके साथ आइये।' मैंने उनसे भी कहा: 'रुक्मिणीने भग-वान्‌के लिए पत्रिका दी थी। आप मुझे रुक्मिणी माताके दर्शनोंके लिए एक पत्रिका लिख दीजिये।' उन्होंने मुझे पत्र लिख दिया।

"पुंडलिका भेटीं परब्रह्म आले गा।"

फिर मुझे वहाँ अब परब्रह्म ही दिखायी देगा। अब मुझे कौनसा दूसरा ब्रह्म चाहिए? परब्रह्मसे बड़ा भी दूसरा ब्रह्म कहीं है? पुंडलीकके कारण ही पंढर-

पुर है। नहीं तो पंढरपुरको कौन पूछता है ? इस देवताको यहाँ कौन लाया ? पुंडलीक लाया। पुंडलीकके लिए मेरी जो श्रद्धा और भक्ति है, उसे 'गीता-प्रवचन' में देखिये। दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ का वर्णन करते हुए मैंने कहा है कि 'मैं नहीं जानता कि कौन-कौन स्थितप्रज्ञ हो गये ? परन्तु मेरे सामने स्थितप्रज्ञकी मूर्तिके रूपमें पुंडलीककी मूर्ति खड़ी है।' जब यह निश्चित हो गया कि उस पुंडलीकसे मैं भेंट कर सकूँगा और उसके बाद रुक्मिणी मातासे, तब मैंने सोचा कि चाबी तो मेरे हाथमें आ ही गयी है। अब ताला लगा रहने दो विट्ठल मंदिरमें, क्या हानि है ? यह मैंने विनोदमें कहा। अब मुझे आपको बतलानेमें आनंद होता है कि अभी यह भाषण करते हुए विट्ठल मंदिरकी ओरसे मुझे एक चिट्ठी आयी है कि 'आप विट्ठल मंदिरमें आइये।'

यह सारा पत्र पढ़कर मेरा हृदय स्नेह-विह्वल हो गया है। आप पंढरपुर-निवासियोंने और इन बडवे लोगोंने मुझे जीत लिया है। आपने मुझे गुलाम बना लिया। इस पत्रके केवल एक शब्दमें मुझे संशोधन करना है। उन्होंने मुझे 'महा-संत' और 'महाभागवत' कहा है। यह यथार्थ नहीं है। मेरी ऐसी इच्छा और तड़प अवश्य है कि परमेश्वरके चरणोंमें मैं लौट जाऊँ और इस देहके बाद दूसरी गति मुझे न मिले। इसी तीव्र उत्कंठासे मेरा सारा काम चल रहा है। यह भूदान और ग्रामदान परमेश्वरकी सेवाके सिवा दूसरी किसी इच्छासे मैं नहीं करता, परन्तु फिर भी मैं 'महाभागवत' नहीं हूँ और 'महासंत' नहीं हूँ। आप सबके आशी-र्वादसे और इन वैष्णवोंके भक्ति-प्रेमके वशमें कल प्रभातमें साढ़े चार बजे अपने स्थानसे रवाना होऊँगा और पुंडलीकके मंदिरमें, रुक्मिणी माताके मंदिरमें और पांडुरंगके मंदिरमें, तीनों जगह भगवान्‌से भेंट करूँगा।

मन्दिर-प्रवेशका आग्रह क्यों ?

मन्दिर-प्रवेशका आग्रह यदि मैं न रखूं, तो संसारमें हिन्दू-धर्मकी साख नहीं रहेगी। मुसलमानोंने अपनी मसजिदोंमें, ईसाइयोंने अपने गिरजोंमें, सिखोंने अपने गुरुद्वारोंमें कई जगह अत्यंत प्रेमसे मेरा स्वागत किया है। अजमेरकी दरगाह भारतका मक्का मानी जाती है। वहाँ दस हजार मुसलमानोंकी जमात में १९४७ में उन्होंने मुझे बुलाया था और वहाँ उस दरगाहमें बैठकर हमने अपनी **'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'** वाली गीता-प्रार्थना की। उनकी नमाजमें मैं बैठा हूँ। उसके बाद उनके रिवाजके मुताबिक वहाँ जितने मुसलमान थे, वे सारे मेरा हाथ चूमकर वहाँ से गये। उन दस हजार मुसलमानोंमेंसे प्रत्येक आकर हाथ चूमकर गया। इसमें कोई घंटा-सवा घंटा व्यतीत हुआ। इतना उनका प्रेम मुझे मिला है। क्यों कोई प्रेम नहीं करेगा ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रेम ही भरा हो, उसको कौन प्रेम नहीं करेगा ? ऐसा ही प्रेम मुझे ईसाइयोंकी मंडलीमें और बौद्धोंसे मिला है।

सभीका प्रेमपात्र

जापानके कुछ स्नेही मेरे साथ हैं। बौद्ध हैं वे। हमने बौद्धोंके प्रेमके कारण बोधगयामें समन्वय आश्रम खोला है और घोषित किया है कि हमें वेदान्त तथा बौद्ध-मतका समन्वय करना है। बौद्ध लोग भी बड़े प्रेमसे कहते हैं कि बुद्धने जो 'धर्मचक्र प्रवर्तन' किया था, उसीको बाबाकी यात्रा आगे चला रही है। इस प्रकार मुझे बौद्धोंका आशीर्वाद मिला है, मुसलमानोंका मिला है, हिन्दुओंका तो है ही। जब मैं केरलमें गया था, तो वहाँ चार अलग-अलग तरहके गिरजे हैं। ईसाइयोंके चार पंथ हैं। वहाँके चारों गिरजाघरोंके मुख्य बिशप लोगोंने एक पत्रक प्रकाशित किया था कि 'विनोबा जो काम कर रहा है, वह हजरत ईसाका ही काम है। इसलिए सभी गिरजे उनको सहकार दें।' इस प्रकार आपके धर्मके एक व्यक्तिका स्वागत जब सर्वधर्मीय करते हैं, तो मैं किस मुँहसे कहूँ कि मैं अकेला इस मंदिरमें जाऊँगा और "मुसलमानो, तुम्हारी इच्छा हो, तो भी मत आओ"—मैं कैसे यह कहूँ ? जिसे इच्छा ही नहीं होगी, वह आयेगा ही क्यों ? जिसकी श्रद्धा मूर्तिमें न हो, उसे नहीं आना चाहिए। परन्तु जिसमें भक्ति है, भाव है, उसे क्यों प्रतिबंध हो ?

कबीरका नाम इस पंढरपुरमें है या नहीं ? आप कबीर के भजन गाते हैं कि नहीं ?

"कबीराचे मार्गी विणू लागे, मूल उठविले कुंभाराचे।"

(कबीरके साथ करघेपर बुनाई की। कुम्हारके बेटेको जिलाया।)

तो कौन था वह कबीर ? शेख महमूद कौन था ? भागवतोंमें कभी ऐसा भेद हुआ है ? ये अपने महाराष्ट्रकी घटनाएँ हैं। तुकारामने लिख रखा है कि मुझे चार साथी मिले। चार खिलाड़ी साथी मिले। कौन-कौनसे ? ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ और कबीर।

मंदिरोंके द्वार खुले

फिर अब किस मुँहसे कहूँ कि मैं अकेला मंदिरमें जाऊँगा। हरिजनोंको जाने देते हैं, परंतु हरिजनोंके साथ मैं चला जाऊँ और बौद्ध मेरे साथ हों तो प्रवेश नहीं मिलेगा। मुसलमान आयें, ईसाई आयें, तो प्रवेश नहीं मिलेगा। क्या यह मुझे शोभा देगा ? क्या इससे हिन्दू-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ेगी ? यह सब विचार आप करें। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि यह विचार आपको जँचा है। आपने मुझे पत्र लिखकर भेजा है। इस तरह भारतके सारे हिन्दू-धर्म-मंदिरोंके दरवाजे, हृदयके दरवाजे खोल दिये। यह मेरा विश्वास है, यह जो भूदान-

ग्रामदान-यज्ञ चल रहा है, वह समूचे विश्वके लोगोंको आकर्पित कर रहा है। इस यात्रामें बीस-पच्चीस भिन्न-भिन्न देशोंके लोग आये हुए हैं। इस भावनासे आये हैं कि भारतमें एक बहुत उज्ज्वल तेजोमय ज्योति प्रकट हो रही है। उसकी हम सब लोगोंको आवश्यकता है। ऐसी भावनासे विदेशोंके लोग यहाँ आते हैं। उनको छोड़कर मैं मंदिरमें जाऊँ, तो क्या वह मुझे शोभा देगा? इसीलिए मेरा आग्रह है। अन्यथा मुझे किसीपर आक्रमण नहीं करना है। यह चीज मेरे जीवनमें है ही नहीं। वह मेरा शील नहीं है। वह अहिंसा नहीं है। वह संतोंकी सिखावन नहीं है। मैं बहुत हर्पित हो रहा हूँ। कल परमेश्वरने अपने मंदिरमें मुझे बुलाया है। मैं बड़ी उत्कंठासे जाकर विठोबाके दर्शन करूँगा और मुझे जो पुण्य मिलेगा, उससे मुझे आशा है कि इस देशमें बहुत आनन्द फैलेगा।

भगवान्‌का अद्‌भुत दर्शन

आज मैं उस विठोबा-मंदिरके शिखरके सामने बैठकर बोल रहा हूँ, जिसका दर्शन कर ५-६ सौ साल से हरिजन वापस लौटते थे। वे यात्रा के लिए आते थे, लेकिन उन्हें मंदिरके अन्दर जाकर भगवान्‌का दर्शन नहीं मिलता था, तो भी उनकी श्रद्धा अटूट रही। हिन्दू-धर्मकी सबसे श्रेष्ठ उपासना उन लोगोंने की है और समाधान माना है कि हमें मंदिरके शिखरका दर्शन होता है, तो हमारी यात्रा सफल हो गयी। उन दिनों वे लोग पदल आते थे और अंदर प्रवेश नहीं मिलता था, तो उसकी शिकायत करनेके बजाय वे समझते थे कि शिखरका दर्शन हुआ, तो भगवान्‌का दर्शन हुआ। भगवान्‌का दर्शन होता है और हर जगह होता है, पर उसीको जो उसके लिए प्यासा होता है।

मंदिर-प्रवेशकी समस्या

कालपुरुप अपना काम कर रहा है। दस साल पहले एक महापुरुप (साने गुरुजी) ने यहाँपर अनशन किया था। हरिजनोंकी वेदना उनके हृदयमें प्रकट हुई और उनके अनशनसे मंदिरके दरवाजे हरिजनोंके लिए खुल गये। लेकिन फिर भी मंदिरमें अहिन्दुओंका प्रवेश अभी तक नहीं हुआ था। हमने नम्रतापूर्वक जगन्नाथ-मंदिरमें उसकी कोशिश की थी, लेकिन जहाँसे नानकको वापस लौटना पड़ा था, वहींसे मुझे भी वापस लौटना पड़ा। इसलिए कि एक बहुत ही श्रद्धा-भक्तिमती फ्रेंच महिला मेरे साथ थीं। मैंने उचित समझा कि जहाँ उस महिलाका प्रवेश नहीं हो सकता है, वहाँ मुझे नहीं जाना चाहिए, बावजूद इसके कि मंदिरकी मूर्ति-में मेरी ठीक वैसी ही गूढ़ श्रद्धा है, जैसी आम जनताकी होती है और जिस श्रद्धासे लालायित होकर अत्यन्त वेदना, यंत्रणा और अपमान सहन करके वे यहाँ आते रहे। लेकिन मैंने समझा कि मुझे वहाँ नहीं जाना चाहिए।

गुरुवायूरकी घटना

दूसरा प्रयत्न केरलमें गुरुवायूरमें किया था। वहाँके लोगोंने इच्छा प्रकट की कि मैं अपना नित्यका रामायण-पाठ मंदिरमें जाकर करूँ। मंदिरवाले इसमें बड़े प्रसन्न थे। लेकिन जब वे बुलाने आये, तो मैंने कहा कि "मेरे साथ कुछ ईसाई और मुसलमान भाई भी हैं। वे मेरे साथ रामायण-पाठमें बैठते हैं। अगर आप उनके साथ मुझे आने देंगे तो मैं आऊँगा।" उन्होंने कहा कि "आपका उद्देश्य हम समझ सकते हैं, लेकिन हम लाचार हैं।" मैंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक उनसे कहा कि "जमाना बदल रहा है, इसका थोड़ा-सा ख्याल करें। मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ, इससे मुझे जितना दुःख होना संभव है, मेरी आत्मा कह रही है और इसीलिए मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि उससे ज्यादा दुःख गुरुवायूरके देवताको होगा कि बाबा मेरे पास आना चाहता था, लेकिन नम्रता और भक्तिसे आनेवाले मेरे उस प्यारे बन्देको मेरे पास नहीं आने दिया।" इस घटनापर केरलके कुल अख-बारोंमें चर्चा हुई। कुछ अखबारोंने मेरा निषेध किया, पर बहुत-से अखबारोंने उनका निषेध किया, जिन्होंने मुझे वहाँ जानेकी इजाजत नहीं दी थी। मुझे लग रहा है कि कालपुरुष एक माँग कर रहा है।

एक भाईने मुझसे कहा कि "गांधीजीकी एक मर्यादा थी। जिन मंदिरोंमें हरिजनोंको नहीं जाने दिया जाता, वहाँ उन्हें जाने देना चाहिए, यही उनका आग्रह था, लेकिन आप इससे ज्यादा आग्रह क्यों रखते हैं?" मैंने कहा, "इसमें मेरी अन्तरात्मा जो प्रेरित करती है, वही करता हूँ। अपने विचारोंके लिए मैं अपनेको ही परिपूर्ण जिम्मेवार मानता हूँ।"

मंदिरमें अद्भुत दर्शन

यहाँ पंढरपुरमें जब आना हुआ, तब चर्चा चली कि मैं अहिन्दुओंको लेकर मंदिरमें घुसनेवाला हूँ। खासतौरसे मुसलमानोंका नाम लिया जाता था। लेकिन लोग जानते नहीं कि इस तरह घुसना मेरे लिए असम्भव है! आक्रमण करना न मेरे शीलमें है, न मेरे विचारमें है और न मेरे गुरुने मुझे ऐसा सिखाया है। मुझे कोई जबरदस्ती नहीं करनी है। पंढरपुरके विठोबाके लिए मेरे मनमें जो भक्ति है, उसका साक्षी और कोई नहीं हो सकता है, उसका साक्षी साक्षात् भगवान् ही हो सकता है।

पुंडलीकके मंदिरके संचालक मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि आप अपने सब साथियोंके साथ मंदिरमें आ सकते हैं। उसके बाद रुक्मिणी माताके मंदिरके ट्रस्टी आये। अन्तमें विठोबाके मंदिरके ट्रस्टी भी आये। मैंने उनसे लिखित आमंत्रण माँगा और विनोदमें कहा कि "रुक्मिणीने भी स्वयं भगवान्‌को पत्र

लिखा था।" उसके बाद उन्होंने मुझे पत्र दिया और बड़े ही प्रेमसे मुझे वहाँ बुलाया। उन्होंने मुझपर जो उपकार किया है, उससे बढ़कर उपकार आजतक किसीने नहीं किया है।

मेरी आँखोंसे घंटेभर अश्रुधारा बहती रही, क्योंकि मुझे वहाँ कोई पत्थर नहीं दिखा। जब मैं मंदिरमें जाने लगा, तब किनकी संगतिमें जा रहा था··? (इस समय विनोबाजी रुके, उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे।) वे थे—रामानुज, नम्मालवार, ज्ञानदेव, चैतन्य, कबीर और तुलसीदास। धन्य है वह मन्दिर। बचपनसे जिनकी संगतिमें आज तक रहा, उन सबकी मुझे याद आ रही थी और जिनकी संगतिमें मैं पला, उन सबका स्मरण मुझे होता था। दर्शनके लिए मैंने जब उस मूर्तिके सामने अपना मस्तक झुकाया, तब मैंने अपनी माँको वहाँ देखा, अपने पिताको वहाँ देखा और अपने गुरुको वहाँ देखा। मैंने किसको वहाँ नहीं देखा? जितने लोग मुझे पूज्य और प्रिय हैं, वे सब मुझे वहाँ दिखे।

फातमा और हेमा

मेरे साथ दो बहनें थीं फातमा और हेमा। एक मुसलमान, दूसरी ईसाई। पुजारियोंने दोनोंसे कहा कि 'आप भगवान्‌को स्पर्श करिये।' यहाँ एक रिवाज है, भगवान्‌को आलिंगन देते हैं। दूसरे मंदिरोंमें ऐसा रिवाज नहीं है। वहाँ भगवान्‌को छूते नहीं हैं। **"रखुमादेवी वरु। हातविण स्पर्शिले, चक्षुविण देखिले। ब्रह्म गे माये।"** तो फातमासे और हेमासे कहा गया कि तुम भगवान्‌को छुओ। दोनोंने भगवान्‌को स्पर्श किया। दोनोंके स्पर्शसे मेरा ख्याल है कि भगवान्‌का शरीर रोमांचित हुआ होगा। एक लड़की मुसलमान है, जिसने एक जैन लड़केके साथ शादी की है और वह शादी मेरे हाथोंसे ही हुई है। दूसरी जर्मन लड़की है, जो अपने देशको, माता-पिताको, भाई-बहनको छोड़कर हिन्दुस्तानकी सेवामें आयी है। गांधीजीके विचार पढ़कर, यहाँ जो छोटा-सा काम चल रहा है, उसे देखनेके लिए वह आयी है। ईसामसीहका नाम उसने नही छोड़ा है। उसे छोड़नेकी जरूरत भी नहीं है। उसे वहाँ प्रवेश मिला, तो मेरे दिलको अत्यन्त शान्ति मिली। आज विश्वमें शांति और प्रेमकी शक्ति बढ़नी चाहिए। मंदिर-प्रवेशकी यह बहुत बड़ी घटना है। इसने शांति और प्रेमको बढ़ावा दिया है। कालपुरुष अपना काम कर रहा है, इसका दर्शन आज मुझे हुआ।*

---

* पंढरपुरके २९ और ३० मई १९५८ के दो प्रवचनोंसे।

११. सर्वोदय-आन्दोलन : एक सिंहावलोकन

गांधीजी गये। उनका विचार था कि सेवाग्राममें एक सम्मेलन करेंगे और सेवकोंको कुछ समझायेंगे, लेकिन वह मौका उन्हें मिला नहीं। फिर भी उनके जानेके बाद साथी सेवक सेवाग्राममें इकट्ठे हुए। इनमें गांधीजीके राजनीतिक साथी—सरदार पटेल, पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे बड़े-बड़े साथी भी थे और रचनात्मक कार्य करनेवाले दूसरे और भी कार्यकर्ता थे। उस सभामें हमारे कुछ रचनात्मक कार्यकर्ताओंने राजनीतिक साथियोंके सामने कुछ बातें रखीं और उनसे मददकी अपेक्षा भी की। उसके बाद मुझे बोलनेके लिए कहा गया। मैंने पं० नेहरूको संबोधित करके कहा कि यह पहला प्रसंग है, जहाँ आपमेंसे कइयोंका दर्शन प्रथम बार हो रहा है, परिचय तो दूसरी बात है। हम इतने बड़े व्यापक परिवारके लोग हैं कि एक-दूसरेका दर्शन भी हम नहीं कर सके। तो ऐसे प्रथम प्रसंगमें मैं आपसे किसी भी मददकी अपेक्षा करता नहीं, लेकिन योग्यता हमारी अल्प है, फिर भी आपके काममें हम अगर कुछ मदद दे सकते हैं तो उसके लिए हम राजी हैं।

शरणार्थियोंके बीच सेवा-कार्य

पण्डित नेहरूने उसके बाद हमें शरणार्थियोंका काम दिया और हमने उसे मान लिया। भारतमें शरणार्थियोंको बसानेके काममें और जो मुसलमान वगैरह उखड़े हुए थे, उन्हें दिलासा देनेके काममें हम लोग मदद दें, ऐसा तय हुआ। हम थोड़े-से साथी लेकर दिल्ली गये। हमारे साथियोंमें मुख्य तो जाजूजी थे और हमारी जानकी माताजी भी थीं। दिल्ली पहुँचनेके बाद पहली ही बैठकमें हमने तय किया कि हम इस कामके लिए छह महीना देंगे, आगेकी बात बादमें तय करेंगे। छह महीनोंमें हमने जो मजा देखा उसके समग्र वर्णनके लिए एक ग्रंथ ही लिखना होगा। हमको 'लियाजान' (सम्पर्क, मेल-मिलाप) का काम करना था। हिन्दीमें उसे नारदमुनिका काम कह सकते हैं—इधरका उधर पहुँचाना और उधरका इधर। वह काम हमें करना था। पंडितजी एक बात कहते थे और जिनसे वह बात करवानी थी, उनके विचार भिन्न थे। नतीजा यह होता था कि बात होती ही नहीं थी। जब मैं कोई बात पण्डितजीके सामने रखता था तो वे कहते थे कि 'मैं मानता हूँ और तीन महीने हो चुके हैं, मैं हुकुम दे चुका हूँ, लेकिन उसपर अमल नहीं हुआ है।' यह था अंधाधुंध कारोबार। बड़ा भय था कि नौकरशाहीका कब्जा ऐसे लोग कर लेंगे, जो प्रतिक्रांतिवादी हैं।

उन दिनों हमने बहुत मेहनत की। हमसे जितनी मेहनत हो सकती थी, हमने की। छह महीनेके अनुभवसे देखा कि इस कामसे अपना मतलब सधेगा नहीं। नारदमुनिसे सर्वोदय बनेगा नहीं। ऐसा तय करके पंडितजीकी गैरहाजिरीमें हम वहाँसे निकल गये। उसके बाद जब पण्डितजी हमसे मिले, तो हमने उन्हें बताया कि किस हालतमें हमने काम छोड़नेका तय किया। उन्होंने कहा, "ठीक है, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि जरूरत पड़ेगी तो आप आयेंगे।" मैंने कहा कि "मैं तो सेवक हूँ। जो आपकी आज्ञा होगी, उसका पाबंद रहूँगा।"

'पीस पोटेन्शियल'

फिर मैं सोचने लगा कि हमको क्या करना चाहिए। मैंने देखा कि रचनात्मक कार्यकर्ताओंकी जितनी जमात थी, वह सारी पस्तहिम्मत थी। हमारी कोई दाल गलेगी, ऐसी तनिक भी आशा उनके मनमें नहीं थी। सरदार वल्लभभाई पटेलने एक व्याख्यानमें कहा था कि हम तो खादी वगैरहके रचनात्मक काम सतत करते हैं—वे खुद रोज कातते थे और बड़ा बारीक सूत कातते थे—पर आज कोई खादीको मानता नहीं। गांधीजीकी बात लोगोंने नहीं मानी तो हमारी कौन मानेगा? अब भारत आजाद हुआ है तो हमको ऐसे उद्योग विकसित करने होंगे, जिनमें 'वार पोटेंशियल' (समर बल) होगा। उनके 'वार पोटेंशियल' शब्दपर हम सोचते रहे। उसमें तथ्य था। लेकिन हम मनमें सोचते रहे कि दुनियामें **'वार पोटेंशियल'** की जितनी आवश्यकता है, उससे ज्यादा **'पीस पोटेंशियल'** (शान्ति बल) की है। हमको ऐसे धंधे खड़े करने होंगे, ऐसे कार्य खड़े करने होंगे, जिनमें 'पीस पोटेंशियल' हो।

सम्मेलनके लिए पदयात्रा

मैं 'पीस पोटेंशियल' की बात सोचने लगा और तय किया कि उसके लिए एक दफा भारतकी पदयात्रा करनी होगी। यह निश्चय मैंने अपने मनमें कर रखा था, पर उसे प्रकट नहीं किया था। शिवरामपल्लीमें सर्वोदय-सम्मेलन रखा गया था तो शंकररावजी वगैरह बहुत आग्रह करने लगे कि मुझे वहाँ जाना चाहिए। मैंने कहा कि "मेरा जानेका इरादा नहीं है।" तब उन्होंने यहाँतक कहा कि "आप नहीं जाते हैं तो सम्मेलन बेकार है, हम सम्मेलन नहीं करेंगे।" इससे ज्यादा दबाव क्या हो सकता है? तो हमने कहा, "ठीक है, हम पदयात्रा करते हुए सम्मेलनमें आयेंगे।" मैंने जाहिर कर दिया कि "मैं सेवाग्रामसे परसों पैदल निकलूंगा।"

पैदल निकला, तब मालूम नहीं क्या एटमबमका विस्फोट हुआ! वह अभूतपूर्व बात तो नहीं कही जा सकती थी, क्योंकि प्राचीन लोग बहुत पदयात्रा करते थे, लेकिन इस जमानेमें यह बात अनपेक्षित थी। मैं पैदल निकला। रास्तेमें शरीरको

बुखार भी आया, लेकिन फिर भी यात्रा बन्द नहीं हुई। वहाँसे वापस आनेकी बात थी। पदयात्रा करनेवाला मनुष्य जिस रास्तेसे जाय, उसीसे वापस आये तो वह बेवकूफ माना जायगा। वहाँसे आनेके लिए दूसरा रास्ता भी था और तेलंगानामें कुछ मसला भी था। इसलिए सोचा कि उसी रास्तेसे जायें।

भूदानकी शुरुआत

तेलंगानाके एक गाँव (पोचमपल्ली) में हरिजनोंने जमीनकी माँग की। कहा कि "हमारे पास धंधा नहीं है, हमें जमीन दिलायें।" पहले तो हमने सोचा कि सरकारसे अपील करें। लेकिन लगा कि सरकारके पास माँगनेसे क्या होगा? इसलिए ग्रामकी सभामें लोगोंके सामने बात रखेंगे। बात रखी और १०० एकड़ जमीन दानमें मिली।

श्रद्धा रखकर माँग!

उस रातको ३-४ घंटे ही मुझे नींद आयी। यह क्या घटना घट गयी?–मैं सोचने लगा। मेरा दो बातोंपर बहुत विश्वास है। नम्बर एकमें भगवान्‌पर और नम्बर दोमें गणितशास्त्रपर। तो गणित चला। अगर हमको सारे भारतके भूमिहीनोंके लिए जमीन माँगना हो तो भूमिहीनोंको संतोष देनेके लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि चाहिए। क्या इतनी जमीन ऐसे माँगनेसे मिलेगी? फिर साक्षात् ईश्वरसे संवाद चला। फिर वह ईश्वर था कि मनुस्मृतिमें कहा वैसा अद्भुत था, मालूम नहीं कोई था, लेकिन हुई सीधी बातचीत। उसने कहा कि "अगर इसमें डरेगा और शंका रखेगा तो तेरा अहिंसा आदिका जो विश्वास है, उसको हटाना होगा। इसलिए श्रद्धा रख और माँगता जा।" और फिर एक बात कही कि "जिसने बच्चेके पेटमें भूख रखी, उसने माताके स्तनमें दूध रखा। वह अधूरी योजना नहीं बनाता।" बस, दूसरे दिनसे माँगना शुरू किया। दान मिलना शुरू हुआ। उस लम्बी कहानीको मैं यहाँ नहीं कहूँगा।

'एकला चलो रे!'

अद्भुत यात्रा थी। यात्राका प्रथम वर्ष और सारे भारतमें हर रोज भूदानकी सभा होती थी। हर जगह जमीनकी माँग होती थी और लोग जमीन देते थे। मैं बिलकुल मस्तीसे घूमता था। रविबाबूका पद याद आता था– 'एकला चलो रे ओरे अभागा।' मैंने उसमें अपने लिए थोड़ा फर्क कर लिया था—'ओरे अभागा' की जगह 'ओरे भाग्यवान्' कहता था। वेद तो पढ़ता ही रहता हूँ। वेदमें एक प्रश्न पूछा गया है और उसका उत्तर भी दिया गया है– 'किः स्वित् एकाकी चरति?' 'सूर्य एकाकी चरति'। उस प्रश्नोत्तरसे बड़ा उत्साह

आता था। चलता था तो देखता था कि ऊपर सूर्य एकाकी चल रहा है और नीचे बाबा एकाकी चल रहा है। बहुत ही उत्साह!

भूदान-सभामें शान्ति

फिर हम आ गये उत्तर प्रदेशमें। १९५२ के आम चुनाव (इलेक्शन) का समय आया। उधर चुनावकी सभा होती थी और इधर हमारी सभा होती थी। उन सभाओंमें हो-हल्ला होता था और हमारी सभा शांतिसे होती थी। लोग कहते थे कि "आपकी सभा बहुत शांत होती है और लोग एकाग्रतासे सुनते हैं।" हम कहते थे कि "भारतका बड़ा भाग्य है कि लोगोंको इसमें रुचि है।" एक बार कोई नेता चुनावकी सभामें कुछ बोला, उसकी रिपोर्ट अखबारमें आयी होगी। उसमें सर्वोदयके बारेमें भी कुछ कहा था। एक भाईने हमसे पूछा कि "आपने वह पढ़ा है क्या?" मैंने पूछा कि "क्या वह मेरे व्याख्यानकी रिपोर्ट पढ़ता है?" उसने कहा— "नहीं पढ़ता है।" तो मैंने जवाब दिया कि "जो मेरे व्याख्यानकी रिपोर्ट नहीं पढ़ता, उसके व्याख्यानकी रिपोर्ट पढ़नेकी जवाबदारी मुझपर कैसे आती है?"

लोहियाकी टीका

उधर उत्तर प्रदेशमें डाक्टर राममनोहर लोहिया थे। उन्होंने अपने एक व्याख्यानमें कहा कि "भूदानका यह कार्यक्रम **बहुत** अच्छा है।" उनका जोर 'अच्छा' पर नहीं, '**बहुत**' पर था। लोहियाजीके कहनेका सार था कि कार्यक्रम 'बहुत अच्छा' है याने **अव्यवहार्य** है। उन्होंने कहा था कि "कार्यक्रम बहुत अच्छा है, लेकिन ३०० सालमें पूरा होगा।" जब हमने यह सुना तब कहा कि "बाबा भी गणित करता है। ५ करोड़ एकड़ जमीन प्राप्त करनी है। मान लें कि हर साल एक लाख एकड़ जमीन प्राप्त होगी तो कार्यक्रम ५०० सालमें पूरा होगा। अब लोहिया-जी कह रहे हैं कि वह तीन सौ सालमें पूरा होगा, तो जाहिर है कि उनकी और उनके साथियोंकी मदद उसमें मिलेगी और इसलिए अवधि कम लगेगी।" ऐसी मस्तीमें यात्रा हुई।

२५ लाखका संकल्प

बाबा अकेला घूम रहा था और हमारे साथी, सर्व सेवा संघके लोग बड़े कुतू-हलसे, बड़ी उत्सुकतासे, बड़ी सहानुभूतिसे उसे देखते रहे। सालभरमें एक लाख एकड़ जमीन प्राप्त हुई। उसके बाद सेवापुरी-सम्मेलनमें सर्व सेवा संघने प्रस्ताव किया कि 'दो सालमें २५ लाख एकड़ जमीन हासिल करेंगे।' २ सालमें २५ लाख। अलौकिक शब्द था! एक सालमें १ लाख जमीन मिली थी और दो सालमें २५ लाख प्राप्त करनेका प्रस्ताव जाहिर हो गया।

२५ लाख एकड़में बिहारका 'कोटा' कितना ? मैं काशीमें था तो विन्ध्य-प्रदेश या बिहार जानेका विचार चला था। बिहारकी अपनी महिमा है। सोचा था कि वहाँसे चार लाख एकड़से कम नहीं लूँगा। बिलकुल शाइलाककी तरह चार लाखका मैंने आग्रह रखा, फिर 'हाँ' 'ना' करते-करते बिलकुल सर्वस्व खोनेवाले बिहारके बहुत बड़े नेता, लक्ष्मीबाबूने कहा, "ठीक है, कोई हर्ज नहीं। बिहारमें ७५ हजार गाँव हैं। हर गाँवसे ५-५ एकड़ जमीन मिलेगी तो हिसाब पूरा होगा।"

बिहार-प्रवेश

हमारा बिहार-प्रवेश हुआ। दुर्गावतीमें हमने प्रवेश किया और वहाँ ५० लाख एकड़की बात हम कहने लगे। रोज व्याख्यानमें ५० लाख, ५० लाखकी माँग चलायी। आखिर एक दिन कोई नेता मिलने आये थे, उन्होंने कहा कि "आप छठा हिस्सा माँगते हैं तो बिहारका छठा हिस्सा ४० लाख आयेगा, ५० लाख नहीं।" हमने कहा, "ठीक है।" और दूसरे दिनसे ४० लाखकी रट लगायी।

उसके बाद चांडिलमें हम बीमार पड़े। कुछ दिन वहाँ रहना पड़ा। बीमारीमें हम दवा नहीं ले रहे थे। हमारा हठ था कि "औषधिको छुऊँगा नहीं।" गांधीका साथी था तो कुछ हठ तो करना ही चाहिए। आखिर श्रीबाबू (डॉक्टर श्रीकृष्ण-सिंह) मुख्यमंत्री जब हमें मिलने आये तो आँखोंमें आँसू लाकर बोले कि "आपको औषधि लेनी होगी।" तब हमने 'हाँ' कहा और कहा कि "बदलेमें आपको एक काम करना होगा—४० लाख एकड़ जमीन प्राप्त करनेका प्रस्ताव कांग्रेसको करना होगा।" वे बोले : "अच्छी बात है।"

बिहार-कांग्रेसका प्रस्ताव

हमारे वैद्यनाथबाबू तो हिसाबी आदमी हैं। उन्होंने हिसाब करके हमें बताया कि कुल हिसाब ३२ लाख एकड़का होता है, ४० लाखका नहीं। हमने कहा, "ठीक है।" तो बिहार-कांग्रेसने ३२ लाख एकड़ जमीन प्राप्त करनेका प्रस्ताव किया। उसके पहले जिस-जिस प्रान्तमें हम गये थे, वहाँकी कांग्रेसने सहानुभूति बतायी थी और प्रस्ताव किया था कि यथाशक्ति काम करेंगे। पाणिनिके व्याकरणके अनुसार यथाशक्तिका अर्थ है—'शक्तिम् अनतिक्रम्य'। शक्तिकी आखिरी हद लाँघे बिना यानी 'यथाशक्ति'। हम लोगोंका 'यथाशक्ति' का अर्थ क्या है, वह आपको मालूम ही है। बिहारकी कांग्रेसने प्रस्ताव किया तो ऊपरवालोंने कहा कि ऐसा प्रस्ताव करना ठीक नहीं। प्रतिष्ठाको धक्का पहुँचेगा। सहानुभूतिका प्रस्ताव कर सकते थे। लेकिन श्रीबाबूने जवाब दिया कि "हम अपना धंधा जानते हैं" और ३२ लाखका प्रस्ताव पास हुआ।

बिहारमें २२ लाख एकड़ जमीन प्राप्त हुई और हमने अधिक लोभ छोड़ दिया। सोचा कि अब सारे भारतकी पदयात्रा करना ठीक है।

येलवाल-सम्मेलन

अब मैं पाँच साल आगे बढ़ता हूँ। येलवाल-सम्मेलनमें* आपको ले जाना चाहता हूँ। पाँच साल अच्छा काम चला और भूदानसे ग्रामदान निकला। तब मेरे मनमें शंका आयी कि क्या यह बाबाका खब्त है, 'फैड' है, पागलपन है कि इसमें कोई तथ्य है ? इसकी परीक्षा होनी चाहिए। तो मैंने सर्व सेवा संघके द्वारा नेताओंको आवाहन किया कि इसकी परीक्षा कीजिये और सुझाव दीजिये। येलवालमें ऐसी परिषद् हुई। भारतभरके सब नेता वहाँ इकट्ठा हुए थे। नेहरूसे लेकर नम्बूदरीपादतक। बहुत सारे 'नकार' ही इकट्ठा हुए थे, जिनका एक-दूसरेके साथ कभी मेल नहीं होता था। पं० नेहरूपर उस सम्मेलनका बहुत असर पड़ा था। उसके बाद जब वे जापान गये थे तो उन्होंने इसका उल्लेख किया था कि यद्यपि भारतमें मतभिन्नता है, फिर भी किसी कार्यक्रमपर हम सब इकट्ठे होते हैं। येलवाल-सम्मेलनकी उन्होंने मिसाल दी थी। मैं उस सम्मेलनमें एक दिन एक घंटा बोला और बाकी दिन चुप रहा। दो दिन अच्छी तरह चर्चाके बाद प्रस्ताव पास हुआ कि "यह आन्दोलन बहुत उत्तम है। इससे भारतका नैतिक और भौतिक उत्थान होगा, इसलिए सारी जनता इसे 'इन्थ्यूजियास्टिक सपोर्ट' (शक्तिशाली समर्थन) दे। इसका अर्थ यह नहीं कि सरकार इसे अपना कर्तव्य नहीं समझती, वह भी मदद देगी।" हमारे लोगोंने समझा कि अब नेता काममें लगेंगे। मैंने यह नहीं माना था। उन्होंने माना था, इसलिए उन्हें निराशा हुई। मुझे निराशा नहीं हुई, क्योंकि मैंने आशा ही नहीं रखी थी। आशा क्यों नहीं रखी थी, इसका भी कारण है। मैं जानता था कि वे लोग डिब्बे नहीं हैं कि आपके इंजनके साथ जुड़ जायँ, वे स्वयं इंजन हैं। वे ऐसे इंजन नहीं कि डिब्बेसे मुक्त हों, उनके पीछे भी डिब्बे हैं। ऐसी हालतमें वे हमारे इंजनके साथ चलेंगे, यह आशा मैंने नहीं रखी थी। मैंने समझा था कि उन्होंने हरी झंडी दिखायी है कि बेखटके चलते जायँ। आर्थिक दृष्टिसे आपको नुकसान नहीं है, ऐसा प्रमाण-पत्र उन्होंने दिया।

ग्रामदान : डिफेन्स मेजर

उस सम्मेलनमें मैं एक घंटा बोला। उसमें ग्रामदानकी महिमाका वर्णन करते हुए मैंने कहा था कि "ग्रामदान 'डिफेन्स मेजर' होगा।" पं० नेहरूने अपने हाथसे वह शब्द अपनी नोटबुकमें लिख लिया था। मैंने कहा था कि "आपकी पंचवर्षीय योजना यह मानकर चलती है कि दुनियामें शांति रहेगी। लेकिन अगर दुनियामें लड़ाई हुई तो आपके आयात-निर्यातमें गड़बड़ी होगी और आपकी

---

* देखिये परिशिष्ट।

योजना ताशके महलकी तरह गिर जायगी। उस हालतमें ग्रामदान टिक सकता है।" यह बात मुझे उसके पहले सूझी नहीं थी। उस समय न मालूम कहाँसे सूझ गयी। उस वक्त लड़ाईका वातावरण तो था नहीं। अब मैं बीचके कुछ साल छोड़ देता हूँ और आपको पाँच साल आगे ले जाता हूँ।

खोया पलासी पाया

पं० नेहरूकी और मेरी आखिरी मुलाकात हुई बंगालमें। अजीब मुलाकात थी। उसके पहले जितनी मुलाकातें हुई थीं, उनमें हम दोनोंके साथ और कोई न कोई रहता था। लेकिन उस वक्त भारतकी परिस्थिति कुछ गंभीर थी, कई प्रश्न खड़े थे तो लोगोंने सोचा कि इस मुलाकातमें और कोई न हो। तो पूर्ण एकान्तमें मुलाकात हुई। दो घंटे बातचीत हुई और मैं देखता रहा कि मैं बोलता था और पण्डितजी अपने हाथसे उसे नोट कर लेते थे। फिर हम दोनों एक सभामें बोले। लाखों लोग सभामें आये थे, जैसे कि उनकी सभाओंमें आते थे। उन्होंने पहले मुझे ही बोलनेके लिए कहा। मैं १५ मिनट बोला और उसमें थोड़ेमें ग्रामदान-का सारा विचार रख दिया। उसके बाद वे बोले। अपनी निजी बातचीतमें मैंने यह खबर दी थी कि प्लासीका ग्रामदान हुआ है। 'प्लाशी' याने 'प्लासी'। पलाश शब्दसे 'प्लाशी' बना। पण्डितजीने कहा था कि "मुझे बहुत खुशी हुई है यह सुनकर और मुझे मिल्टन याद आ रहा है। मिल्टनने 'पैराडाइज लौस्ट' लिखा। उसके बाद 'पैराडाइज रिगेन' लिखा। हमें 'प्लाशी लौस्ट' (खोया पलासी) के बाद दूसरा 'प्लासी रिगेण्ड' (पाया पलासी) मिला है।" इतना उत्साह उन्हें वह खबर सुनकर आया था। आम सभाके अपने भाषणमें उन्होंने कहा कि "हमारा मुकाबला चीनके साथ है। हमारी कुछ जमीन चीनके हाथमें गयी है, वह हमें वापस लेनी है। लेकिन वह कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन हमारी असली लड़ाई गरीबीके साथ है, वह अत्यन्त कठिन है। उस लड़ाई-में बाबा आपके सामने ग्रामदानकी जो बात रख रहा है, वह बहुत काममें आयेगी।"—ऐसा आदेश उन्होंने दिया।

बंगालकी यात्रा

फिर हमारी यात्रा बंगालमें चली। अब मैं आपको दो-तीन मिनटके लिए बंगालमें घुमाऊँगा। वहाँ बहुत सभाओंमें बोलनेका मुझे मौका मिला। मैं लोगोंके सामने यही बात रखता था कि "मैं तो सेवक हूँ, नेता नहीं, इसलिए आपसे प्रार्थना कर सकता हूँ, आपको आदेश नहीं दे सकता। लेकिन पं० नेहरू आपके, हमारे, सबके गण्यमान्य नेता हैं। उन्होंने आदेश दिया है तो उनका आदेश और मेरी प्रार्थना डबल इंजन लगा है। इसलिए ग्रामदानके काममें लगना चाहिए।"

येलवाल-सम्मेलन

अब मैं पाँच साल आगे बढ़ता हूँ। येलवाल-सम्मेलनमें* आपको ले जाना चाहता हूँ। पाँच साल अच्छा काम चला और भूदानसे ग्रामदान निकला। तब मेरे मनमें शंका आयी कि क्या यह बाबाका खब्त है, 'फैड' है, पागलपन है कि इसमें कोई तथ्य है? इसकी परीक्षा होनी चाहिए। तो मैंने सर्व सेवा संघके द्वारा नेताओंको आवाहन किया कि इसकी परीक्षा कीजिये और सुझाव दीजिये। येलवालमें ऐसी परिषद् हुई। भारतभरके सब नेता वहाँ इकट्ठा हुए थे। नेहरूसे लेकर नम्बूदरीपादतक। बहुत सारे 'नकार' ही इकट्ठा हुए थे, जिनका एक-दूसरेके साथ कभी मेल नही होता था। पं० नेहरूपर उस सम्मेलनका बहुत असर पड़ा था। उसके बाद जब वे जापान गये थे तो उन्होंने इसका उल्लेख किया था कि यद्यपि भारतमें मतभिन्नता है, फिर भी किसी कार्यक्रमपर हम सब इकट्ठे होते हैं। येलवाल-सम्मेलनकी उन्होंने मिसाल दी थी। मैं उस सम्मेलनमें एक दिन एक घंटा बोला और बाकी दिन चुप रहा। दो दिन अच्छी तरह चर्चाके बाद प्रस्ताव पास हुआ कि "यह आन्दोलन बहुत उत्तम है। इससे भारतका नैतिक और भौतिक उत्थान होगा, इसलिए सारी जनता इसे 'इन्थ्यूजियास्टिक सपोर्ट' (शक्तिशाली समर्थन) दे। इसका अर्थ यह नहीं कि सरकार इसे अपना कर्तव्य नहीं समझती, वह भी मदद देगी।" हमारे लोगोंने समझा कि अब नेता काममें लगेंगे। मैंने यह नहीं माना था। उन्होंने माना था, इसलिए उन्हें निराशा हुई। मुझे निराशा नहीं हुई, क्योंकि मैंने आशा ही नहीं रखी थी। आशा क्यों नहीं रखी थी, इसका भी कारण है। मैं जानता था कि वे लोग डिब्बे नहीं हैं कि आपके इंजनके साथ जुड़ जायँ, वे स्वयं इंजन हैं। वे ऐसे इंजन नही कि डिब्बेसे मुक्त हों, उनके पीछे भी डिब्बे है। ऐसी हालतमे वे हमारे इंजनके साथ चलेंगे, यह आशा मैंने नहीं रखी थी। मैंने समझा था कि उन्होंने हरी झंडी दिखायी है कि बेखटके चलते जायँ। आर्थिक दृष्टिसे आपको नुकसान नही है, ऐसा प्रमाण-पत्र उन्होंने दिया।

ग्रामदान : डिफेन्स मेजर

उस सम्मेलनमें मैं एक घंटा बोला। उसमें ग्रामदानकी महिमाका वर्णन करते हुए मैंने कहा था कि "ग्रामदान 'डिफेन्स मेजर' होगा।" पं० नेहरूने अपने हाथसे वह शब्द अपनी नोटबुकमें लिख लिया था। मैंने कहा था कि "आपकी पंचवर्षीय योजना यह मानकर चलती है कि दुनियामें शांति रहेगी। लेकिन अगर दुनियामें लड़ाई हुई तो आपके आयात-निर्यातमें गड़बड़ी होगी और आपकी

---

* देखिये परिशिष्ट।

योजना ताशके महलकी तरह गिर जायगी। उस हालतमें ग्रामदान टिक सकता है।" यह बात मुझे उसके पहले सूझी नहीं थी। उस समय न मालूम कहाँसे सूझ गयी। उस वक्त लड़ाईका वातावरण तो था नहीं। अब मैं बीचके कुछ साल छोड़ देता हूँ और आपको पाँच साल आगे ले जाता हूँ।

खोया पलासी पाया

पं० नेहरूकी और मेरी आखिरी मुलाकात हुई बंगालमें। अजीब मुलाकात थी। उसके पहले जितनी मुलाकातें हुई थीं, उनमें हम दोनोंके साथ और कोई न कोई रहता था। लेकिन उस वक्त भारतकी परिस्थिति कुछ गंभीर थी, कई प्रश्न खड़े थे तो लोगोंने सोचा कि इस मुलाकातमें और कोई न हो। तो पूर्ण एकान्तमें मुलाकात हुई। दो घंटे बातचीत हुई और मैं देखता रहा कि मैं बोलता था और पण्डितजी अपने हाथसे उसे नोट कर लेते थे। फिर हम दोनों एक सभामें बोले। लाखों लोग सभामें आये थे, जैसे कि उनकी सभाओंमें आते थे। उन्होंने पहले मुझे ही बोलनेके लिए कहा। मैं १५ मिनट बोला और उसमें थोड़ेमें ग्रामदान-का सारा विचार रख दिया। उसके बाद वे बोले। अपनी निजी बातचीतमें मैंने यह खबर दी थी कि प्लासीका ग्रामदान हुआ है। 'प्लाशी' याने 'प्लासी'। पलाश शब्दसे 'प्लाशी' बना। पण्डितजीने कहा था कि "मुझे बहुत खुशी हुई है यह सुनकर और मुझे मिल्टन याद आ रहा है। मिल्टनने 'पैराडाइज लौस्ट' लिखा। उसके बाद 'पैराडाइज रिगेन' लिखा। हमें 'प्लाशी लौस्ट' (खोया पलासी) के बाद दूसरा 'प्लासी रिगेण्ड' (पाया पलासी) मिला है।" इतना उत्साह उन्हें वह खबर सुनकर आया था। आम सभाके अपने भाषणमें उन्होंने कहा कि "हमारा मुकाबला चीनके साथ है। हमारी कुछ जमीन चीनके हाथमें गयी है, वह हमें वापस लेनी है। लेकिन वह कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन हमारी असली लड़ाई गरीबीके साथ है, वह अत्यन्त कठिन है। उस लड़ाई-में बाबा आपके सामने ग्रामदानकी जो बात रख रहा है, वह बहुत काममें आयेगी।"—ऐसा आदेश उन्होंने दिया।

बंगालकी यात्रा

फिर हमारी यात्रा बंगालमें चली। अब मैं आपको दो-तीन मिनटके लिए बंगालमें घुमाऊँगा। वहाँ बहुत सभाओंमें बोलनेका मुझे मौका मिला। मैं लोगोंके सामने यही बात रखता था कि "मैं तो सेवक हूँ, नेता नहीं, इसलिए आपसे प्रार्थना कर सकता हूँ, आपको आदेश नहीं दे सकता। लेकिन पं० नेहरू आपके, हमारे, सबके गण्यमान्य नेता हैं। उन्होंने आदेश दिया है तो उनका आदेश और मेरी प्रार्थना डबल इंजन लगा है। इसलिए ग्रामदानके काममें लगना चाहिए।"

फिर मैं अधिकारियोंको उनके पदका नया अर्थ समझाता था। कहता था कि 'बी० डी० ओ०' याने भूदान अफसर; 'एस० डी० ओ०' याने सर्वोदय डेवलपमेण्ट आफिसर। आपको तनख्वाह सरकारसे लेनी है और काम बाबाका करना है।" यह सुनकर वहाँके मंत्री बोलते थे कि "आपकी बात ठीक है।"

सुलभ ग्रामदान

यह वह जमाना था, जब चीनके साथ हमारा मुकाबला चल रहा था। मैं सोचने लगा कि हमारे पूर्ण ग्रामदानमें---जमीनका बँटवारा वगैरह आता है। उसके बजाय उसमें थोड़ी कमी ही रहे, लेकिन जिसे सब मंजूर करें तो शायद ऐसा कदम अधिक क्रांतिकारी होगा। यह काम जल्दी होना चाहिए, इसलिए ऐसा सूझा कि ग्रामदानको थोड़ा सुलभ बना दिया जाय। हमने वहाँ 'सुलभ ग्रामदान' शुरू कर दिया और देखते-देखते बंगालमें बहुत ग्रामदान मिलने लगे। जयप्रकाशजी-पर इसका बहुत असर पड़ा। वे कहने लगे कि जिस बंगालमें गांधीजीकी नहीं चली, वहाँ इतने व्यापक तौरपर ग्रामदान हो रहे हैं, तो निश्चय ही इसमें क्रांतिकी 'पोटेंशियेलिटी' है। वे जहाँ-जहाँ गये, इसी प्रकार ग्रामदानका विचार सम-झाते गये।

रायपुर-सम्मेलन

अब मैं आगे बढ़ रहा हूँ---रायपुर-सर्वोदय-सम्मेलन। बीचमें मैंने सर्वोदय-सम्मेलनोंमें जाना छोड़ दिया था। मैं नहीं जाता था, उसके अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह है कि बाबा नेता नहीं और दूसरा यह कि नेता नहीं है, फिर भी नेतृत्व-निरसनका उसका कार्यक्रम है। नेतृत्वकी जगह 'गण-सेवकत्व' होना चाहिए---यह नया शब्द बाबाको सूझा है। इसलिए भी बाबाने सोचा कि सर्वोदय-सम्मेलन लोगोंको करने दो और आखिरी कारण 'सूक्ष्मप्रवेश' का है।

त्रिविध कार्यक्रम

रायपुरका सर्वोदय-सम्मेलन बहुत उत्साहपूर्वक हुआ, क्योंकि बाबा उसमें उपस्थित था। लोगोंमें नयी आकांक्षा पैदा हुई थी। उस सम्मेलनमें सर्वसम्मतिने एक प्रस्ताव हुआ और देशके सामने 'त्रिविध कार्यक्रम' रखा गया। यों उसके साथ नयी तालीम, हरिजन-सेवा आदि अनेक कामोंकी फेहरिस्त आ रही थी। उसका बहुतोंने उत्तर दिया था कि ये १०-१२ कार्यक्रम तो हैं ही, लेकिन अपने बुनियादी कार्यक्रमपर हमें जरा एकाग्र होना चाहिए, बाकीके कार्यक्रम उसीके साथ हो सकते हैं। इसलिए वह करना चाहिए। ऐसा तय हुआ और प्रस्ताव पास हुआ।

पाँच सालमें क्या किया ?

अब हमको, आपको, सबको सोचना होगा। पाँच साल हो गये। पाँच साल-में हम लोगोंने उस प्रस्तावके अमलके लिए कितना समय दिया ? शांति-सेनाके कामके लिए, खादीके लिए, ग्रामदानके लिए कितना समय दिया——उसका अपना-अपना हिसाब देखें। मैंने भी अपना हिसाब किया है और मुझे यह कहनेका मौका नहीं मिला कि हमने बहुत काम किया और भगवान्‌ने कम फल दिया। मेरा मानना है कि हमने इस काममें, जितना समय दिया, उससे कई गुना अधिक फल भगवान्‌ने दिया है। जब किसी चुनाव-क्षेत्रमें बाबा जाता था, तब वहाँके लोग मदद-के लिए आते थे, क्योंकि बाबा आया और मददके लिए न जायँ तो पूछा जायगा कि आप कहाँ थे ?

'वेयर यु देयर, वेयर यु देयर, व्हेन दे क्रूसीफाइड माई लार्ड ?' इसलिए दो दिन आ जाते थे और फिर अपने क्षेत्रके कामके लिए चले जाते थे।

ये त्रिविध कार्यक्रम यह समझकर तय किये गये हैं कि ये बुनियादी हैं और उनमें 'पीस पोटेंशियेलिटी' है। **शांति-सेना**——जबतक हम शांति-सेना व्यापक नहीं करते, ताकि अंदरूनी शांतिके लिए पुलिसकी खास जरूरत न पड़े, और मिलिटरी–सेना–की कतई न पड़े, तबतक हम अहिंसाकी शक्तिका कोई दावा नहीं कर सकते। इसलिए यह अनिवार्य है।

ग्रामदान जबतक नहीं बनेगा और गाँव-गाँवमें ग्राम-परिवार नहीं बनेगा, तबतक हम नये युगके लिए लायक नहीं हो सकते। नया युग विश्व-राष्ट्रका युग है। उसका एक 'ट्रिब्यूनल' बनेगा, जिसमें दुनियाके सर्वोत्तम विद्वान् लोग होंगे। भारत देश उसका प्रान्त होगा और बिहार उसका जिला बनेगा; गया एक तहसील बनेगी; गाँव परिवार बनेगा। आज परिवार छोटा है, उसे गाँवतक बढ़ाना होगा। यह स्केल–पैमाना–बढ़ानेकी बात है। ऐसा होनेपर ही विश्व-शांतिकी बात हम कर सकते हैं और आजके जमानेके लायक हो सकते हैं। इसलिए उधर हम 'जय जगत्' कहते हैं तो इधर 'ग्रामदान'। उस दृष्टिसे हमें सोचना होगा।

शांति-सेना अत्यन्त अनिवार्य है। ग्राम-समाजके बिना कोई बात बनेगी नहीं। जैसे यू० एस० ए० (युनाइटेट स्टेट्स आफ अमेरिका) है और दूसरा यू० एस० एस० आर० (युनाइटेड सोवियेट सोशलिस्ट रिपब्लिक-रूस) है, वैसे ही हमें हर गाँवको सर्वोदय रिपब्लिक बनाना होगा——'यूनाइटेड स्टेट्स आफ सर्वोदय रिपब्लिक'——गाँव-गाँवमें बने। ऐसा करना होगा, तभी 'पीस पोटेंशियल' प्रकट होगा।

नम्बर तीन है——**ग्रामाभिमुख खादी**। मैं खादीवालोंको वर्षोंसे कहते-कहते थक गया कि तुम्हें सरकारसे मदद मिलती है, संरक्षण नहीं। मदद तो कई कामों-

को दी जाती है, उसमें खादी भी एक काम है; लेकिन सरकारी मददसे तेजस्विताकी हानि होगी। खादी लोक-क्रांतिका वाहन होनी चाहिए। अभी ग्रामदान बढ़ रहे हैं, उसका कारण यह है कि खादीवाली जमात समझ गयी है कि इसके बिना उसे आधार नहीं। तमिलनाडमें प्रान्तदानका संकल्प हुआ। उत्तर प्रदेशमें भी हुआ। वे सभी लोग समझ गये हैं कि अब ग्रामदानके काममें लगना होगा। उसके बिना खादी ग्रामाभिमुख नहीं होगी। ग्रामाभिमुख खादी ही गांधीजीकी खादी है।

अकालमें खादी बाँट दो

गये साल बिहारमें अकाल पड़ा। बाबा कितना अव्यवहारी है, उसकी एक मिसाल दे रहा हूँ। अव्यवहारी होना उसने उपनिषदोंसे सीखा है। उपनिषद्में लिखा है--**अव्यवहार्यम्, एकात्मप्रत्ययसारं शान्तं शिवम् अद्वैतम्**--'एकात्मता-का प्रत्यय होना चाहिए और कार्य अव्यवहारी होना चाहिए।' **शान्तं शिवम् अद्वैतम्**। गये साल जब बिहारमें अकाल पड़ा, तब मैं मधुबनी गया था। वहाँ करोड़ रुपयेकी खादीका संग्रह पड़ा था। वह सँभालनेकी जिम्मेवारी एक मनुष्यपर थी। उसे मैंने 'करोड़पति' नाम दे दिया था। तो मैंने सुझाया कि लोग ठंडसे ठिठुर रहे हैं और आपके पास खादी पड़ी है--यह खादी बाँट दीजिये। गांधीजीने हमें मार्गदर्शकके तौरपर कई व्रत दिये, जिनका कि हम प्रार्थनामें रोज उच्चारण करते हैं,--उनमें एक व्रत है स्वदेशी। दूसरा है अपरिग्रह। खादीका संग्रह देखकर मुझे लगा कि यहाँ स्वदेशी और अपरिग्रह--इन दो व्रतोंकी टक्कर हो रही है। इसलिए एक जगह मैंने व्याख्यानमें कहा कि लोग ठंडसे ठिठुर रहे हैं, आपके पास जितनी खादी है, सब बाँट दो। इसके लिए ढेबरभाईसे पूछो मत, क्योंकि उनपर वैधानिक जिम्मेवारी है। हमारा यह काम अवैधानिक है, पर है अत्यन्त नैतिक। दया धर्मका मूल है। उसके लिए यदि जेल जाना पड़े तो हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। लेकिन बाबाकी कौन सुनेगा? मराठीमें कहावत है--**'राजा बोलता है तो सेना हिलती है, मियाँ बोलता है तो दाढ़ी हिलती है।'** अगर खादी बाँट देते तो खादीके संग्रहका बड़ा सवाल एकदम हल हो जाता। प्राचीनकालमें लोगोंने ऐसे प्रयोग किये हैं। श्री हर्षने अपनी सारी संपत्ति बाँट दी थी। लेकिन खादीवालोंका दैव विपरीत था। उसके बाद पटनेके खादी भवनको आग लगायी गयी। ऐसे तो गुजरातमें भी खादी भंडारको आग लगायी गयी थी। पटनेमें मेरा खयाल है, १० लाख रुपयेकी खादी जली होगी। लोगोंका खूब आक्षेप था। और बहुत आश्चर्यकी बात है, हम शांति-सेनाकी बात करते हैं। पटनेमें खादी भवन जला, तब कोई शांति-सैनिक निकला नहीं। कुछ खादी-वाले अन्दर रह गये थे, वे कुछ सँभाल न सके तो उन्होंने पुलिसकी मदद माँगी।

इससे आप समझ सकेंगे कि त्रिविध कार्यक्रम कितना आवश्यक है। एकके बाद एक सुन्दर कथा है अरेबियन नाइट्सकी-सी।

जनताको पता ही नहीं

फिर हमसे कहा गया कि जो सूत कातेगा, उसकी बुनाई सरकार मुफ्त करवा देगी, ऐसी योजना बनी। उसका इजहार सेवाग्रामसे मैं करूँ, ऐसा कहा गया। उसी दिन दिल्लीसे पं० नेहरूने भी उसका इजहार किया। उसके दो साल बाद मैं बिहारमें आया और यहाँकी एक बहुत बड़ी सभामें मैंने पूछा कि "सरकारने बुनाई मुफ्त कर देनेका एलान किया है—जो सूत कातेगा, उसकी बुनाई सरकार मुफ्त कर देगी। यह बात किसको मालूम है ?" तो वहाँ इतनी बड़ी सभामें हजारोंमेंसे एक भी व्यक्ति नहीं निकला, जिसे यह मालूम हो। एक भी हाथ नहीं उठा। हमने सोचा कि पंडित नेहरू जैसे नेताने जब इस बातका इजहार किया था, गाँवके हितके लिए एक बात जाहिर की थी, तो फौरन् पाँच लाख गाँवोंमें ढोंडी पीटकर एक निश्चित दिन जाहिर करना चाहिए था। लेकिन इधर हमारा और उधर उनका जाहिर करना हवामें चला गया और भारतके गाँवोंको इसका पतातक नहीं था। यहाँ एक पर्व समाप्त हुआ।

तूफानके लिए बिहारमें

हमारी एक यात्रा पूरी हुई तो हम जरा ब्रह्मविद्या-मन्दिरमें बैठकर चिन्तन करना चाहते थे। ब्रह्मविद्या-मन्दिरकी स्थापना तो कर दी थी, लेकिन वर्षोंसे वहाँ जाना नहीं हुआ था। तो हम जरा चिन्तन करने वहाँ बैठ गये। फिर सर्व सेवा संघने वर्धामें अपना अधिवेशन बुलाया। उस समय बिहारके लोग हमें मिलने परंधाम आये। उन्हें देखकर बिना सोचे हमारे मुँहसे निकल गया कि "बिहार-वाले तूफानके लिए तैयार हों तो बाबा बिहार आयेगा।" उन्होंने मुझसे पूछा कि "'तूफान'की परिभाषा कीजिये।" हमने कहा कि "इतनी-इतनी मुद्दतमें इतने-इतने ग्रामदान होने चाहिए।" उसके बाद उन लोगोंने आपसमें तय किया कि बाबा खुद आवाहन दे रहा है और आनेको तैयार है और हम कहें कि हम तैयार नहीं तो यह ठीक बात नहीं। उन्होंने हमें 'हाँ' कह दिया और हम बिहार आये।

कागजी ग्रामदान

बिहारमें जो ग्रामदान हुए, उनके बारेमें लोग कहते हैं कि "ये ग्रामदान तो 'कागजी ग्रामदान' हैं। ये सिर्फ कागजपर हैं, इनसे क्या होनेवाला है ?" लेकिन इसके लिए भी तो बहुत कुछ करना पड़ता है, गाँव-गाँव जाना पड़ता है। धीरेन-भाई कह रहे थे कि "गांधीजीके जमानेमें ऐसा देखा नहीं। इस आन्दोलनमें

गाँव-गाँव जाना पड़ता है, घर-घर जाना पड़ता है और लोग घरमें न मिले तो हस्ताक्षर लेनेके लिए खेतोंपर जाना पड़ता है। इतना व्यापक आन्दोलन कभी हुआ नहीं था।" अभी-अभी एक भाईने हमसे पूछा था कि "यह सारा तो कागज-पर लिखा हुआ मामला है।" मैंने उनसे कहा कि आपको जो वोट मिलते हैं, वे क्या होते हैं ? वे भी तो कागजपर ही होते हैं ! लोकशाहीका ढोंग। मोटरमें भर-भरकर लोगोंको ले जाते हैं। दिनभरका खाना खिलाते हैं और एक पेटी दे देते हैं और तयशुदा पेटीमें पर्चा डालनेको कहते हैं। लेकिन आपने देखा है कि उसमेंसे ताकत पैदा होती है। तो कागजपर आपने जितना हस्ताक्षर लिया है, वह सारा वोट है। लेकिन फिर भी मुझे लगता है कि जितने कागज वोटके लिए लगते होंगे, उतने ग्रामदानके हस्ताक्षर लेनेके लिए नहीं लगते होंगे।

लोकशाहीकी कमियाँ

आजकी लोकशाहीका पहला अन्याय यह है कि २१ सालके नीचेवाले उत्तम पुरुषोंको भी मतदानका हक नहीं। विलियम पिट इंग्लैंडका प्रधानमंत्री था। इंग्लैंडको बचानेकी जिम्मेवारी पिटपर थी, पर उसकी उम्र थी केवल २० सालकी। नेपोलियन बोनापार्टने २० सालके अन्दर सेनामें अच्छी सफलता प्राप्त की थी। पानीपतकी लड़ाईमें सब मराठे खतम हुए। उसके बाद माधवराव पेशवाने पेशवाई हाथमें ली और उत्तम काम किया। उम्र २० साल। शंकराचार्यने काशीमें बैठकर १६ सालकी उम्रमें शांकरभाष्य लिखा। समूचे भारतमें उसका प्रचार किया और अद्वैत तत्त्वज्ञानका भारतपर असर डाला। ज्ञानेश्वर महाराजने १६ सालकी उम्रमें ज्ञानेश्वरी लिखी और २२ सालकी उम्रमें चले गये। ये सारे अद्वितीय लोग थे, ऐसा मानना होगा। लेकिन आइजन हावरने कहा है कि "क्या वजह है कि १८ सालकी उम्रमें सेनामें भरती होकर काम कर सकते हैं, देशको बचानेकी जिम्मेवारी उठा सकते हैं और देशके कारोबारके लिए वोट नहीं दे सकते ?"

२० फीसदीका राज

अब चुनावमें क्या होता है ? इस वक्त कांग्रेस ३८ प्रतिशत वोटसे जीती। यानी ३८ फीसदीका राज देशपर चलता है। फिर उसमें भी क्या होता है ? महत्त्वका बिल लाना हो तो पहले पार्टीमें लाया जाता है। फिर वहाँ २० विरुद्ध १८ से वह 'पास' होता है और पास हुआ बिल संसद्में लाया जाता है। उस वक्त जिन १८ लोगोंने पार्टीमें उसके खिलाफ वोट दिया था, उनको भी उसके अनुकूल हाथ उठाना पड़ता है। मतलब २० फीसदीका राज हुआ। यह सारा जो 'मैनि-पुलेशन' है, उसे क्या नाम दिया जाय ? बहुमतका नाम देकर अल्पमतका राज चलाया जाता है।

सेनापर आधार

जितने 'इज्म' (वाद) हैं, उनकी आखिरी 'सेंक्शन' (स्वीकृति) क्या है ? चाहे फासिस्टवाद हो, चाहे समाजवाद हो, चाहे कल्याणकारी राज्यवाद हो, चाहे कम्युनिज्म हो, सारे एक 'ब्रैकेट' हैं। नाम भले ही भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन हैं सब एक वादी। उन्होंने सारी दुनियाको कस करके रखा है। कहीं भी मानव मुक्त नहीं है। उधर चीन तिब्बतको निगल गया, उधर रूसने चेकोस्लोवाकिया पर, अमेरिकाने वियतनामपर आक्रमण किया। यह हम अपनी आँखों देख रहे हैं। भिन्न-भिन्न नाम हैं, लेकिन उनका मुख्य आधार सेना है, शस्त्र है। उसमेंसे दुनियाको आप मुक्त करना चाहते हैं। यह बहुत बड़ी आकांक्षा है, लेकिन जमाना अनुकूल है। युगकी माँग है कि ऐसा करना हो तो आपको व्यापक परिमाणमें गाँवको खड़ा करना होगा। तो ये कागज, जिनपर ग्रामदानके हस्ताक्षर लिये जाते हैं, उनमेंसे आपके विचारोंकी बहुत बड़ी ताकत पैदा होगी। उसमें बहुत बड़ा 'पीस पोटेंशियल' है।

उसके बाद क्या ?

अब पूछ सकते हैं कि **'ततः किम्, ततः किम्, ततः किम् ?'** उसके बाद क्या ?

ग्रामदानके बादका हमने आदेश दे रखा है। सबसे पहले सर्वानुमतिसे ग्रामसभा बनाना, दूसरा, भूमिहीनोंको जमीन बाँटना, जिससे कि भूमिहीनोंको साक्षात् अनुभव हो जाय कि कुछ काम हो रहा है। ग्रामकोष बनाना और आमदनीका ४०वाँ हिस्सा गाँवके विकासके लिए ग्रामकोषमें देना। यह करनेके बाद यह सारा सरकारके पास भेजकर ग्रामदान मान्य करवाना। दूसरा कदम जो न्यूनतम माना है, वह है व्यसन-मुक्ति, पुलिस-मुक्ति और अदालत-मुक्ति। पुलिसको गाँवमें आना न पड़े, इसलिए हर गाँवमें शांति-सेना रहे। हर गाँवमें १० सर्वोदय-मित्र बनें और वे 'शांति-सेवक' माने जायँ। यह नहीं कि उनको दूसरे गाँवमें जाना पड़ेगा। लेकिन उस गाँवकी शांतिकी जिम्मेवारी उनकी रहेगी। अदालत-मुक्ति यानी गाँवका झगड़ा कचहरीमें न जाय, गाँवमें ही उसका फैसला हो, समाधान हो। उसके बाद, हफ्तेमें एक बार इकट्ठे होकर भगवान्‌की प्रार्थना करना और सर्वोदय-पत्रिकाका वाचन करना और गाँवके लोगोंको सुनाना। इसके लिए भी हमने एक योजना दी है। हर गाँवमें दस मित्र हों, जो हर साल ३ रु० ६५ पैसे दें। दस लोगोंको मिलाकर कुल ३६.५० रु० होगा। उसमेंसे रु० १२.५० का समाचार-पत्र उनको भेजा जाय। फिर २४ रुपयोंमेंसे ६ रुपये सर्व सेवा संघको दिये जायेंगे और १८ रु० गाँवमें रहें, जिसके आधारसे गाँवमें सेवाका काम करेंगे। तो यह जो ग्रामदानकी चिट्ठियाँ इकट्ठी की जायेंगी,

उनमेंसे ताकत पैदा होगी। आज जो वोट दिये जाते हैं, उनमेंसे यह ताकत पैदा नहीं होती।

इन दिनों वोट देनेमें लोगोंकी रुचि कम हुई है, इसलिए बहुतसे लोग वोट देने जाते नहीं। जैनेन्द्रजीने कहा कि "हमको वोट देनेका अधिकार है, तो वोट न देनेका भी अधिकार है। कुल लोग वोट देने ही न जायँ, ऐसा भी प्रसंग उपस्थित कर सकते हैं।" ऐसी बातोंसे सरकार डरती है, इसलिए वह सोच रही है कि जो वोट देने नहीं जायगा, उसके लिए जुर्माना रखा जाय।

सामूहिक शक्ति जगायें

एक मनुष्य जो काम कर सकता है, वह दूसरा नहीं कर सकता और दूसरा जो करता है, वह तीसरा नहीं कर सकता। इसलिए भगवान्‌ने अनेक मानव निर्माण किये हैं। अलग-अलग शक्ति और बुद्धि होती है और सब मिलकर पूर्ति होती है। इसलिए सब मिलकर काम करें तो आप देखेंगे कि इस वक्त भारतमें, सर्वोदय-जगत्‌में अत्यन्त उत्साह है। एक उत्साहकी लहर उठी है। जैसे कि वेदमें कहा है—"पृथ्वीको यहाँसे उठाऊँगा और वहाँ फेंक दूँगा।" ऐसा उत्साह, ऐसी बात बोलना मामूली बात नहीं है कि 'आठ करोड़का उत्तर प्रदेश एक सालमें ग्रामदानमें लायेंगे।' लेकिन ऐसे शब्द अब निकल रहे हैं। शब्दमें शक्ति होती है। 'क्विट इंडिया' (भारत छोड़ो) शब्दको लेकर भारतमें शक्ति खड़ी हुई। उसका असर आपने देखा। ऐसे शब्द जगह-जगह मिले हैं, जिन्होंने असर किया है। अब यह एक शब्द मिला है। सब लोग इसपर ताकत लगायेंगे तो शुभ परिणाम आयेगा। मनुष्य जब शुभ संकल्प करता है और सामूहिक शक्तिसे बाहरका संकल्प करता है तो ईश्वर उसे मदद देता है।*

---

* गत ८-१०-१९६८ को समन्वय आश्रम, बोधगयामें अखिल भारतीय राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ताओंके बीच किये गये प्रवचनसे।

परिशिष्ट

येलवाल ग्रामदान-परिषद्की संहिता

ता० २१-२२ सितम्बर १९५७ को येलवाल (मैसूर राज्य) में भारतके कुछ प्रमुख नेताओंकी एक परिषद् विनोबाजीकी उपस्थितिमें हुई। परिषद्ने सर्व-सम्मतिसे निम्न वक्तव्य स्वीकृत किया :

'सर्व सेवा संघके आमंत्रणपर मैसूर राज्यके येलवाल स्थानमें ता० २१-२२ सितंबर १९५७ को ग्रामदान-परिषद् हुई। राष्ट्रपतिने अपनी उपस्थितिसे परिषद्को गौरवान्वित किया। समस्त भारतके दूसरे ऐसे कुछ निमंत्रित व्यक्ति भी उपस्थित थे, जिनको इस आन्दोलनमें गहरी दिलचस्पी रही है।

'आचार्य विनोबाजीने बताया कि किस प्रकार उन्होंने सामाजिक, आर्थिक समस्याओं, विशेषतः भूमि-सम्बन्धी समस्याओंके समाधानके लिए अहिंसात्मक पद्धतिको अपनाया। इस आन्दोलनका प्रारम्भ भूमिदानसे हुआ और अब उसकी प्रगति ग्रामदानतक हुई है, जिसका अर्थ है, सारे गाँवकी जमीनका 'गाँव-समाज'-को दान। तीन हजारसे अधिक ग्राम ग्रामदानके रूपमें, वहाँके ग्रामवासियोंद्वारा गाँव-समाजको अपनी इच्छासे दिये जा चुके हैं। उन्होंने भूमिपरसे अपना निजी स्वामित्व विसर्जित कर दिया है।

'परिषद्में भाग लेनेवाले व्यक्तियोंने ग्रामदान-आन्दोलनका स्वागत किया और उसके बुनियादी उद्देश्योंकी बहुत तारीफ की। इन उद्देश्योंके कारण सहकारी जीवनकी ओर उस दिशामें किये जानेवाले प्रयत्नोंकी प्रगति होगी। इन गाँवोंकी आर्थिक स्थितिमें उन्नति होगी और जनताकी सर्वतोमुखी प्रगति और विकास होगा। इसके अलावा, सारे भारतमें भूमि-समस्याके हलके लिए तथा सहकारी जीवनके लिए अनुकूल मानसिक वातावरण तैयार होगा। इस आन्दोलनका आवश्यक लक्षण यह है कि उसका स्वरूप स्वेच्छाप्रेरित है और उसने अहिंसक प्रक्रियाको स्वीकार किया है। इस प्रकार (इस आन्दोलनमें) व्यावहारिक और आर्थिक लाभ तथा सहकार और स्वावलम्बनपर अधिष्ठित समाज-व्यवस्थाके विकासके साथ नैतिक दृष्टिका संयोग है। ऐसा आन्दोलन सब तरहकी सहायता और प्रोत्साहनका पात्र है।

'इस परिषद्में उपस्थित केन्द्रीय और राज्य-सरकारोंके सदस्योंने ग्रामदान-आन्दोलनकी प्रशंसा करते हुए उसे सहायता करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की और

बतलाया कि सम्बद्ध सरकारोंको अपनी भूमि-सुधार-सम्बन्धी योजनाओंकी, जैसे—जमीन-सम्बन्धी सारे मध्यस्थ स्वार्थोंका उन्मूलन, जोतकी निश्चित सीमाका निर्धारण तथा जनताकी सहमतिसे सहकारी आन्दोलनके सभी पहलुओंकी प्रगति करनी होगी। सरकारकी यह कार्य-दृष्टि ग्रामदान-आन्दोलनके विरोधमें नहीं है, बल्कि ग्रामदान-आन्दोलनसे उसको समर्थन मिलता है।

'यह भी बतलाया गया कि सरकारकी विकास-खण्ड-योजना और ग्रामदान-आन्दोलनके बीच घनिष्ठतम सहयोग वांछनीय है।

'परिषद् अपनी दो दिनोंकी बैठककी समाप्तिपर विनोबाजीके 'मिशन' और उनके अहिंसात्मक तथा सहकारी उपायोंसे राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओंके समाधानके प्रयत्नोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती है और भारतीय जनताके सभी वर्गोंसे इस आन्दोलनका उत्साहपूर्वक अनुमोदन करनेकी अपील करती है।'

येलवाल ग्रामदान-परिषद्में उपस्थिति

(१) डॉ० राजेन्द्रप्रसाद
(२) श्री जवाहरलाल नेहरू
(३) ,, गोविन्दवल्लभ पन्त
(४) ,, जयप्रकाश नारायण
(५) ,, उ० न० ढेबर
(६) ,, गुलजारीलाल नन्दा
(७) ,, मुरारजी देसाई
(८) ,, रं० रा० दिवाकर
(९) ,, प्यारेलाल नैयर
(१०) ,, श्रीमन्नारायण
(११) ,, य० ब० चह्वाण
(१२) श्रीमती सुचेता कृपालानी
(१३) श्री एस० के० डे
(१४) ,, प्राणलाल कापड़िया
(१५) ,, हरेकृष्ण मेहताब
(१६) ,, कामराज नाडार
(१७) ,, गंगाशरण सिंह
(१८) ,, जेड० ए० अहमद
(१९) ,, ई० एम० एस० नंबूद्रीपाद
(२०) ,, एस० निजलिंगप्पा
(२१) ,, भक्तवत्सलम्
(२२) ,, एस० चेन्नय्या

संहिता विनोबाकी दृष्टिमें

संहिताका द्विविध आशीर्वाद !

इस संहितामें दो शब्द हैं, जो हमारे लिए द्विविध आशीर्वाद हैं। इसमें लिखा है कि विनोबाने सामाजिक मसले हल करनेके लिए जो अहिंसात्मक और सहयोगी पद्धति अपनायी है, वह हमें मान्य है।

इस तरह उन्होंने हमारे काममें दो चीजें देखीं :

१. एक तो यह कि इसकी पद्धति अहिंसात्मक है, जो प्राचीन आशीर्वाद है,

२. फिर यह कहा, यह सहयोगी पद्धति है, सो यह आधुनिक आशीर्वाद है। इस तरहसे उन्होंने इस संहितामें ये दोनों आशीर्वाद इकट्ठे किये। इसका अर्थ क्या है, जरा समझ लीजिये।

अहिंसात्मक पद्धति और सहयोगी पद्धति, ऐसी दो पद्धतियाँ हमारे सर्वोदयके कार्यमें जुड़ जाती हैं। अहिंसात्मक पद्धति आत्माकी एकताके अनुभवपर आधार रखती है, अतः वह आध्यात्मिक विचार है और सहयोगी पद्धति विज्ञानपर आधार रखती है, अतः आध्यात्मिक और वैज्ञानिक, दोनोंका योग सर्वोदयमें हुआ है, इसकी पहचान नेताओंको हुई। हम समझते हैं कि साढ़े छह सालतक जो आन्दोलन चला, उसका सर्वोत्तम फल हमें इस परिषद्‌में मिला। हम यही कहते थे कि सर्वोदयका विचार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों मिलकर बनता है।

मैसूर, २५-९-'५७

ग्रामदान : प्रतिरक्षा साधन

–विनोबा

हम पंचवर्षीय योजनामें यह मानकर चले हैं कि दुनियामें शांति रहेगी। लेकिन अगर दुनियामें अशान्ति हुई, और भारतके ही नजदीक अशान्ति हुई, तो क्या होगा ? आजकी योजनाएँ अशान्तिके समय कुछ काम नहीं आ सकतीं। लड़ाई होनेपर आयात-निर्यातमें गड़बड़ी होगी और आपकी योजना ताशके महलकी तरह गिर जायगी। लेकिन हमारा ग्रामदानका जो विचार है, वह शान्तिके समयमें तो चलेगा ही, अशान्ति हो, तब भी चलेगा। इतना ही नहीं, अशान्तिके समय उसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि गाँवके लिए आवश्यक चीजें गाँवमें ही पैदा कर लेनी पड़ेंगी और गाँवमें ही रख लेनी पड़ेंगी। जिन्दा रहनेके लिए रोटी, लज्जा ढँकनेके लिए कपड़ा, बच्चोंके लिए दूध, बीमारोंके लिए दवा—इनके लिए हम दूसरोंपर निर्भर नहीं रह सकते। इन मुख्य चीजोंमें तो हर गाँव स्वावलंबी होना ही चाहिए।

देशकी रक्षा फौजसे नहीं हो सकती। गाँव-गाँवमें ही ग्रामकी रक्षा होनी चाहिए। शहर तो आर्थिक आक्रमणसे बच जायेंगे, लेकिन गाँवोंको आर्थिक आक्रमणसे सुरक्षा चाहिए। गाँवोंकी सुरक्षाका एकमात्र साधन ग्रामदान है, इसलिए मैं कहता हूँ कि 'ग्रामदान डिफेंस मेजर' है।

* येलवालकी ग्रामदान परिषद् में २१-९-'५७ को किये गये विनोबाके भाषणका छूटा हुआ अंश। [पृष्ठ २८ से आगे]